विकास

(प्रथम भाग)

लेखक

श्रीप्रतापनारायण श्रीवास्तव बी० ए०, एल्‌.एल्‌० बी०
(विदा, आशीर्वाद, पाप की ओर और विजय के यशस्वी लेखक)

——:०:——

मिलने का पता—
पटना-पब्लिशर्स
मछुआटोली
पटना

द्वितीयावृत्ति

सजिल्द २ii)]   सं० १९९८ वि०   [सादी २)

प्रकाशक
श्रीजवाहिरलाल
पटना-पब्लिशर्स
पटना

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ
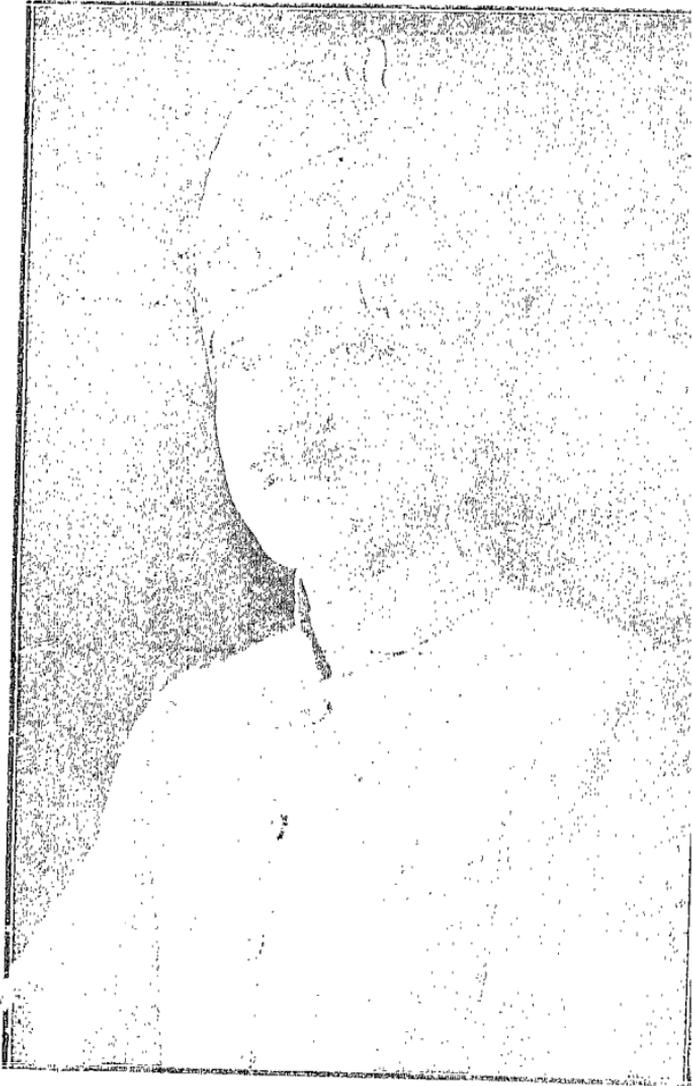
श्रीमान् दीवान बहादुर पं० धर्मनारायणजी साहब काक
बी० ए०, बार-एट-ला, सी० आई० ई०

श्रीमान् दीवान बहादुर

पंडित धर्मनारायणजी साहब काक

बी० ए०, बार-ऐट-ला, सी० आई० ई०

ठाकुर साहब ठिकाना जसनगर (मारवाड़)

सोनियाना (मेवाड़)

तथा

मुसाहिब आला उदयपुर-राज्य

के

कर-कमलों

में

सादर समर्पित

वक्तव्य

श्रीयुत प्रतापनारायणजी श्रीवास्तव हिंदी के प्रसिद्ध उपन्यास और कहानी-लेखक हैं। उनके लिखे हुए 'बिदा' और 'विजय'-नामक उपन्यास हिंदी की सुप्रसिद्ध गंगा-पुस्तकमाला में छप चुके हैं। 'विकास' उनका तीसरा मौलिक उपन्यास है। उपन्यास-जगत् में वह द्रुत गति से उन्नति कर रहे हैं। इससे मालूम होता है, वह बहुत शीघ्र ही इस क्षेत्र में ऊँचे-से-ऊँचा स्थान ग्रहण करेंगे। आज भी हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास-लेखकों में उनकी गिनती हो रही है। 'बिदा' और 'विजय' की तरह यह भी सामाजिक उपन्यास है। आशा है, हिंदी-भाषा-भाषी उन दोनो उपन्यासों की तरह इसे भी अपनाएँगे, जिसमें हम शीघ्र ही उनका कोई और उपन्यास लेकर आपके सम्मुख आएँ।

मछुआ टोली
पटना
२० । ६ । ४१

प्रकाशक

श्रीमान् पन्नालालजी श्रीमाल बी॰ ए॰, एल-एल॰ बी॰

प्रथम खंड

(१)

नीरव संध्या की श्यामल छाया घनीभूत होकर संसार को आच्छादित करने का उपक्रम करने लगी, और इधर जहाज़ बंगाल की खाड़ी के नील आकाश के नीचे, नीले रत्नाकर के प्रशस्त वक्ष पर संतरण करता हुआ ऊँघने का प्रयत्न करने लगा। माधवी की चेतना जगी, वह सिहरकर, चारो ओर देखकर अपनी स्थिति समझने की चेष्टा में निरत हुई। जहाज़ के स्पंदन ने मौन भाषा में कहा—"तुम अपने देश से दूर चली जा रही हो। तुम्हारा देश तुम्हारे ही लिये विदेश हो रहा है।"

माधवी व्याकुल दृष्टि से उस निविड़ अंधकार की ओर देखने लगी। वह एक आह के साथ अपना अतीत सोचने लगी। मनुष्य अतीत का पुजारी है। उसे अपना अतीत जीवन बहुत प्यारा होता है, और दुःख के अवसर पर अक्सर याद आया करता है। माधवी की स्मृति पुराने चित्र खींचने लगी—

जाह्नवी के तट पर कुंडलपुर नाम का एक गाँव ज़िला कानपुर में है। उस गाँव में मधुसूदन मिश्र की स्थिति किसी ज़माने में अच्छी थी, परंतु माधवी के जन्म-काल में वैसी अच्छी न रही थी। मधुसूदन मिश्र उन दिनों क़र्ज़ में डूबे हुए थे, और किसी तरह लस्टम-पस्टम अपनी ज़िंदगी बसर करते थे। उनके कई लड़के मर चुके थे, इससे उन्हें संतान की ओर से उदासीनता हो गई थी। परंतु जब उनकी स्त्री गिरिजा ने माधवी को प्रसव किया, तो उन्हें अपार आनंद हुआ, और विश्वास हुआ कि यह संतान जीवित रहेगी।

वह माधवी को बहुत प्यार करते और सदैव अपने पास रखते थे। हालाँकि उनकी स्त्री उन्हें ऐसा करने के लिये उनका यथेष्ट तिरस्कार करती थी, क्योंकि माधवी अपने भुवन-मोहन सौंदर्य के साथ उनकी ग़रीबी में आटा गीला करने के लिये तीन-चार हज़ार की डिग्री साथ लाई थी। वह थी उसके विवाह की चिंता। लेकिन मधुसूदन मिश्र इस ओर से निश्चित थे। वह हँसकर कहते—"माधू की परवा तुम मत करो। समय पर अपने आप सब हो जायगा। जिन्होंने द्रौपदी की लाज रक्खी थी, वह माधवी की भी रक्खेंगे।" उस समय माधवी कुछ समझती न थी, परंतु इस वक़्त उसे सब ज्ञान था। गिरिजा उस भोले ब्राह्मण के विश्वास पर मुस्किराकर अपने काम-काज में लग जाती। मधुसूदन माधवी को लेकर खेतों पर चले जाते।

माधवी गाँव की पाठशाला में पढ़ने जाने लगी। उसकी कुशाग्र बुद्धि ने समस्त गाँववालों को चकित कर दिया था। उसकी प्रशंसा के गीत चारो ओर गाए जाने लगे, और उन्हें बढ़ाकर कहनेवालों में पंडित मधुसूदन का स्थान सबसे प्रथम था। माधवी को स्कूल तक ले जाने और वापस लिवा लाने का भार स्वयं मधुसूदन ने अपने ऊपर लिया था, और वह उसका बड़ी सतर्कता से पालन करते थे। रास्ते में माधवी के संबंध में कोई बात पूछने से वह उसकी तारीफ़ के पुल बाँधने लगते। यहाँ तक कि सुननेवाला ऊबकर भागने का प्रयत्न करता।

माधवी हिंदी-मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण हो गई। कुंडलपुर में इतना ही पढ़ने का साधन था। माधवी की मा गिरिजा सदा अनेक बाधाएँ उपस्थित करती रहती, परंतु पंडित मधुसूदन भी अपनी ज़िद के पक्के थे। उन्होंने गिरिजा की बातों पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। माधवी भी पिता का आश्रय पाकर मा की बिलकुल परवा

न करती थी। परंतु हिंदी-मिडिल पास करने के बाद गिरिजा ने अपना संपूर्ण बल लगाकर उसका घर के बाहर निकलने का मार्ग बंद कर दिया। पंडित मधुसूदन भी उसके विवाह का आयोजन करने लगे।

पंडित मधुसूदन की आर्थिक दशा कुछ सुधरी थी, मगर ऐसी न थी कि चार-पाँच हज़ार रुपए लगाकर उसका विवाह करते। उनकी एकांत कामना थी कि वह अपनी प्यार की माधवी का विवाह किसी संपन्न घर में करें, जहाँ उसके जीवन का विकास पूर्ण रूप से हो। उन्होंने आस-पास के सब शहरों की धूल छान डाली, लेकिन मन के लायक़ पात्र कहीं नहीं मिला।

एक दिन वह बरेली से लौट रहे थे कि अचानक उनकी गाड़ी एक दूसरी गाड़ी से लड़ गई, और वह माधवी के विवाह का अरमान लेकर इस संसार से प्रस्थान कर गए! माधवी की मा गिरिजा की आँखों के सामने अंधकार छा गया, और विधाता का क्रूर परिहास वृश्चिक-दंशन से भी अधिक त्रास-जनक हो गया।

विधवा गिरिजा की मुसीबतों में कोई हाथ बटाने के लिये तैयार नहीं हुआ। गाँव की बूढ़ी औरतों ने इस विपद् का कारण माधवी और उसकी शिक्षा को बताकर उस दुखी परिवार के साथ सहानुभूति प्रदर्शित की। गिरिजा उसे सुनकर और रोने लगती। धीरे-धीरे वह माधवी की ओर से विरक्त होने लगी। परंतु उसके कौमार्य ने उसे निश्चिंत होकर बैठने नहीं दिया। वह यथाशीघ्र माधवी का हाथ पीला करने का आयोजन करने लगी। परंतु अभागिनी माधवी को कोई भी अपने घर लाने के लिये तैयार न होता था। क्योंकि गाँववालों ने उसे अमंगल का रूप पहले ही घोषित कर रक्खा था, और वे ज़रा-सा अवसर मिलने पर उसकी भावी ससुरालवालों पर विपद् पड़ने की भविष्य-वाणी करने से न चूकते थे। ज्यों-ज्यों माधवी के विवाह में देर होती, त्यों-त्यों गिरिजा माधवी की ओर से विरक्त होती जाती।

कुंडलपुर से दस कोस पर रूसोहा गाँव कानपुर-शहर के बिलकुल पास ही आबाद है। वहाँ के पंडित मन्नूलाल शुक्ल अपना पाँचवाँ विवाह करने के लिये उत्सुक थे। उनकी आयु लगभग सत्तर साल के थी, परंतु वह अब भी अपने को नवयुवक समझते थे। पैसा भी पास था, जिससे ख़ुशामदियों की कमी न थी। संतान भी कोई न थी। तीन पुश्त के भाई-भतीजे थे, मगर उनसे इतना वैमनस्य था कि वे एक दूसरे के ख़ून के प्यासे थे। ख़ुशामदियों ने पंडित मन्नूलाल को विवाह करने की सलाह दी, और उनमें से एक ने माधवी के साथ उनका संबंध स्थिर भी कर दिया। गिरिजा को आश्वासन मिला, और उसने वह संबंध आँखें बंद कर स्वीकार कर लिया। माधवी ने अपने भावी पति का हाल जानकर वेदना-भरी आँखों से नीरव आकाश की ओर देखा, और गिरिजा ने जी खोलकर उस परोपकारी बंधु को, जिसने यह विवाह स्थिर कराया था, आशीर्वाद दिया।

गिरिजा ने यथाशीघ्र माधवी का विवाह पंडित मन्नूलाल से कर दिया। गाँववालों की भविष्य-वाणी सत्य हुई। जैसे ही माधवी अपनी ससुराल पहुँची, उसके दो दिन बाद वह विधवा हो गई। पंडित मन्नूलाल दमे से बीमार थे ही। विवाह में बदपरहेज़ी बहुत हुई, और घर पहुँचते-पहुँचते वह भयानक रूप से बीमार हो गए। यहाँ तक कि उन्होंने माधवी को अच्छी तरह देखा भी नहीं, और काल-कवलित हो गए। उस दिन माधवी को सचमुच विश्वास हुआ कि वह अभागिनी है।

पंडित मन्नूलाल अपनी संपत्ति की कोई व्यवस्था न कर गए थे। उनकी जायदाद के वारिस उनकी तीन पुश्त के भाई-भतीजे, जो उनके घातक शत्रु थे, हुए, और उन्होंने माधवी को घर से बाहर निकाल दिया। माधवी अपनी मा के पास लौट आई।

सुहाग लेकर वह कुंडलपुर से गई थी, और उसे हमेशा के लिये खोकर वापस आई। गिरिजा को भी विश्वास हो गया कि वह अमंगल-रूप है, परंतु उसे माधवी को स्थान देना ही पड़ा।

माधवी के दिन ज्यों-त्यों व्यतीत होने लगे। उसका घाव धीरे-धीरे भरने लगा, और यौवन का वेग उतावलेपन के साथ उमड़कर उसे व्यथित करने लगा। उसकी आँखों के सामने संसार नवीन-नवीन रूप लेकर उसे आकर्षित करने लगा, परंतु गिरिजा की कठोर चौकसी ने उसके पतन का मार्ग अवरुद्ध कर दिया था। वह लालसा से युद्ध करना सीखने लगी, और आत्मदमन का पाठ पढ़ने लगी।

माधवी उस दिन पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो गई, जिस दिन उसकी मा भी पति और पुत्री के शोक में पागल होकर मर गई। पंडित मधुसूदन की ज़मीन पर उनके महाजनों का क़ब्ज़ा पहले ही हो चुका था, और अब गिरिजा के मर जाने से उसका घर भी छिन गया। एक अँधेरी रात को माधवी गाँव के गुंडों से अपनी रक्षा करने के लिये अपनी जन्म-भूमि छोड़कर भाग निकली। उसकी आयु इस समय उन्नीस वर्ष की थी, परंतु कुटिल, कुचक्री संसार से वह पूर्ण अनभिज्ञ थी।

वह जब अपने गाँव से कई कोस दूर के स्टेशन पर खड़ी होकर कानपुर का टिकट ले रही थी, तब एक प्रौढ़ पुरुष ने उसकी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखा। उसका सौंदर्य देखकर वह अप्रतिभ रह गया। उसने ममता-पूर्ण स्वर में उसका परिचय पूछा, और सब हाल सुनकर उसे आश्रय और काम-काज दिला देने का पूर्ण आश्वासन दिया। माधवी ने उसका कथन सत्य समझा, और उसके साथ चलने को राज़ी हो गई। उस प्रौढ़ व्यक्ति के साथ दो स्त्रियाँ और थीं, जो उससे वयस में अधिक थीं, और किसी हद तक सुंदर भी। थोड़ी ही देर में उन स्त्रियों से उसका ख़ासा मेल हो

गया। वह अनजान सारिका की भाँति उनसे बातें करने लगी, और विधाता की क्रूर मुस्किराहट हँसी में परिणत होने लगी।

माधवी कानपुर में आकर एक अच्छे, दोमंज़िले मकान में, उन्हीं स्त्रियों के साथ, ठहराई गई। यहाँ कई और स्त्रियाँ थीं, जो सब-की-सब एक दूसरे से अधिक चपल थीं। उनके हास-परिहास में अश्लीलता की मात्रा अधिक थी, और वे एक दूसरे को अकथ्य कहने में ज़रा भी संकुचित न होती थीं। माधवी उस वायु-मंडल में आकर एक अजीब क़िस्म की घबराहट से दुखी रहने लगी। परंतु उनमें से एक स्त्री ने ,जिसका नाम राधा था, एकांत में ले जाकर उसे सांत्वना दी, और उस मकान का भेद बतलाया। उसने कहा—"यह मकान 'डीपोवालों' का है, जो मज़दूरी के लिये काले पानी भेजे जाते हैं। यहाँ सतीत्व का नाम है पाप, और व्यभिचार का नाम है पुण्य! यहाँ से निकलना कठिन ही नहीं, बिलकुल असंभव है। डीपोवाले रात को शराब पीकर ख़ूब व्यभिचार करते हैं, और जो स्त्री उन्हें अधिक प्रसन्न कर सकती है, उसके लिये काले पानी में अच्छी मज़दूरी की सिफ़ारिश करते हैं।" माधवी सुनकर रोने लगी। राधा ने उसे सांत्वना दी, और उसकी यथा-साध्य रक्षा करने की प्रतिज्ञा की।

माधवी की सहायता भाग्य ने भी की। उसी दिन दोपहर को कलकत्ते से तार आया, जिसमें सब स्त्रियों को तुरंत भेज देने की आज्ञा थी। डीपोवाले उस हुक्म की अवहेलना नहीं कर सकते थे। दोपहर के मेल से उन्हें रवाना होना पड़ा। उन लोगों ने माधवी को ले जाने से इनकार किया, परंतु डीपोवाले अँगरेज़ ने उसे रोकना उचित नहीं समझा, क्योंकि उसके दाम ज़्यादा मिलते, इसलिये कि वह अतीव सुंदरी थी। जिस समय माधवी स्टेशन पर आकर गाड़ी में सवार हुई, उसे कुछ शांति मिली, और वह

चिपककर राधा के पास बैठ गई। राधा कुछ ममता और कुछ दया से उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगी। डीपोवालों की लुब्ध आँखें उसे देखकर क्षुब्ध होने लगीं।

दूसरे दिन प्रातःकाल वे लोग कलकत्ते पहुँचे। माधवी ने राधा का साथ न छोड़ा, हालाँकि डीपोवालों ने किसी हद तक कोशिश भी की। मकान पर पहुँचते ही उन्हें एक अँगरेज़ के सामने बारी-बारी से जाना पड़ा, और एक काग़ज़ पर अँगूठे का निशान देकर वे बाहर आने लगीं। वह काग़ज़ था उनकी गुलामी का दस्तावेज़, जिस पर उन्होंने अपनी ग़ुलामी की क़बूलियत को अपने अँगूठे का निशान देकर बिलकुल मज़बूत कर दिया था। माधवी ने भी इस ग़ुलामी के दस्तावेज़ पर अपने अँगूठे का निशान कर दिया।

उसी दिन शाम को वह जहाज़ पर बैठा दी गई। राधा ने उसका साथ अब भी नहीं छोड़ा था, और वह भी उसके साथ किसी अनजान प्रदेश को, जिसे लोग 'कालापानी' के नाम से पुकारते हैं, चल दी।

उस दिन शाम को जहाज़ पर बैठी हुई माधवी यही सब सोच रही थी। आदि जीवन से लेकर अब तक की कुल घटनाएँ, एक के बाद एक, उसके मानस-पटल पर आकर, अपनी-अपनी छटा दिखाकर अंतर्हित हो गईं।

इसी समय राधा ने आकर कहा—"क्यों, क्या यों ही बैठी रहोगी, उठोगी नहीं?"

माधवी ने चौंककर कहा—"नहीं बहन, उठूँगी क्यों नहीं।"

माधवी के स्वर में वेदना का तीव्र आभास था।

राधा ने उसके पास बैठकर कहा—"अरी पगली, अब भी रोती है। मैंने तुझे समझा दिया है कि तू यहाँ निरापद् है। जहाज़ में कोई डर नहीं, और आगे भी चलकर कुछ नहीं। डर

तो सिर्फ़ कलकत्ते तक था, जब तक वे पिशाच 'डीपोवाले' साथ थे। फ़िज़ूल रो-रोकर क्यों अपना जी ख़राब करती हो। जो कुछ भाग्य में है, वह देखना और सहना ही पड़ेगा। धीरज से काम लो।"

राधा स्नेह के साथ माधवी की पीठ पर हाथ फेरने लगी।

राधा के उस स्नेह-स्पर्श ने माधवी की आँखों का प्रवाह खोल दिया। वह आवेश के साथ उसके हृदय से लिपट गई, और ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। राधा ने उसे अपनी छाती से लगा लिया। उसकी भी आँखों से आँसू निकलने लगे। एक की वेदना दूसरे के लिये भी रोने का मार्ग खोल देती है। आँसू सहानुभूति के सह-चर हैं।

और, इधर जहाज़ उस निविड़ कालिमा के गर्भ में प्रवेश करने लगा, उसी तरह, जैसे कोई नशे से बेहोश आदमी शहर की अँधेरी गली में लड़खड़ाता हुआ चलता है। समुद्र की ऊँची-ऊँची लहरें जहाज़ को अपनी उँगलियों पर नचाती हुई सुदूर चंद्रमा का परिहास करने लगीं।

---

(२)

डीपोवाला जहाज़ बहुत बड़ा न था, औसत दर्जे का मामूली जहाज़ था। वह मंथर गति से दक्षिण दिशा की ओर अग्रसर हो रहा था। माधवी कुछ थोड़ा-सा भोजन कर उठ रही थी कि एक घबराई हुई स्त्री, जो गुलाब के नाम से प्रसिद्ध थी, दौड़ती हुई आई, और राधा से कहा—"राधा, कप्तान कहता है, तूफ़ान आ रहा है, इसलिये सब लोग अपने-अपने कमरों में बैठ जाओ, नहीं तो समुद्र में गिर पड़ोगी। क्यों राधा, अब तो हम लोग नहीं बचेंगे?"

गुलाब के स्वर में भय का आभास था।

राधा ने डेक पर आकर आकाश की ओर देखते हुए कहा—"मालूम तो कुछ ऐसा ही होता है। दूर दक्षिण में बिजली चमक रही है।"

माधवी ने मुग्ध दृष्टि से देखते हुए कहा—"आह! अगर यह तूफ़ान हम लोगों का अंत कर दे, तो कैसा अच्छा हो! जीवन की आपदाएँ एक ही क्षण में डूब जायँ।"

राधा ने सप्रेम एक हलकी चपत लगाते हुए कहा—"चुप, पगली। अभी हुआ ही क्या है, जो इतना घबरा गई। क्या यह फूल का-सा रूप भगवान् ने इस प्रकार नष्ट होने के लिये बनाया है?"

गुलाब एक आँख बंद कर, माधवी की ओर देखकर मुस्किराई। उसने धीमे स्वर में कहा—"अभी अल्हड़पन है। पहलेपहल ऐसा ही होता है बहन!"

राधा ने गुलाब के पैर को अपने पैर से दबाते हुए कहा—"कभी हम लोगों में भी अल्हड़पन रहा होगा।"

गुलाब संकेत पाकर चुप हो गई। वह माधवी की ओर हास्यमयी दृष्टि से देखने लगी। तूफ़ान का ज़ोर धीरे-धीरे बढ़ रहा था। प्रकृति, जो अभी तक नीरव और निस्पंद थी, अब धीरे-धीरे उद्वेलित हो रही थी। लहरें जो अभी तक चंद्रमा की रश्मियों से क्रीड़ा कर रही थीं, उसके बादलों की ओट में छिप जाने से विरह में सुध-बुध खोकर उन्मत्त की भाँति उसके पास तक पहुँचने का पूर्ण प्रयत्न कर रही थीं। उनकी इस कोशिश में अभागा डीपोवाला जहाज़ इस तरह डगमग कर अपनी जान बचा रहा था, जैसे दो मतवाले हाथियों की लड़ाई में कोई हथवान बचाता है। काले-काले बादल, जो अभी तक दक्षिण दिशा के अंतरिक्ष में थे, स्याह लबादा-पोश सैनिकों की पलटन की तरह मुश्की घोड़ों पर सवार वायु-वेग से उत्तर दिशा के प्रकाश को परास्त करने और उस पर अपना आधिपत्य क़ायम करने के लिये बढ़ते चले आ रहे थे। उनके आगमन की सूचना आँधी के झोंके कानों के समीप अपनी सन-सनाहट से देते हुए सुदूर पृथ्वी के वृक्षों को जड़ से उन्मूल करने के लिये सवेग ला रहे थे। शरीर पर की रोमावलि पहले एक अजीब आनंद अनुभव करने के लिये उठ खड़ी हुई थी, परंतु थोड़ी ही देर में तृप्त हो गई, और फिर बदन में कँपकँपी पैदा करने लगी। बिजली एक तीव्र, लपलपाती हुई तलवार की तरह चमक-चमककर संसार को त्रस्त करने लगी।

जहाज़ काँप रहा था, और उसके आरोही भी काँप रहे थे। रत्नाकर, जो अभी तक शांत था, वायु के विद्रोह से प्रभावित होकर स्वयं युद्ध के लिये तैयार हो गया। वह गरज-गरजकर आकाश और दिशाओं को विकंपित करने लगा। उसकी भयंकर हुंकार ने इतना भय उत्पन्न किया कि उसके जीव त्रस्त होकर पाताल-मार्ग के गह्वरों में प्रवेश करने लगे, और दामिनी कौंध-कौंधकर

'सर्चलाइट' (युद्ध-काल में शत्रुओं की गति निरखने के लिये तेज़ विद्युत्-प्रकाश) की भाँति उन भयाकुल जीवों का पलायन दिखाने लगी। वे जलचर लहरों की खाइयों की ओट में भागने का निष्फल प्रयत्न करने लगे, और क्षुब्ध, मंडलीकृत भँवरों के कुचक्र में फँस-कर तांडव-नृत्य करते हुए सागर के अंतस्तल में छिपी हुई चट्टानों से टकरा-टकराकर अपने प्राण विसर्जन करने लगे। प्रकृति रौद्र रूप होकर सबको भक्षण करने में लीन हो गई। वह क्षुद्र जलयान भी निरुद्देश होकर इधर-उधर शराबियों की भाँति लड़खड़ाने लगा। आरोहियों का हृदय सिहिर उठा। वे बदहवास होकर आकाश की ओर देखने लगे। आकाश घोर कृष्ण वर्ण का था। अब पानी की बूँदें भी पड़ने लगी थीं, जैसे युद्ध-काल में वायुयानों से मशीनगन द्वारा गोलियों की वर्षा होती है। वे जल की बूँदें जब आरोहियों के मुँह और हाथों पर पड़तीं, तो एक क्षुद्र कंपन पैदा करतीं—फिर भय का आवेश कुछ और तीव्र हो जाता। वे भागने का प्रयत्न करते, परंतु डगमगाता हुआ जहाज़ उनको पग-पग पर झिझकोरकर भागने में असमर्थ कर देता। वे मूक तथा हतचेत होकर एक दूसरे का मुख देखने लगते। भयंकर निराशा की काली ज्योति उनके नेत्रों से निकलकर दूसरों के हृदय में डर पैदा कर रही थी।

उस डीपोवाले जहाज़ का एक कप्तान था। वही उसका मालिक भी था। उसका नाम था एडमंड हिक्स। वह अधगोरा ईसाई था, जिसका पिता भारतीय था, और माता अँगरेज़। एडमंड हिक्स कई वर्षों से इस ग़ुलामी के व्यापार में एक उत्साही हिस्सेदार था। उसने हज़ारों रुपए कमाए थे, और फिर भी उसके पास एक पैसा न था। वह संसार का एक रँगीला जीव था। हज़ारों ग़ुलाम स्त्रियों का मान भंग किया था, इसलिये निरंकुश भी था, व्यभिचारी भी था, और बुज़दिल भी था। वह छ फ़ीट लंबा, गठीले बदन का

जवान था, जिसे समुद्री जल-वायु ने कुछ कठोर, कुछ शुष्क, कुछ नीरस, कुछ संग-दिल, कुछ ममत्व-हीन और कुछ अमानुषिक बना दिया था। उसने विवाह नहीं किया था, और न उसकी इच्छा कभी जागरित ही हुई थी। उसके केश लाल भूरे रंग के थे, जैसे पान की पीक से रँगे हुए हों, और जिनसे लखनवी काले ज़र्दे की श्यामली आभा निखरी पड़ती हो। वे घुँघराले थे। उसका मस्तक कुछ चौड़ा था, और आँखें बड़ी-बड़ी थीं, जो चारो ओर मोटी भौंहों से घिरी हुई थीं, और मोटी-मोटी पलकों से सुरक्षित थीं। उसकी आँख की पुतली कुछ काली और कुछ नील-वर्ण की थी। उसका सिर छोटा और गोल था। उसके मस्तक पर दाहने कान के पास एक लंबा दाग़ था, जो किसी फोड़े के चीरे जाने से हुआ मालूम होता था, और आँखों के नीचे, दाहने गाल पर, एक छोटा-सा काला मसा था। उसके हाथ-पैर बलिष्ठ और गठीले थे। वह सदैव कर्ज़न-फ़ैशन में रहता था, जिससे आयु का ठीक-ठीक पता चलना मुश्किल था। उसका कंठ-शब्द गंभीर और कुछ तीव्र था, जिससे रोबीला होने का आभास मिलता था। जन्म से तो वह ईसाई था, मगर उसका कोई धर्म नहीं था। खाना, पीना और ऐश करना, यही उसके जीवन का मूल-मंत्र था।

जहाज़ अपनी विपरीत परिस्थितियों से भयानक युद्ध कर रहा था। एडमंड हिक्स का हृदय काँप रहा था। उसने आज के पहले ऐसे तूफ़ान का न तो मुक़ाबला किया था, और न कभी उसे देखने का ही मौक़ा मिला था। उसका रोम-रोम विह्वलता से खड़ा होकर गरजते हुए आकाश की ओर भय से देख रहा था। पवन का वेग उसके कमरे को भी हिला रहा था, उसके अंदर भी उसकी क्रुद्ध फुफकार सुनाई पड़ती थी। चारो ओर कालिमा-ही-कालिमा छाई थी। दिशा का ज्ञान वह भूल-सा गया था। वायु

के बवंडर जहाज़ को समुद्र-तल पर टेनिस के मैदान में खिलाड़ियों से प्रताड़ित गेंद की तरह इधर-उधर नचा रहे थे। एंजिन के पुर्ज़े कभी के टूट चुके थे, और उन्होंने अपना काम छोड़कर विश्राम लेना आरंभ किया था। वायरलेस-यंत्र बेकार-सा हो गया था। वायु की तरंगें उस तूफ़ान के सीमित क्षेत्र में ही टकराकर रह जाती थीं, आगे बढ़ती ही न थीं। कहीं से भी कोई उत्तर न आता था, और ऑपरेटर भी झुँझलाकर सारा उद्योग समाप्त कर चुका था।

एडमंड हिक्स अपने कमरे में खड़ा था। उसका पैर सीधा पड़ता ही न था। उसने किसी तरह अपनी अलमारी खोली, और तेज़ ह्विस्की की बोतल निकालकर मुग्ध नेत्रों से उसकी ओर देखने लगा। बोतल अभी तक खुली न थी। उसने धीरे-धीरे उसकी मुहर तोड़ी, और उसे अपने मुँह से लगा लिया। थोड़ी देर में ख़ाली कर दूसरी निकाली, और उसे भी उदरस्थ कर लिया। यह तूफ़ान से लड़ने की तैयारी थी। थोड़ी देर में स्फूर्ति उसकी नसों में दौड़ने लगी। उसका चेहरा लाल होने लगा, और सिर भी गर्म हो उठा। उसके हृदय का भय निकल गया, वह सचमुच एक नौजवान—जोशीले जवान की भाँति रणस्थल में लड़ने के लिये निकल पड़ा। उन्मत्त तूफ़ान अब उसके लिये केवल साधारण आँधी थी, समुद्र का गर्जन केवल दैनिक व्यापार-जैसा था, मूसलधार वर्षा कुछ थोड़ी-सी बूँदों की बौछार थी, बिजली की चकाचौंध चमक सिर्फ़ बादलों के विनोद के मैगनीशियम के तार के प्रकाश की भाँति कौतूहल की वस्तु थी, और घनघोर घटाओं की कड़कड़ाहट तो उसके विद्रूप हास्य की प्रतिध्वनि-मात्र थी। मदिरा के आवेश ने उसे इस समय एक वीर सैनिक बना दिया था। वह तूफ़ान से लड़ने के लिये आकुल हो उठा। उसने एक बड़ा-सा लबादा अपने बदन पर डाला, और अपने कमरे से बाहर निकलने के लिये दरवाज़ा खोला। दरवाज़ा

खोलते ही बिजली चमकी, और वायु के साथ-साथ बूँदें भी उसके कमरे में घुस पड़ीं। और, कमरे के अंदर गिर पड़ी एक बेहोश स्त्री, जो अभी तक उसी के सहारे खड़ी थी। कप्तान एडमंड हिक्स चौंका, और दो क़दम भय से पीछे हट गया। वायु के झोंके भीतर आकर उस पर अपना प्रभाव जमाने लगे। उसने दूसरे ही क्षण उस बेहोश स्त्री को कमरे के अंदर खींचकर दरवाज़ा बंद कर दिया। बाहर तूफ़ान गरजता ही रह गया।

---

(३)

एडमंड हिक्स ने उस स्त्री की ओर देखा, और पहचाना। यह तो वही नवयौवना है, जिसे वह आज दिन में देखकर अपना शिकार निश्चित कर चुका था। इसे भारत में रखने के लिये आज सुबह डीपोवाला वसंतलाल दो हज़ार रुपया उसे देने को तैयार था, और न-मालूम उसने कितनी अनुनय-विनय की थी। परंतु उसने उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था। क्योंकि उसने उसे अपनी अंकशायिनी बनाने का पूर्ण संकल्प कर लिया था। वह अभागिनी माधवी थी।

मनुष्य रूप का पुजारी है—सृष्टि के आदि से रहा है, और अंत तक रहेगा। स्त्री और पुरुष, दोनो रूप की कामना करते हैं; परंतु इस सृष्टि में यही रूप मनुष्य का शत्रु हो जाता है। माधवी इस धरातल पर सौंदर्य लेकर अवतीर्ण हुई थी। कभी वह अपना रूप निरखकर स्वयं गद्गद हो उठती थी, परंतु आज कई दिनों से संसार की सबसे भयानक कुरूपता पाने के लिये लालायित थी, क्योंकि वही रूप इसका सबसे निष्ठुर शत्रु और घातक सिद्ध हुआ था।

बेहोश माधवी का रूप मदोन्मत्त एडमंड हिक्स के नेत्रों में चकाचौंध उत्पन्न करने लगा। उसका सिर मदिरा के आवेश से घूमने लगा।

एडमंड हिक्स ने उस रूप-राशि को उठाकर अपने पलँग पर लिटा दिया, और उसे गर्म कपड़ों से ढक दिया। अलमारी खोलकर उसने ब्रांडी की बोतल निकाली, और उसकी कुछ बूँदें उसके मुँह में डाल दीं। ब्रांडी कंठ से नीचे उतरकर ऊष्मा पैदा करने लगी।

थोड़ी देर बाद माधवी ने अपने नेत्र खोल दिए। एडमंड हिक्स की आँखें आवेश से चमक उठीं। उसका शैतान, जो अभी तक मौन था, खिलखिलाकर हँस पड़ा। उसने पूछा—"अब कैसी तबियत है?"

माधवी अभी पूर्ण रूप से होश में नहीं आई थी। उसने कोई उत्तर न दिया।

एडमंड हिक्स ने शराब का गिलास उसके मुँह से लगाते हुए कहा—"इसे पी जाओ। इसके पीने से तुम्हारा डर और सरदी, दोनो दूर हो जायँगे।"

ब्रांडी की तेज़ गंध ने माधवी को सचेत कर दिया। वह सोचने लगी, वह कहाँ है। उसे याद आया कि तूफ़ान आने के पेश्तर वह राधा और गुलाब से बातें कर रही थी। राधा किसी कार्य-वश अपने कमरे में चली गई। गुलाब ने उससे अपने कमरे में चलने को कहा। वह उस ओर उसके साथ चली। गुलाब उसे घुमाती हुई ऊपर के खंड में ले गई, और उससे कहा—"मैं तुम्हें कप्तान के पास लिए जाती हूँ, जो तुम पर मुग्ध है।" यह सुनकर वह घबराई, और उसे छोड़कर भागने लगी। गुलाब उसकी घबराहट देखकर भयंकर रूप से हँस पड़ी, और दूसरे ही क्षण उसे पकड़ लिया। वह छूटने का उपाय करने लगी, और दोनो में झगड़ा होने लगा। गुलाब ने उसे कप्तान के कमरे की ओर ढकेलते हुए कहा—"ये नख़रे मुझे अच्छे नहीं लगते। कप्तान के पास जाओगी, तो बड़े चैन से दिन बीतेंगे।" उसका सिर कप्तान के कमरे की दीवार से लगा, और दूसरे ही क्षण वह बेहोश हो गई। माधवी ने अनुमान किया कि यही पुरुष शायद कप्तान है। उसने तीक्ष्ण दृष्टि से कप्तान की ओर देखकर पूछा—"क्या कप्तान आप ही हैं?"

एडमंड हिक्स ने प्रसन्न होकर कहा—"हाँ, इस जहाज़ का मैं ही कप्तान हूँ। यह दवा पी लो, फिर हम लोग बातें करेंगे।"

कप्तान एडमंड हिक्स का शैतान अस्थिर होकर माधवी की ओर देखने लगा।

माधवी ने गिलास दूर फेंककर उठते हुए कहा—"मैं ब्राह्मण हूँ, शराब नहीं पीती। मेरा धर्म नष्ट न करो।"

एडमंड हिक्स धर्म का नाम सुनकर हँस पड़ा। उसकी हँसी की प्रतिध्वनि ने माधवी को चौंका दिया।

एडमंड हिक्स ने कहा—"तुम्हारा ब्राह्मणी धर्म अब नहीं चलने का। तुम अब ग़ुलाम हो, और मेरे क़ब्ज़े में हो। इस वक़्त मैं तुम्हारा स्वामी हूँ। तुम्हें मेरा हुक्म मानना पड़ेगा।"

माधवी भीत दृष्टि से कप्तान की ओर देखने लगी।

कप्तान ने दुबारा शराब का गिलास देते हुए कहा—"तुम्हें यह पीना पड़ेगा, और अगर तुम सीधी तरह न पिओगी, तो मुझे ज़बर-दस्ती पिलाना पड़ेगा। इस जहाज़ में तुम्हारी सहायता करनेवाला मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं।"

माधवी का हृदय काँपने लगा। सत्य ही इस तूफ़ान की रात्रि में उसकी सहायता करनेवाला कोई दूसरा नहीं।

एडमंड ने वह शराब का गिलास उसके पास बढ़ा दिया। माधवी ने साहस करके उसे अपने से दूर करते हुए कहा—"मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ, मेरा धर्म मत लो। तुम मेरे बाप के बराबर हो, मेरी रक्षा करो।"

नशे में चूर एडमंड बड़े वेग से हँस पड़ा। उसके कंठ की कर्कशता बाहर के तूफ़ान का मुक़ाबला करने लगी। माधवी पलँग से उतर-कर नीचे खड़ी हो गई, लेकिन काँपता हुआ जहाज़ उसे खड़ा नहीं रख सका। वह नीचे गिर पड़ी। कप्तान उसे उठाने के लिये आगे बढ़ा। माधवी अपने को उसके पाश से छुड़ाने के लिये छटपटाने लगी। एडमंड मतवाले की भाँति उसे अपने हृदय से लगाने का

प्रयत्न करने लगा। उसका शैतान उन्मत्त पहलवान की तरह उस कमज़ोर माधवी से युद्ध करने लगा।

इसी समय वायु में उड़ता हुआ जहाज़ बड़ी ज़ोर से किसी चट्टान से टकराया। यह धक्का भयंकर भूकंप से भी अधिक बलशाली था। माधवी कप्तान के हाथों से छूटकर दूर गिर पड़ी। उसका सिर फट गया, और रक्त की धार बह चली। कप्तान भी दूर गिरा, और उसका सिर दीवार से टकराया। जहाज़ के सब आरोही चिल्ला उठे, जिनके स्वर ने तूफ़ान के रव को भी किंचित् काल के लिये डुबा दिया। जहाज़ का पेंदा फट गया था, और पानी बड़े वेग से उसमें भर रहा था। सबको अपनी-अपनी जान बचाने की पड़ गई। मल्लाह तो 'लाइफ़-बेल्ट' पहने पहले से तैयार थे। वे नावें खोलने लगे।

एडमंड हिक्स माधवी को उसी अवस्था में छोड़कर कमरे के बाहर आया। तूफ़ान का वेग घटने के बजाय और बढ़ गया था। उसने चिल्लाकर कुछ हुक्म दिया, परंतु हँसती हुई वायु ने उसे अपने उदर में रख लिया। वह एंजिन-घर की ओर भागा। मैगाफ़ोन से उसने तीव्र कंठ में आदेश दिया। दो-एक मल्लाह उसके पास आए। उनसे मालूम हुआ कि जहाज़ चंद मिनटों में डूबनेवाला है। उसने नावें खोलने का हुक्म दिया। बात-की-बात में डरे हुए आदमियों से नावें भर गईं, और उनमें तिल-मात्र जगह न रही। जहाज़ क़रीब-क़रीब ख़ाली हो गया। अब केवल पाँच मनुष्य शेष रहे। एक कप्तान, दूसरी माधवी, दो मल्लाह और माधवी को चारो ओर ढूँढती हुई राधा।

जहाज़ में एक छोटी-सी नाव और थी। कप्तान ने उसे लाने का आदेश दिया, और स्वयं माधवी को लेने के लिये अपने कमरे में गया। राधा उसके पीछे-पीछे दौड़ती हुई गई। माधवी को रक्त-

रंजित देखकर वह सिहर उठी। वह दौड़कर उसके पास गई, लेकिन कप्तान ने बर्बरता से उसे ठेलते हुए कहा—"जल्दी भाग, जहाज़ डूब रहा है। मैं इसे उठाकर चलता हूँ। चलो, अपनी जान बचाओ।"

यह कहकर, वह माधवी को उठाकर दूने साहस से नीचे भागा। जहाज़ के दो खंड जल-मग्न हो चुके थे, और दो अभी बाक़ी थे, परंतु वे भी बड़ी शीघ्रता से डूब रहे थे। दामिनी की दमक, जो अब तक डर पैदा कर रही थी, इस समय पथ-प्रदर्शक का काम कर रही थी। एडमंड हिक्स किसी तरह उस छोटी नाव पर पहुँचा, उसके पीछे राधा और फिर दोनो मल्लाह। नाव जहाज़ से छूटते ही वायु के साथ भागी। थोड़ी दूर जाते-जाते वह डोपोवाला जहाज़ भी, जो ग़ुलामों की आहों से भर गया था, डूब गया।

(४)

पाँच आरोहियों को लेकर वह नौका वायु-वेग से किसी अनजान प्रदेश की ओर भागी, जिस प्रकार कोई बुज़दिल जवान लड़ाई के मैदान से भागता है। वायु के झोंके उसे इधर-उधर फिरा रहे थे। रत्नाकर और भीषण वेग से उतावला हो रहा था। पानी भी मूसलधार बरसने लगा था। बिजली भी दूने उत्साह से चमक-चमक, बारंबार अपने मित्रों की रणकुशलता का चमत्कार दिखाकर नाच रही थी। थोड़ी ही दूर पर वह डीपोवाला जहाज़ समुद्र के गर्भ में प्रवेश कर रहा था। लहरें अपना आहार पाकर फिर किसी अन्य वस्तु को उदरस्थ करने के लिये उतावली के साथ ऊँची उठ रही थीं, और किसी को न पाकर, क्षुब्ध होकर बड़े वेग से गर्जन करती हुई गिर पड़ती थीं। एडमंड ह्विवस का हृदय काँप रहा था, और वह स्वयं भी भयाकुल दृष्टि से उस तूफ़ान-रूपी काल-दंड को देखकर अपने होश-हवास खो रहा था। राधा माधवी का सिर अपनी गोद में लिए थी, और उसे यथासाध्य अपने वस्त्र से ढके थी। दोनो मल्लाह, जो ईसाई थे, अपनी आँखें बंद किए हुए बैठे थे। दूसरी नाव का, जिसमें मल्लाह और ग़ुलामों का दल था, बिलकुल पता न था। कप्तान बराबर बिजली की चमक होने पर उस नाव को देखने का यत्न करता, परंतु उसका कोई चिह्न भी दिखाई न पड़ता था।

एक मल्लाह, जिसका नाम सैमुएल जॉनसन था, बोला—"ये हमारी अंतिम घड़ियाँ हैं। इस तूफ़ान से बच निकलना बिलकुल असंभव है।"

दूसरे मल्लाह जॉन डेविड ने एक गहरी साँस लेकर कहा—"यह हमारे पापों का परिणाम है। हमने ईश्वर की संतान को भेड़ और बकरी की तरह बेचा है, उन पर अगणित अत्याचार किए हैं, यह सब उसी का फल है।"

सैमुएल जॉनसन ने विषाद-पूर्ण स्वर में कहा—"बिलकुल सत्य है जॉन! हमने बहुत पाप किए हैं, जिनकी क्षमा नहीं। प्रभु ईसा-मसीह क्या हमारे लिये वकालत करेंगे, भरोसा तो नहीं होता।"

जॉन डेविड ने व्यंग्य से हँसते हुए कहा—"हमारे गुनाह हमारी वकालत करेंगे। जिस वक्त गुलामों को बेचकर, रुपया लेकर अपनी जेबें भरते थे, तब क्या तुमने या मैंने इस दिन की याद की थी? नहीं। उस वक्त तो शराब और ऐयाशी, दो ही बातें हमारे सामने थीं, फिर अब माफ़ी की दरख़्वास्त किस मुँह से करते हो।"

सैमुएल ने रोते हुए कंठ से कहा—"हाँ भाई, उस समय हमें यह ज्ञान न था, मगर मुझे विश्वास है कि ईश्वर अब भी हमें माफ़ी बख़्शेगा, और......"

जॉन डेविड ने हँसते हुए कहा—"ईश्वर करे, तुम्हारा विचार सत्य हो। यह विश्वास भी इस समय शांति देनेवाला है। आओ, इस दारुण समय में हम लोग प्रतिज्ञा करें कि अगर आज बच गए, तो फिर कभी इस पाप-व्यापार में शामिल न होंगे। आज से कुलियों को अपना भाई और कुली-स्त्रियों को अपनी बहनें मानेंगे, और उनके साथ ऐसा ही व्यवहार करेंगे। हम यहाँ पाँच व्यक्ति हैं, जिनमें दो तो हमारी बहनें हैं, और तीन हम लोग। हम तीनों को शपथ-पूर्वक प्रतिज्ञा करनी चाहिए।"

सैमुएल ने प्रसन्न कंठ से कहा—"हाँ, ठीक है। मैं तैयार हूँ। कप्तान से पूछो।"

कप्तान एडमंड हिक्स चुपचाप उनकी बातें सुन रहा था। उसका

नशा हिरन हो गया था, और वह भी अपनी भीषण परिस्थिति से पूर्णतया अवगत था।

जॉन डेविड ने उससे पूछा—"एडमंड, क्या तुम शपथ लेने को तैयार हो?"

एडमंड हिक्स ने सरोष कहा—"तुम मुझे हुक्म देनेवाले कौन हो? यह याद रखना चाहिए कि मैं तुम्हारा कप्तान हूँ।"

जॉन डेविड ने ज़ोर से हँसकर कहा—"अब तुम मेरे कप्तान नहीं हो, बल्कि तुम्हारी आत्मा का कप्तान मैं हूँ। अगर तुम मेरा आदेश पालन न करोगे, तो तुमको आज इसी रात में, इसी समुद्र में, इसी तूफ़ान में डूबकर मरना होगा।"

जॉन डेविड के स्वर से भयंकरता झाँक रही थी, जिससे वह केवल धमकी न मालूम होती थी, बल्कि कथन को कार्य में परिणत करने का पूर्ण निश्चय झलकता था।

एडमंड हिक्स, जो सदा से निरंकुश और ज़िद्दी था, इस धमकी को सुनकर उबल उठा। उसने सरोष एक तमाचा उसके गाल पर मारा। ठंडी वायु ने उसे और असह्य बना दिया। जॉन डेविड का भी ख़ून उबलने लगा।

सैमुएल अपना क्रोध न रोक सका। उसने एक घूँसा कप्तान हिक्स के मुँह पर मारकर कहा—"पापी, अपने साथ तूने हम लोगों को भी बरबाद किया। पाप में घसीटकर हमें कहीं का न रक्खा, और ऐसे वक्त में भी पाप की ओर बढ़ना चाहता है। दोज़ख़ी कुत्ते, तेरा तो मरना ही उत्तम है। आँधी और प्रलय-काल की जल-समाधि ही तेरे लिये उपयुक्त है।" कहते-कहते उसने दो-तीन घूँसे और जमाए। कप्तान एडमंड हिक्स गिर पड़ा।

इसी समय बादल तुमुल घोष से गरज उठे, और दामिनी व्याकुल होकर वारंवार कौंधने लगी। जॉन डेविड ने कहा—

"सैमुएल, सचमुच इसी दुष्ट के कारण आज यह दिन देखना पड़ा, और जब तक यह हमारे साथ रहेगा, हमारी ख़ैर नहीं। इस पापी को इस तूफ़ान की भेंट चढ़ाना होगा !"

सैमुएल ने कप्तान के पैर पकड़कर उसे समुद्र की उठती हुई लहरों के अर्पण कर दिया। लहरें बेहोश कप्तान को लेकर नाचती हुई पाताल में प्रवेश कर गईं।

राधा सब व्यापार देख रही थी। उसने डरकर अपनी आँखें बंद कर लीं। नाव तीव्र वेग से भागती हुई चली जा रही थी। सहसा वह किसी अनजान चट्टान से टकराई। राधा उस वेग को सहन न कर सकी, और माधवी के समीप ही गिर पड़ी। लेकिन सैमुएल और जॉन डेविड दोनो समुद्र में गिर पड़े, जिन्हें लहरों ने अपनी गोद में उठा लिया, और उन्हें क़ैद करने के लिये किसी अनजान प्रदेश की ओर ले चलीं। राधा अचेत होकर उसी नाव में पड़ी रही।

तूफ़ान की तेज़ी कम हो चली थी। आकाश के बादल न-मालूम कहाँ, किस ओर अदृश्य हो गए थे। वेग से उठती हुई लहरें थक-कर विश्राम लेने लगीं। चंद्रदेव अपने सभासदों के साथ आकाश में प्रकाशित होकर सागर को अमृत-पान कराने लगे। रत्नाकर का गर्जन-तर्जन शांत हो गया था। आँधी का वेग सुखद समीरण में परिवर्तित हो गया था। आकाश के मध्य से बृहस्पति की प्रकाश-रेखाएँ राधा और माधवी को जीवन प्रदान करने लगीं।

प्रकृति इस समय शांत थी, नीरव थी। कोई भी उस शांति को देखकर यह न कह सकता था कि कुछ ही देर पहले वह इतनी भयं-कर थी, इतनी विकराल थी। आज मनुष्य अहंकार के साथ कहता है कि मैंने प्रकृति को अपने वश में कर लिया है—प्राकृतिक शक्तियों को अपना दास बना लिया है। परंतु गर्व का पुतला मनुष्य कितना

क्षुद्र है, यह वह नहीं जानता। प्रकृति का एक क्षुद्र सहचर असंयत हो जाने से मानुषिक शक्तियों को बिखेरकर छिन्न-भिन्न कर सकता है, उस समय मनुष्य की वैज्ञानिक शक्तियाँ पंगु तथा हतबुद्धि होकर उसकी ओर असहाय दृष्टि से केवल देखा ही करती हैं।

वह वायु, जो अभी तक डीपोवाले जहाज़ का अंत करने के लिये प्रलय का रूप धारण किए थी, अब शांत होकर राधा को होश में लाने का प्रयत्न करने लगी। अब ठंड का नाम न था। राधा के वस्त्र कुछ-कुछ सूख चले थे, और उसके सिर की पीड़ा भी कम हो चली थी। उसकी चेतना जाग रही थी।

राधा ने उठकर देखा, तूफ़ान ख़त्म हो चुका है, और दोनो मल्लाहों का कहीं पता नहीं। नाव लहरों के साथ खेलती हुई संतरण कर रही है। आकाश और नील समुद्र ज्योत्स्ना से धवल हो रहा है। राधा को विश्वास न हुआ कि वह जीवित है। उसने अपने नेत्र पुनः बंद कर लिए।

राधा नेत्र बंद किए हुए प्रकृति की मंद मुस्किराहट का शब्द सुन रही थी। उसने पुनः अपने नेत्र खोले, और उठकर बैठ गई। उसे विश्वास हुआ कि वह सत्य ही जीवित है। उसने पास पड़ी हुई माधवी की ओर देखा, उसकी स्मृति सजग होने लगी, और विगत घटनाएँ एक-एक करके याद आने लगीं। उस शून्य में अपने को अकेले देखकर भय से विह्वल हो उठी। फिर धीरे-धीरे माधवी के सिर पर हाथ फेरने लगी। यही उसका एकमात्र अवलंब था। उसकी अधीरता देखकर प्रकृति मुस्किराने लगी, और चंद्रमा हँसने लगा।

---

(५)

लखनऊ के क़ैसरबाग़ में प्रवासी व्यापारी मनमोहननाथ के स्वागतोपलक्ष्य में शहर के प्रतिष्ठित व्यापारियों और नागरिकों ने भोज का विराट् आयोजन किया था। उसमें अधिकारी और जनता के विशेष चुने हुए व्यक्ति आमंत्रित थे। कार्लटन होटल की ओर से भोज का प्रबंध किया गया था। बारहदरी के सामने का उद्यान नूतन साज से अलंकृत था, जो नवाब-कालीन लखनऊ के ऐश्वर्य की थोड़ी-सी झलक दिखाता था। चारो ओर रंग-बिरंगे बिजली के बल्ब लगे हुए थे, जिनसे इंद्र-धनुष के रंगों का प्रकाश निकलकर दर्शकों के नेत्रों को मुग्ध कर रहा था। भीतर एक तरफ़ मधुर स्वरों से बैंड बज रहा था, जिसकी स्वर-लहरी झूमती हुई आकाश में विलीन हो रही थी। चारो ओर हर्ष और उत्साह का समारोह था।

प्रसिद्ध व्यापारी पंडित मनमोहननाथ ने मुस्किराकर कहा—"आप लोगों ने जिस प्रकार मेरा आदर किया है, उससे हृदय में एक अद्भुत प्रकार का आनंद होता है। मुझे सब प्रकार से आपका कृतज्ञ होना चाहिए, और वास्तव में मैं हूँ भी। मैं नहीं जानता कि किन शब्दों में आपको धन्यवाद दूँ?"

लखनऊ-विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर डॉक्टर पीतांबरदत्त ने उत्तर में कहा—"अगर मैं विश्वविद्यालय की ओर से आपको धन्यवाद दूँ, तो यह बहुत थोड़ा कृतज्ञता-प्रदर्शन होगा। आपने दस लाख रुपयों का विश्वविद्यालय को दान कर इस देश और विश्वविद्यालय का जो उपकार किया है, वह शब्दों द्वारा वर्णन नहीं किया जा

सकता। आप-जैसे दान-वीर महापुरुषों की अभ्यर्थना में जो कुछ त्रुटि रह गई हो, उसे, आशा है, आप क्षमा करेंगे।"

पंडित मनमोहननाथ ने हँसकर कहा—"डॉक्टर साहब, मैं अक्सर लखनऊ के तकल्लुफ़ात के क़िस्से तो ज़रूर सुना करता था, परंतु उसे देखने का आज ही सौभाग्य प्राप्त हुआ। विश्वविद्यालय को दान करके मैंने कोई देश या विश्वविद्यालय पर एहसान नहीं बल्कि अपना एक कर्तव्य पालन किया है। आशा है, आप धन्यवाद के बोझ से मुझे संकुचित करने की कृपा न करेंगे। आप लोगों ने मेरे पुत्र भारतेंदु को जिस प्रकार शिक्षित बनाया है, उसका उपकार मैं आजन्म नहीं भूल सकता।"

डॉक्टर नीलकंठ एम्० ए०, डी० लिट्०, डीन ऑफ़् दी फ़ैकल्टी ऑफ़् आर्ट्स ने उत्तर में कहा—"भारतेंदु को मैंने वर्षों पढ़ाया है, इसका मुझे गर्व है। उसका-जैसा छात्र मैंने आज तक नहीं देखा। उसने अपनी बुद्धि की प्रखरता, अध्ययन और मनोयोग से हम लोगों को चकित कर रक्खा है। लक्ष्मी और सरस्वती का इतना अद्भुत सम्मिश्रण मुझे अन्यत्र देखने को नहीं मिला। भारतेंदु-जैसा सुशील और गुणवान् पुत्र बड़े भाग्य से मिलता है।"

पंडित मनमोहननाथ ने पुत्र की प्रशंसा से गद्‌गद होकर कहा—"यह सब आप लोगों की कृपा का फल है। सुदूर फ़िज़ी से मैंने उसे अपनी जन्म-भूमि में पढ़ने के लिये इसीलिये भेजा था, जिससे उसे अपने देश का ज्ञान हो जाय। यहाँ की संस्कृति, आचार-विचार, इतिहास, कला-कौशल का ज्ञान आप लोगों की कृपा से उसे प्राप्त हुआ है। अब इनके प्रति उसका प्रेम, भक्ति और आसक्ति होना ज़रूरी है, जो इतने दिनों के सहवास ने किसी अंश तक अवश्य ही उत्पन्न कर दी होगी। वह प्रतिभावान् व्यक्ति है, यह जानकर मुझे बहुत संतोष हुआ।"

डॉक्टर पीतांबरदत्त ने सोल्लास कहा—"उसकी प्रतिभा से गर्व केवल आपको ही नहीं, बल्कि विश्वविद्यालय को है, और शायद एक दिन भारतवर्ष को भी होगा।"

पंडित मनमोहननाथ ने प्रसन्न कंठ से कहा—"ईश्वर की कृपा से आपका आशीर्वाद पूर्ण हो। किस पिता को अपने पुत्र की कीर्ति से, उसकी प्रतिभा के विकास से गर्व नहीं होता? डॉक्टर साहब, मैं आप लोगों को पुनः हृदय से धन्यवाद देता हूँ!"

मुंशी कालीसहाय ने, जो पूरे लखनवी ठाट में थे, लखनवी अंदाज़ से हँसते हुए कहा—"जनाब पंडितजी, आप लखनवी तकल्लुफ़ की तो शिकायत करते हैं, लेकिन हज़रत भी उससे बिलकुल बईद नहीं।"

यह कहकर वह मीठी मुस्कान-सहित दाद मिलने की कामना से दूसरे व्यक्तियों की ओर देखने लगे। उनकी हँसी में दूसरे लोगों ने भी साथ दिया।

अज़ीमाबाद के राजा अनवरअलीख़ाँ ने सहास्य कहा—"मुंशीजी बहुत ही बजा फ़रमाते हैं। इसमें मुतलक़ शक नहीं कि लखनऊ की आब-हवा अपना असर उन पर भी बहुत जल्द डाल देती है, जो मादरे-हिंद से हज़ारों मील दूर जाकर आबाद और यहाँ की तहज़ीब से एकदम बेगाना हो गए हैं।"

राजा अनवरअलीख़ाँ की हँसी में सभी प्रमुख व्यक्तियों ने संयोग किया।

पंडित मनमोहननाथ ने सहास्य कहा—"मैं आप लोगों का मतलब बिलकुल नहीं समझा। लखनवी तकल्लुफ़ तो लखनवी ख़रबूज़े की तरह बहुत जल्द अपना रंग दूसरे ख़रबूज़े पर डालकर उसकी असलियत बदल देता है। अगर लखनवी तहज़ीब की तारीफ़ में दो-एक लफ़्ज़ न कहे जाकर बिलकुल ख़ामोश ही रहा जाय, तो बेशक एक तकल्लुफ़ाना बात होगी।"

डॉक्टर पीतांबरदत्त और नीलकंठ भी हँस पड़े, और दूसरे लोगों की हँसी से बैंड का मधुर स्वर फीका पड़ गया।

प्रसिद्ध व्यापारी जमसेदजी-हुरमसजी ने प्रशंसा-पूर्ण नेत्रों से कहा—"पंडितजी, आपके अध्यवसाय, व्यापारिक प्रतिभा और योग्यता के विषय में जो कुछ कहा जाय, थोड़ा है। आपने केवल अपने परिश्रम और धैर्य से इतना धन पैदा किया है।"

पंडित मनमोहननाथ ने एक हलकी मुस्कान-सहित कहा—"आपको तो आश्चर्य न करना चाहिए, जब कि पारसी क़ौम आज-दिन भारत की अग्रगण्य व्यापारिक जातियों में है।"

जमसेदजी ने उत्तर दिया—"यह तो ठीक है, परंतु साधन की ओर भी तो हमें ध्यान देना चाहिए। आप यहाँ से एक मज़दूर की हैसियत में गए थे, और दस वर्ष तक मुआहिदे के मुताबिक़ आपको एक तरह की ग़ुलामी में ज़िंदगी बसर करनी पड़ी। बाद में आपने छोटी-सी दूकान खोली। उसी दूकान से आपने इतनी तरक़्क़ी की। बिलकुल साधन-हीन होकर आपने इस प्रकार उन्नति की, इससे आपकी व्यापारिक निपुणता और कुशलता का परिचय बड़ी ख़ूबी से मिलता है। इस विषय में जो कुछ आपकी तारीफ़ में कहा जाय, थोड़ा है।"

राजा अनवरअलीख़ाँ ने नेत्र विस्फारित करते हुए कहा—"बेशक, यह एक कमाल है।"

सेठ फूलचंद ने कहा—"अवश्य ही पंडितजी की व्यापारिक योग्यता अतुलनीय है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"लेकिन मारवाड़ी व्यापारियों की गणना तो संसार की व्यापारिक जातियों में है। व्यापारिक रहस्य का ज्ञान जितना उन्हें है, उतना भारतवर्ष में शायद ही किसी को होगा। मुझे ऐसे कई व्यक्ति मालूम हैं, जिन्होंने दो

रुपए की पूँजी से व्यापार शुरू किया, और आज दिन वे करोड़पति हैं।"

मुंशी कालीसहाय ने सिर हिलाते हुए कहा—"बेशक, आपका फ़रमाना बहुत ही दुरुस्त है। मारवाड़ी बनिए भी पैसा कमाना ख़ूब जानते हैं।"

इसी समय होटल के बटलर ने आकर सूचना दी कि भोजन तैयार है।

डॉक्टर पीतांबरदत्त ने भोजन करने की प्रार्थना की।

पंडित मनमोहननाथ ने उठते हुए कहा—"बेशक, पैसा कमाना मारवाड़ी जानते हैं। हम लोगों को वाजिब है कि उनसे यह शिक्षा ग्रहण करें। शायद आपको सुनकर कुछ आश्चर्य होगा कि इस विषय में मेरा गुरु एक मारवाड़ी है, जो मेरे ही साथ डीपोवालों के फेर में पड़कर, गुलाम होकर फ़िज़ी गया था। वह आजकल दक्षिणी अमेरिका में है, और 'रायो डी जेनोरियो' का मुख्य व्यापारी मेरी तरह वह भी कई खानों का मालिक है।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"लक्ष्मी और सरस्वती किसी जाति और कुल से संबंध नहीं रखतीं। केवल भाग्य और उद्योग चाहिए।"

राजा अनवरअली ने कहा—"बिलकुल दुरुस्त है। क़िस्मत एक अजीबोग़रीब चीज़ है, जिसके साथ इंसान इस तरह बँधा हुआ है, जैसे चोली के साथ दामन।

इसके बाद आमंत्रित व्यक्तियों के साथ पंडित मनमोहननाथ भोजन करने लगे। हँसी का फ़ौवारा बात-बात पर छूटने लगा।

पंडित मनमोहननाथ ने गंभीर स्वर में कहा—"हिंदू-समाज की वर्तमान अवस्था में अवश्य ही कुछ परिवर्तन करना होगा। बिना परिवर्तन के इसका भविष्य अंधकारमय है।"

डॉक्टर नीलकंठ ने उत्तर में कहा—"परिवर्तन तो जीवन का तत्त्व है। समय मनुष्य का सबसे बड़ा शिक्षक है। अब समय ऐसा आ गया है, जिससे हिंदू-समाज को संस्कृत करना अनिवार्य हो गया है। मैं आपसे इस विषय में बिलकुल सहमत हूँ।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"जाति का बंधन हिंदू-समाज के लिये फाँसी का फंदा है, जब तक हम जाति-पाँति के झगड़े दूर कर हिंदू-समाज को एकवर्गी समाज नहीं बनावेंगे, तब तक हमारी उन्नति होना या संसार के राष्ट्रों के साथ बराबर चलना मुश्किल ही नहीं, असंभव है। डॉक्टर साहब, मैंने विश्व-भ्रमण किया है। संसार का कोई ऐसा देश नहीं, जहाँ मैं न गया होऊँ। संसार की समस्त जातियों के साथ मैंने कुछ दिन बिताए हैं, और उनकी वास्तविक स्थिति समझने का प्रयत्न किया है, परंतु हिंदू-समाज की भाँति भाई-भाई के प्रति घृणा और तिरस्कार कहीं नहीं देखा।"

डॉक्टर नीलकंठ ने उत्तर दिया—"बेशक, ऐसा भेद-भाव सिवा हिंदू-समाज में और कहीं भी देखने को न मिलेगा। वर्ण - व्यवस्था जिस समय स्थापित की गई थी, वह समय कुछ और था, और इसके कुछ और ही अर्थ थे, इसका कार्य भी कुछ दूसरा ही था, परंतु वह तो आज एक दूसरे रूप में यहाँ अपना अधिकार जमाए हुए है, जिसका नाश होना परमावश्यक है।"

डॉक्टर नीलकंठ के स्वर में आवेश था, और कुछ तीव्रता थी।

स्वामी गिरिजानंद, जो डॉक्टर नीलकंठ के धर्मगुरु थे, चुपचाप सुन रहे थे। डॉक्टर नीलकंठ ने उनकी ओर देखकर उनका अभिमत जानना चाहा।

वह धीमे, किंतु दृढ़ स्वर में बोले—"हिंदू-समाज में परिवर्तन होना आवश्यक है, यह मैं भी मानता हूँ, और यही समय भी माँगता है, परंतु वह परिवर्तन, जिसकी हम कामना करते हैं, कैसा होना चाहिए, यह एक जटिल प्रश्न है।"

पंडित मनमोहननाथ ने चमकते हुए नेत्रों से कहा—"मुझे यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि स्वामीजी भी परिवर्तनवादी हैं, और संतोष हुआ कि समय का तक़ाज़ा आप लोग भी अनुभव करने लगे हैं।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"स्वामीजी ने भी संसार-भ्रमण किया है, और विशेषकर अमेरिका में हिंदू-धर्मशास्त्र और वेदांत पर हज़ारों सभाओं में भाषण दिया है। इस विषय में आपको भी बड़ा अनुभव है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कुछ क्षुब्ध होकर, जैसे कोई वीर किसी प्रतिद्वंद्वी को देखकर होता है, कुछ मलिन स्वर में कहा—"यह जानकर मुझे और आनंद हुआ कि स्वामीजी पुरानी रूढ़ि के स्वामियों या कुल-गुरुओं में नहीं, बल्कि एक संस्कृत विचार के धर्मोपदेशक हैं।"

स्वामी गिरिजानंद ने सहास्य कहा—"धन्यवाद! किंतु पंडितजी, मैं यह कह देना चाहता हूँ कि मैं प्राचीनतम रूढ़ियों का भक्त हूँ। मैं प्राचीनता का उपासक और नवीनता का घोर शत्रु हूँ। मैंने अपनी स्थिति बिलकुल साफ़ कर दी, जिसमें आप किसी प्रकार के भ्रम में न रहें।"

पंडित मनमोहननाथ ने चकित होकर कहा—"किंतु अभी-

अभी आपने स्वीकार किया है कि हिंदू-समाज में परिवर्तन होना आवश्यक है।"

स्वामी गिरिजानंद ने मुस्किराते हुए कहा—"बेशक, मैं अब भी यही कहता और स्वीकार करता हूँ। परिवर्तन तो जीवन का आधार है, सृष्टि का नियम है, ईश्वर की शक्ति है, और उस शक्ति का विकास है।"

पंडित मनमोहननाथ विस्मित नेत्रों से स्वामीजी की ओर देखने लगे, और डॉक्टर नीलकंठ बड़े ही संतोष तथा प्रसन्नता के साथ मुस्किराने लगे, उस तरह, जैसे कोई दो पहलवानों की कुश्ती में अपने पहलवान के विजयी वारों पर होता है।

पंडित मनमोहननाथ ने किंचित् क्षुब्ध कंठ से कहा—"स्वामीजी, यह तो कुछ विचित्र-सा देख पड़ता है। क्या विरोधाभास का नाम ही ऐक्य है?"

उनका स्वर व्यंग्य की झंकार से आवृत था।

स्वामीजी ने सहज मुस्कान-सहित कहा—"पंडितजी, रूढ़ि का उपासक संसार है। रूढ़ि का नाम है मनुष्यता। प्राचीन परि-पाटी अथवा वैदिक काल की हिंदू-सभ्यता आर्यों के ऐश्वर्य-काल के अगणित अनुभवों का सार है। ब्रह्म की अनुभूति का सरलतम और सन्निकट मार्ग है। ब्राह्मण-काल की निरंकुशता का नाम प्राचीनता नहीं। वह युग भी समय के प्रभाव से कुछ परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित हो गया था, जैसा आप आजकल अपने वर्तमान हिंदू-समाज को बदलना चाहते हैं। परंतु मेरा कथन यह है कि अब जो परिवर्तन होना चाहिए, वह 'बैक टु दी क्लासिक्स' अथवा प्राचीन संस्कृति को पुनर्जीवित करने की ओर होना चाहिए। योरपियन राष्ट्रों का विकास 'रिनायसांस' या 'पुन-र्जन्म' के पश्चात् ही हुआ है, इतिहास इसका साक्षी है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"किंतु स्वामीजी, आजकल संसार की प्रगति समाजवाद या दूसरे शब्दों में रूस के बॉल-शेविज़्म की ओर विशेषकर है, और समय की इस आवश्यकता को 'हिंदू-समाज का पुनर्जन्म' पूरा नहीं कर सकता। क्योंकि हिंदू-समाज राजाओं को ईश्वर का प्रतिनिधि करके मानता रहा है, और समाजवाद में राजा अथवा किसी व्यक्ति-विशेष के लिये कोई स्थान नहीं।"

स्वामीजी ने गंभीर स्वर में कहा—"पंडितजी, यह सुनकर आपको आश्चर्य होगा कि 'समाजवाद' के नियमों का पूर्ण विकास हमारे हिंदू-समाज में हुआ है, और इसे जन्म देने का श्रेय इसी हिंदू-समाज या हिंदू-सभ्यता को है। ज़रा ग़ौर से देखिए, तो आपको मालूम होगा कि वैदिक काल की सभ्यता कोरे समाजवाद का उदाहरण है। राजा का स्थान तो बहुत पीछे निर्दिष्ट हुआ है, वह भी समय की आवश्यकतानुसार। जिस प्रकार समाजवाद में आप थोड़े-से मनुष्यों को चुनकर शासन की बागडोर उनके हाथों में सौंप देते हैं, उसी प्रकार हिंदू-समाज किसी एक मनुष्य को अपना नेता नियत करके शासन-अधिकार उसके हाथ में सौंपता था। और, जैसे लोहार का लड़का लोहारी के काम की ओर विशेषतया आकृष्ट होता है, और सहज ही उसकी मानसिक प्रवृत्तियों का झुकाव उस ओर होता है, क्योंकि वह उस काम को अपने बाल्यकाल से देखता चला आता है, उसी प्रकार उसी व्यक्ति-विशेष का लड़का शासन के लिये विशेष उपयुक्त समझा जाता रहा, इसलिये राजाओं का उत्तराधिकारी उनका पुत्र ही समझा जाने लगा, और राजा होने का अधिकार प्रचलित हो गया, परंतु फिर भी प्रजा के इस अधिकार की अवहेलना कभी नहीं की गई। पुराणों और स्मृतियों में आपको सैकड़ों उदाहरण मिलेंगे,

जिनसे यह साफ़ हो जायगा कि राजा की सत्ता की नींव में प्रजा का ही मत होता था। यह वर्ण-व्यवस्था भी उसी समाजवाद का उदाहरण है, जो समय के प्रभाव से ज़ंग लगकर ख़राब गया है, इस ज़ंग को साफ़ करना हमारा परम कर्तव्य है, और यही समय की माँग है, जिसे पूर्ण करना आवश्यक है।"

पंडित मनमोहननाथ ने सिर हिलाकर अपनी असम्मति प्रकट करते हुए कहा—"स्वामीजी, क्षमा कीजिएगा, मैं यह मानने के लिये बिलकुल तैयार नहीं। मैं तो यह समझता हूँ कि हिंदू-सभ्यता और हिंदू-धर्म तो शायद ग़ुलामी सिखाने के लिये अवतीर्ण हुए हैं। हिंदू-धर्म सिखाता है देवताओं की ग़ुलामी, और हिंदू-सभ्यता सिखलाती है राजाओं की ग़ुलामी। यदि हिंदू-सभ्यता को दासत्व सिखलाने की मशीन कहा जाय, तो शायद अतिशयोक्ति न होगी।"

स्वामीजी ने मुस्किराते हुए कहा—"किसी अंश में आधुनिक हिंदू-सभ्यता का यही रूप है, परंतु आदिम हिंदू-सभ्यता का यह रूप न था। उस समय हिंदू-समाज में राष्ट्रीयता का विकास ज्वलंत रूप में था। वेद-मंत्रों को ज़रा ध्यान-पूर्वक देखिए, उनमें आपको सामूहिकता का रूप मिलेगा, वैयक्तिक रूप कभी न मिलेगा। यही तो समाजवाद है। जो कुछ है, वह राष्ट्र का है, किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं, यही सोशलिज़्म है। राजा को राष्ट्रीयता का एक प्रतिनिधि-भर माना था, और कुछ नहीं। और, जो भक्ति उसकी ओर प्रदर्शित की गई थी, वह सिर्फ़ उसके राष्ट्रीय रूप की ओर—उसके वैयक्तिक रूप की ओर नहीं। अब रह गया ग़ुलामी का प्रश्न, वह तो मानव-जाति की एक आदत-विशेष है। मनुष्य को कोई ग़ुलामी नहीं सिखाता, वह तो ग़ुलाम पैदा हुआ है, और अंत तक ग़ुलाम ही रहेगा। हाँ, पोलिटिकल ग़ुलामी बात

दूसरी है, और चूँकि हमारा देश इस वक़्त ग़ुलाम देश है, शायद आपका मतलब उसी से है।"

पंडित मनमोहननाथ ने सिर खुजलाते हुए कहा—"जी नहीं, ग़ुलामी से मेरा मतलब है उस भाव से, जो हिंदू-सभ्यता सिखलाती है। मिसाल के लिये यही तफ़सील काफ़ी होगी कि राजा के कर्मों की आलोचना नहीं करना। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, इसलिये वह हमारी आलोचना से परे है, यह भाव तो हमारी हिंदू-सभ्यता सिखलाती है। गीता-जैसे ग्रंथ में भी, जिस पर हिंदू-समाज को नाज़ है, भगवान् कृष्ण ने अपनी विभूतियों में गिनाया है—'मनुष्यों में राजा मैं हूँ।' इससे साफ़ ज़ाहिर है कि ईश्वर का प्रतिरूप समझकर, हम आँख बंद कर उसका आदेश पालन करें, और अपने शरीर और ख़ून से उसका रंगमहल तैयार करें, जिसमें वह हमारी छाती पर अपने विलास की क्रीड़ा करे।" उनके स्वर में व्यंग्य का तिरस्कार था।

स्वामीजी ने सहज स्वर में उत्तर दिया—"राजाओं को ईश्वर का प्रतिनिधि इसलिये कहा है कि जिसमें राष्ट्र का काम सुचारु रूप से हो। अगर सदैव तू-तू, मैं-मैं का झगड़ा लगा रहेगा, तो कोई भी काम सुचारु रूप से न होगा। बॉलशेविक गवर्नमेंट में भी शासन-सूत्र की अंतिम बागडोर या यों कहिए, अंतिम कार्यकारिणी शक्ति (Highest Executive Power) वहाँ के प्रेसिडेंट में निहित होती है, जिसे कभी-कभी निरंकुश होना पड़ता है। शासन करने में निरंकुशता और कभी-कभी पाशविक बल-प्रयोग करना ही पड़ता है, जो अन्याय ही समझा जायगा, परंतु फिर भी वैध होगा। यह क्यों? इसलिये कि उसमें जनता की सहानुभूति होती है। जनवाद में भी एक मनुष्य के प्रति ग़ुलामी दिखलाना पड़ता है, और उसका हुक्म आँख बंद कर मानना पड़ता है।"

इसी समय डॉक्टर नीलकंठ की एकमात्र संतान आभा ने प्रवेश किया, और कहा—"पापा, चाय तैयार है, क्या यहीं ले आऊँ ?"

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"हाँ, यहीं ले आओ।"

फिर पंडित मनमोहननाथ की ओर देखकर कहा—"यह मेरी एकमात्र संतान आभा है।" फिर आभा से कहा—"तुम्हारे सहपाठी भारतेंदु के पिता पंडित मनमोहननाथजी हैं।"

आभा ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। पंडित मनमोहननाथ ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया। आभा कमरे के बाहर हो गई।

डॉक्टर नीलकंठ ने मृदु स्वर में कहा—"अब इस विषय में कभी फिर बात करेंगे, अब चाय पी ली जाय।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"हाँ, फिर कभी बात होगी। मैं देखता हूँ, स्वामीजी के विचारों से मैं कभी सहमत नहीं हो सकता।"

डॉक्टर नीलकंठ ने मुस्किराकर कहा—"आप धीरे-धीरे सहमत होंगे।"

स्वामीजी ने हँसकर कहा—"बहुत दिनों में, अभी नहीं। हिंदू-समाज का वर्तमान रूप इतना विकृत है कि उसके प्रति हम लोगों की कोई सहानुभूति नहीं रह गई। पश्चिमीय प्रकाश की चकाचौंध हमें उसका असली रूप दिखलाने में असमर्थ है। हमें अपने समाज का निर्माण इसी प्रकार करना चाहिए, जिसमें हम उन गर्तों में न गिरें, जिनमें पश्चिमीय राष्ट्र गिर रहे हैं। हमें अपने देश-काल की परिस्थिति के अनुसार उतना ही बदलना चाहिए, जितना आवश्यक हो। नियमों के बिना कोई भी समाज या उसके शासन का सूत्र टिकाऊ नहीं हो सकता, और न उनके प्रति के विश्वास को हम गुलामी कह सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि हम कभी यह न भूलें कि हम भारतीय हैं, और हमारा समाज जो भी बनेगा, वह शुद्ध भारतीय होगा, जहाँ किसी

के स्वत्वों की अवहेलना न की जाय। दूसरे शब्दों में हमारे लिये पश्चिमीय आचार-विचार ज्यों-के-त्यों अनुकूल या हितकर न होंगे, वरन् हमारे मूल सिद्धांत ही उपयुक्त हैं।"

नौकर चाय का 'ट्रे' लेकर आया, और उसके साथ-साथ आभा भी उस कमरे में आई। डॉक्टर नीलकंठ ने उसे चाय बनाने का आदेश दिया। आभा सहास्य अपने काम में निरत हो गई। पंडित मनमोहननाथ चुपचाप चाय पीने लगे।

---

(७)

पंडित मनमोहननाथ की घनिष्ठता डॉक्टर नीलकंठ के परिवार के साथ बढ़ती गई। उनके साथ भारतेंदु का भी विशेषकर आना-जाना शुरू हो गया। यद्यपि आभा और भारतेंदु दोनो सहपाठी थे, परंतु दोनो में कोई विशेष घनिष्ठता न थी। आभा एम्० ए० उत्तीर्ण होने के बाद कॉलेज से अपना संबंध विच्छेद कर चुकी थी, परंतु भारतेंदु 'डॉक्टरेट' के लिये कोशिश कर रहे थे। डॉक्टर नीलकंठ की उन पर विशेष कृपा थी, इसलिये कभी-कभी तीन-चार महीने में एक-आध बार उनके यहाँ हो आते थे। उस समय कभी आभा अपने घर पर होती, और कभी न होती थी। अगर वह घर पर होती, तो सिवा नमस्कार के विशेष कुछ बातचीत न होती थी। आभा मन-ही-मन उनकी ओर देखकर कहती—विचित्र युवक है। और, भारतेंदु के हृदय में क्या भाव पैदा होता था, वही जाने।

एक दिन डॉक्टर नीलकंठ ने आभा से कहा—"देखो, भारतेंदु अब आया करे, तो उसका उचित रूप से आदर किया करो। हालाँकि तुम दोनो सहपाठी रहे, किंतु फिर भी तुम लोगों में कोई घनिष्ठता नहीं।"

आभा ने कुछ उत्तर न दिया। वह सुनकर दूसरे कमरे में चली गई। डॉक्टर नीलकंठ भी दूसरे काम में लग गए।

उसी दिन दोपहर को भारतेंदु डॉक्टर साहब से मिलने के लिये आए। एक खद्दर का कुर्ता बदन पर था, और धोती भी मोटे खद्दर की थी। पैरों में साधारण चप्पलें थीं। सिर बिलकुल नंगा था।

डॉक्टर नीलकंठ ने उनकी ओर आश्चर्य के साथ देखकर कहा—"आज असमय कैसे भारतेंदु ? कुशल तो है ?"

भारतेंदु ने कुरसी पर बैठते हुए कहा—"जी हाँ, सब कुशल है। पिताजी का इरादा कल ही फ़िजी वापस जाने का है, इसलिये आपको बुलाया है।"

डॉक्टर नीलकंठ ने साश्चर्य कहा—"कल ही वापस जायँगे ? इस विषय में अभी तक तो कोई बातचीत नहीं की। ऐसी जल्दी जाने का क्या कारण है ?"

भारतेंदु ने सिर झुकाए हुए कहा—"आज सुबह फ़िजी से तार आया है, जिसमें उनके शीघ्र चले आने को लिखा है। शायद वहाँ से दक्षिणी अमेरिका जायँगे, क्योंकि वहाँ सोने की खानों में कुछ गड़बड़ी हो गई है। अतएव वह कल ही यहाँ से प्रस्थान करेंगे। आपको तुरंत ही बुलाया है।"

डॉक्टर नीलकंठ ने उठते हुए कहा—"यह तो बड़ी खेद-जनक बात है। युनिवर्सिटी की विशेष बैठक में यह निश्चित हुआ है कि पंडित मनमोहननाथजी को ऑनरेरी डॉक्टर की उपाधि दी जाय, और अब वह जा रहे हैं। हमारा सब प्रोग्राम बिगड़ जायगा।"

इसी समय आभा ने उस कमरे में आकर पूछा—"कौन जा रहा है पापा ?"

डॉक्टर नीलकंठ ने कपड़े पहनते हुए कहा—"भारतेंदु के पिताजी फ़िजी वापस जा रहे हैं। आज कोई तार आया है, इस सबब से उन्हें शीघ्र ही जाना पड़ रहा है।"

आभा ने दूसरी ओर देखते हुए कहा—"मेरी इच्छा है, मैं भी उनके साथ चली जाऊँ, और थोड़ा-सा भ्रमण कर आऊँ। बेकार बैठे-बैठे मन नहीं लगता।"

डॉक्टर नीलकंठ का हाथ कोट की आस्तीन में वैसा ही अटका

हुआ रह गया। उन्होंने साश्चर्य कहा—"पगली, तू कहाँ जायगी? वह अपने काम से जा रहे हैं। तुझे लेकर कहाँ जायँगे?"

भारतेंदु ने मुस्किराते हुए कहा—"हर्ज क्या है, जहाज़ तो अपना है, कोई किराया पड़ेगा नहीं, और पिताजी के साथ जाने में विशेष सुविधा रहेगी।"

डॉक्टर नीलकंठ मुस्किराने लगे। उन्होंने भारतेंदु से कहा—"तुम यहीं बैठो, मैं अभी तुम्हारे पिताजी को लेकर वापस आता हूँ, तब तक तुम और आभा मेरी किताब का प्रूफ़ देख डालो।" यह कहकर वह कमरे के बाहर हो गए।

भारतेंदु ने आभा की ओर देखा, और आभा ने उनकी ओर। दोनो के नेत्र नत हो गए। न-जाने क्यों एक दूसरे का हृदय धड़कने और मुख लाल होने लगा। उन दोनो के जीवन में यह पहला अवसर था, जब वे दोनो इस तरह एकांत में मिले थे।

भारतेंदु ने उठते हुए कहा—"मैं अब जाऊँगा।"

आभा ने कोई उत्तर नहीं दिया। भारतेंदु उठकर जाने लगे। धीरे-धीरे वह कमरे के बाहर हो गए।

दूसरे ही क्षण आभा ने कमरे के दरवाज़े के पास आकर कहा—"पान तो खा लीजिए, बिना पान खाए क्या चले जायँगे?"

भारतेंदु ने ठहरकर, पीछे फिरकर उसकी ओर देखते हुए, कहा—"यह तो आपको मालूम है कि मैं पान नहीं खाता।"

आभा तुरंत सकुचा गई। उसे याद आया कि वास्तव में उसने कभी भारतेंदु को पान खाते नहीं देखा। उसने कुछ उत्तर नहीं दिया।

भारतेंदु कुछ देर ठहरकर फिर जाने लगे। बँगले के बाहर उद्यान में सुर्ख़ी की रविश में धीमी-धीमी चाल से जाने लगे।

आभा ने कुछ क्षण तक उनकी ओर देखा, फिर अभिमान से सिर घुमाकर कमरे में वापस चली आई। वह एक चित्र की ओर देखने लगी। उसकी आँखों में आहत अभिमान की बूँदें भरी हुई थीं। इस तरह उसका अपमान आज तक किसी ने नहीं किया था। वह उसी कुरसी पर आकर बैठ गई, जिस पर कुछ मिनट पहले भारतेंदु बैठे हुए थे। उसने देखा, उस पर एक रूमाल पड़ा हुआ है। उसने उसे उठा लिया। देखा, एक कोने पर हरे और बैंगनी रेशमी डोरे से कढ़ा हुआ है—'मालती'।

उस नाम के पढ़ते ही वह सिहिर उठी। उसने दूसरे ही क्षण उस रूमाल को छोड़ दिया, जैसे किसी बिच्छू ने डंक मारा हो। वह तिलमिला उठी। उसके हृदय ने तुरंत प्रश्न किया—यह मालती कौन है?

मन ने कहा—मालती तो उसकी एक सहपाठिनी का नाम है, जो उसकी अभिन्न-हृदया सखी है। सर रामकृष्ण की पुत्री है, जिसका अभी हाल ही में विवाह हुआ है। क्या यह वही मालती है, या यह मालती कोई दूसरी है?

उसने वह रूमाल पुनः उठा लिया, और इस बार ग़ौर से उन अक्षरों की ओर देखने लगी—इतनी तीक्ष्णता से, मानो वह उनके साथ-साथ 'मालती' की आकृति भी देख लेगी। परंतु सिवा इन तीन अक्षरों के और अधिक कुछ न था।

रूमाल देख लेने के बाद उसने उसे अपने पास रख लिया। वह क्षुब्ध होकर फिर एक चित्र की ओर देखने लगी। उसमें भी उसका मन नहीं लगा। दूसरे ही क्षण वह अपने कमरे में चली गई। चारो ओर के दरवाज़े बंद करने लगी।

इसी समय उसकी धाय, जिसने उसका पालन-पोषण किया था, दरवाज़ों की भड़भड़ाहट सुनकर भागी हुई आई, और पूछा—"क्यों, क्या बात है रानी?"

आभा की मा उसके बाल्यकाल में मर चुकी थी। उस समय यही नौकरानी, जिसका नाम गंगा था, उसकी बड़ी प्रिय पात्र थी। आभा की मा उसे उसी के हाथ में सौंप गई थी, और गंगा ने उसी विश्वास के साथ उसका पालन-पोषण किया था। डॉक्टर नीलकंठ ने दूसरा विवाह नहीं किया। हाँ, यह ज़रूर हुआ कि आभा की मा के मरने के बाद वह अपनी पुस्तकों में विशेष लीन हो गए, और गंगा को आभा को सँभालते देख उस ओर से बिलकुल निश्चिंत हो गए। गंगा के हाथ में उस परिवार की देख-रेख का भार आ गया, जिसे वह ईमानदारी के साथ वहन करने लगी। वह आभा को 'रानी' कहकर पुकारती थी, हालाँकि डॉक्टर नीलकंठ उसे आभा ही कहते थे।

आभा ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह उसी वेग से दरवाज़े बंद कर रही थी।

गंगा ने पुनः पूछा—"क्यों रानी, आज क्या हुआ, जो......"

आभा ने बड़े तीव्र स्वर में कहा—"तुम्हें यहाँ किसने पंचायत के लिये बुलाया था। जाओ, अपना काम करो।"

गंगा ने देखा, आज रंग बेढब है। उसने कनखियों से अपने प्यार की रानी की ओर देखा, उसके नेत्र डुबडुबाए हुए हैं, और चेहरा लाल है। उसे कुछ अधिक बोलने का साहस नहीं हुआ। वह कमरे के बाहर हो गई। आभा ने उसके बाहर निकलते ही वह दरवाज़ा भी बंद कर दिया, और पलँग पर लेट गई। आहत अभिमान के आँसू, जो अभी तक किसी भाँति छिपे हुए थे, बंधन तोड़कर, बाहर निकलकर तकिए को भिगोने लगे।

---

(८)

आभा सोचने लगी—"वह मेरे कौन हैं। कोई नहीं। फिर उनके लिये इतनी उतावली क्यों होती हूँ, मैं स्वयं नहीं जानती। मेरा उन पर कोई अधिकार नहीं, फिर मेरा अपमान कैसे हुआ। अजनबी से शिष्टाचार की आशा करना केवल मूर्खता है। मेरे प्रति उन्होंने क्या अन्याय किया—कुछ भी तो नहीं। वह मेरे साथ दो साल तक पढ़े हैं, लेकिन दो वर्षों में एक दिन भी किसी तरह की बातचीत नहीं हुई। नमस्कार भी कभी-कभी, वह भी ज़बरदस्ती ही, हुआ है। यदि कभी वह पापा के पास आए, तो नमस्कार के अतिरिक्त हम दोनो में कोई आलाप नहीं हुआ। उन्होंने कभी यह भी नहीं पूछा कि पढ़ाई कैसी होती है। फिर उनसे क्या प्रत्याशा की जाय।

"वह देखने में कितने सुंदर, कितने सीधे और कितने उच्च हैं। उनकी प्रतिभा के सब क़ायल हैं। युनिवर्सिटी का रेकार्ड बीट किया है। पापा तो उन पर मुग्ध ही हैं, फिर भी कितने निरभिमान हैं। सबके प्रति वही सम्मान है, वही आदर है, और वही शिष्टता है। वह सर्वदा प्रसन्न-चित्त रहते हैं, और हँसी तो उनके मुख पर सदैव नृत्य किया करती है। वह कितने महान् हैं, कितने उच्च हैं, फिर भी मैं कहती हूँ कि उन्होंने मेरा अपमान किया है, और उसी के कारण आज मैं इतनी व्याकुल हूँ।

"उनके पिता करोड़पति हैं। कौन जाने उनके पास कितना धन है। उन्होंने इस देश में आने के बाद अब तक पचास लाख रुपयों का दान किया है, अनेक संस्थाओं को जीवन प्रदान किया है।

दो-तीन सोने की खानों के मालिक हैं, कोयले और लोहे की खानों पर भी अधिकार है। वह भी कितने सादे हैं, कितने सरल हैं, अभिमान छू तक नहीं गया। उन्होंने यह वैभव केवल अपने बुद्धि-बल और परिश्रम से उपार्जन किया है। वह इस देश से एक कुली होकर गए थे, और लौटे हैं करोड़पति या अरबपति होकर। कितने भाग्यशाली पुरुष हैं। वैसा ही इनका पुत्र भी तो है। वही सरलता, वही महत्ता, वही प्रतिभा, वही सहनशीलता और वही सरसता है। फिर भी उन्होंने मेरा अपमान किया है। मैं उन्हें बुलाती रही, उन्हें बुलाने के लिये दौड़ी गई, लेकिन वह वापस नहीं आए, और चले गए।

"मैं मानती हूँ, वह शर्मीले स्वभाव के हैं। आज तक मैंने उन्हें किसी लड़की से बात करते या उसकी ओर ताकते नहीं देखा। मैंने उन्हें सदैव अपने काम में निरत देखा। समय का एक क्षण भी नष्ट न करना, यह तो एक आश्चर्य की बात है। वह सदैव कुछ-न-कुछ पढ़ते रहते हैं। पापा उनकी बहुज्ञता की कई बार मुक्त कंठ से प्रशंसा कर चुके हैं। उन्हें प्रत्येक विषय में चामत्कारिक ज्ञान है। ऐसा प्रतिभाशाली युवक देखने में नहीं आया। मैं उनके विषय में क्या कहूँ, और कितना कहूँ, मैं स्वयं नहीं जानती।

"अच्छा, यह मालती कौन है, मालती से उनका क्या संबंध है? उनका कबसे परिचय है? मालती क्या मुझसे भी अधिक रूपवान् है? इन प्रश्नों का उत्तर कौन दे। वह दे सकते हैं, लेकिन उनसे पूछे कौन। और, क्या पूछने पर बता भी देंगे। मैं उनसे क्यों पूछूँ। वह मेरे कौन हैं, कोई नहीं। मुझे क्या अधिकार है कि मैं उनके 'प्राइवेट' जीवन के संबंध में कोई बात पूछूँ। अच्छा, मैं इतनी उद्विग्न क्यों होती हूँ। यह मेरी मूर्खता है। इससे बढ़कर शेख़-चिल्लीपना और क्या होगा। अगर मैं किसी से कहूँ कि वह मेरी

अवहेलना, नहीं, तिरस्कार करके चले गए, और मैं उस ग़मसे रोती रही, तो मेरी कितनी हँसाई होगी । मैं मूर्ख ही नहीं, वरन् महा-मूर्ख क़रार दी जाऊँगी ।

"धाय-मा ने सब व्यापार देखा है, उसने मेरी आँखों में आँसू भी देखे हैं, मेरा बौखलाना भी देखा है । उसने अपने मन में क्या ख़याल किया होगा । वह मेरे पास आई ही क्यों थी । उसे किसने बुलाया था । वह सत्तर बरस की बुढ़िया हो गई है, फिर क्यों मेरे पीछे-पीछे घूमती है । एकांत में बैठकर राम-राम क्यों नहीं करती । मेरे लिये क्यों इतना परेशान रहती है । वह मेरी कौन है । मेरी नौकर है । मेरी मा की दासी है, जो उनके साथ-साथ आई थी, और उनके मर जाने के बाद मेरी देख-रेख की । वह कहती है कि उसने अपना दूध पिलाकर बड़ा किया है, मुझे मरते-मरते बचाया है । बचाया होगा । वह छाया की तरह मेरे पीछे-पीछे क्यों लगी रहती है । उसने मुझे रोते हुए क्यों देखा । मैं उसे काशी भेज दूँगी । अपने पास नहीं रक्खूँगी । मैं अपना पहरेदार नहीं रखना चाहती । अब मैं बड़ी हो गई हूँ, एम्० ए० पास हो गई हूँ । क्या अपनी देख-रेख स्वयं नहीं कर सकती । मुझे उसकी सहायता की आवश्यकता नहीं । मैं कल ही उसे बिदा कर दूँगी । उसने मुझे रोते देखा है, उसे मेरी कमज़ोरी मालूम हो गई । मैं अब कैसे उसे मुँह दिखाऊँगी । जब वह मेरे पास बैठकर स्नेह से मेरी पीठ पर हाथ फेरेगी, और मेरे रोने का कारण पूछेगी, तो मैं क्या उत्तर दूँगी । मैं उसके मुँह पर तमाचा रसीद करूँगी । वह पूछना भूल जायगी ।

"वह बुढ़िया पूछेगी ज़रूर, और मैं उससे कुछ भी छिपा नहीं सकती । न-मालूम उसमें कौन-सा जादू है, जो मुझे उसका ऐसा ग़ुलाम बनाए हुए है । मुझे सब हाल कहना पड़ेगा । मुझे अपने ऊपर ज़रा भी विश्वास नहीं । उसकी मीठी-मीठी बातों के सामने

बिलकुल लाचार हो जाती हूँ, उसके स्नेह के आगे मेरा सिर अपने आप झुक जाता है। वह भी कितनी सरल है, कितनी स्नेहमय है। मेरे बिना वह एक पल भी जीवित नहीं रह सकती। मेरे प्रति उसका अगाध स्नेह है। शायद मेरी मा भी मुझे उतना नहीं चाहती थी, जितना वह चाहती है। किंतु मैं उससे आज के अपमान के बारे में कुछ नहीं कहूँगी। अगर वह पूछेगी भी, तो चुप रहूँगी।

"तो क्या सचमुच उन्होंने मेरा अपमान किया है। क्या यह जान-बूझकर किया है या अनजाने। उन्होंने जान-बूझकर मेरा तिरस्कार किया है। पापा जब उनसे किताब का प्रूफ़ देखने को कह गए थे, तब उन्हें बैठना तो उचित था। प्रूफ़ न देखते, लेकिन बैठते तो। मगर उनका मिज़ाज तो देखो, ज़रा देर भी न बैठे। उधर पापा गए और इधर वह भी चल दिए। मैं दौड़कर उन्हें बुलाने गई, लेकिन फिर भी लौटकर न आए। क्यों आएँ, वह तो मालती के यहाँ गए होंगे। मालती उनकी प्रतीक्षा में बैठी होगी, फिर मेरे पास बैठकर अपना अमूल्य समय क्यों नष्ट करें। मैं उनकी कौन हूँ, जो मेरा अनुरोध मानें।

"मैं अब उनके बारे में न सोचूँगी, और न कभी उनसे कोई बात ही करूँगी। अब तक कौन बातें करती थी, जो अब करूँगी। बस, इतना ही काफ़ी है। मैं उन्हें नहीं जानती, और वह मुझे नहीं जानते। बस, इससे अधिक घनिष्ठता बढ़ाना अच्छा नहीं। उन्हें अपनी विद्या, अपनी प्रतिभा, अपने ऐश्वर्य का अभिमान है। उनके सामने मैं भी नत नहीं होने की। मैं भी उनसे किसी भाँति हीन नहीं हूँ, उनसे तुच्छ नहीं हूँ, जो उनके गले पड़ूँ। अगर कुछ फ़र्क़ है, तो बस इतना कि उनके पिता करोड़पति हैं। होने दो। इससे मेरी हानि और मेरा लाभ क्या है। कुछ नहीं। फिर मैं क्यों आकुल होऊँ। कह दिया, अब न होऊँगी।

"अच्छा, यह मालती कौन है। सर रामकृष्ण की लड़की और मेरी सखी का नाम भी मालती है, परंतु उसका तो इसी वर्ष विवाह हो गया है। वह आजकल अपनी ससुराल में है। फिर यह मालती कौन है। एक बार पूछूँ भी। भला, देखूँ तो, वह कितनी सुंदर है।"

इसी समय उसके कमरे का दरवाज़ा किसी ने बाहर से खटखटाया।

आभा की विचार-धारा टूट गई। वह सिर उठाकर द्वार की ओर देखने लगी। फिर संयत होकर, गले को साफ़ करके पूछा—"कौन है?"

द्वार खटखटानेवाली गंगा थी, लेकिन उसने कोई उत्तर न दिया। उसने दुबारा किवाड़ों पर थपकियाँ दीं।

आभा ने किंचित् तीव्र स्वर से पूछा—"कौन है? मैं नाम पूछती हूँ। जवाब दो।"

गंगा ने देखा, विना उत्तर दिए द्वार न खुलेंगे, इसलिये धीमे कंठ से कहा—"मैं हूँ, तुम्हारी धाय-मा। रानी, दरवाज़ा खोलो।"

आभा ने सक्रोध कहा—"मैं नहीं खोलूँगी, जाओ। कह दिया, मुझे छेड़ो नहीं। बस कह दिया, जाओ।"

गंगा ने स्नेह-प्लावित मृदुल स्वर में कहा—"रानी, तेरी तबियत कैसी है? कुछ ख़राब तो नहीं हो गई? क्या डॉक्टर को बुला भेजूँ?"

आभा ने चिल्लाकर कहा—"कह दिया, तुम जाओ। मेरी तबियत ख़राब नहीं, लेकिन अगर तुम बहुत छेड़-छाड़ करोगी, तो ख़राब हो जायगी।"

गंगा ने मृदुल स्वर में कहा—"अच्छा, मैं जाती हूँ। बाहर कोई बैठा हुआ तुम्हारी बाट जोह रहा है, उससे क्या कह दूँ?"

गंगा के स्वर में तरल हास्य छिपा हुआ था।

आभा ने उत्कंठा के साथ पूछा—"कौन है?"

गंगा ने जाते हुए उत्तर दिया—"मैं नहीं जानती। तुम्हें ग़रज़ हो, तो जाओ, देख आओ।" कहकर वह मुस्किराती हुई चली गई।

आभा ने खीझकर कहा—"मैं नहीं जाती, मैं किसी की नौकर नहीं हूँ, जो दौड़ी जाऊँ।"

आभा चुपचाप लेटी रही। लेकिन मन फिर नहीं माना। कौन है, यह जानने के लिये उसका मन उद्विग्न हो उठा। वह हारकर उठी, और मुँह धोकर धीरे-धीरे कमरे के बाहर आई। गंगा का कहीं पता न था। वह दबे पैरों ड्राइंग-रूम की ओर गई। वहाँ किसी को न पाकर कुछ झुँझलाती हुई डॉक्टर नीलकंठ के कमरे की ओर चली गई।

---

(६)

आभा अपने पिता के कमरे के सामने आकर ठिठक गई। भीतर भारतेंदु अत्यंत मनोयोग के साथ प्रूफ़ देखने में संलग्न थे। आभा निःशब्द आई थी, परंतु फिर भी भारतेंदु की दृष्टि अनायास उसकी ओर हो गई। दोनो की आँखें चार हुई, और भारतेंदु कुछ मुस्कि-राती हुई दृष्टि से आदर के साथ उठ खड़े हुए। आभा का क्रोध जाग पड़ा। वह पीछे लौट पड़ी।

भारतेंदु ने सहास्य कहा—"क्षमा कीजिएगा, मेरे आने से आपको कष्ट हुआ। यहाँ से जाते-जाते मुझे याद आया कि डॉक्टर साहब प्रूफ़ देखने का आदेश दे गए हैं, इसलिये······" इसके आगे आभा ने कुछ नहीं सुना। वह तेज़ी के साथ अपने कमरे की ओर चली गई।

भारतेंदु ने मुस्किराकर स्वगत कहा—"नाराज़ हो गई।"

उन्होंने आभा के कमरे के पास आकर कहा—"क्या मैं भीतर आ सकता हूँ?"

आभा ने तीक्ष्ण स्वर में कहा—"नहीं, मुझे अभी अवकाश नहीं।"

भारतेंदु वहीं खड़े रहे। भीतर जाने का साहस नहीं हुआ।

आभा ने दरवाज़े की दराज़ से देखा, वह चुपचाप सिर झुकाए खड़े हैं। उसके क्रोध का उफान धीरे-धीरे शांत हो रहा था। उसने दरवाज़ा खोलते हुए कहा—"बोलिए, क्या काम है? मेरे पास थोड़ा ही वक्त है, जो कुछ कहना हो, जल्दी कहिए।"

भारतेंदु को कोई उत्तर न सूझ पड़ा। वह चुपचाप वैसे ही खड़े रहे।

आभा ने किंचित् रुक्ष स्वर में कहा—"चुपचाप क्यों हैं, आप क्या कहना चाहते हैं?"

भारतेंदु ने नत दृष्टि से कहा—"मैं आपसे क्षमा माँगने के लिये आया हूँ।"

आभा ने मुस्किराते हुए कहा—"मुझसे किस बात की क्षमा चाहते हैं? आपने मेरा कोई अपराध नहीं किया। न मुझे स्मरण होता है कि आपने कभी कोई अपराध किया है।"

भारतेंदु ने धीमे स्वर में उत्तर दिया—"अपराधी को अपना अपराध हमेशा ज्ञात रहता है। जिसका अपराध किया हो, वह चाहे भले ही उसे न जानता हो।"

आभा ने मुस्किराती हुई आँखों से कहा—"अच्छा, अब आप ही अपना अपराध बतलाएँ। अपने ही कथनानुसार आपको अपना अपराध तो अवश्य ही मालूम होगा।"

भारतेंदु ने कहा—"मैंने आपका तिरस्कार किया है।"

आभा ने साश्चर्य कहा—"तिरस्कार, मेरा तिरस्कार। मैं तो नहीं जानती।"

भारतेंदु ने कहा—"आपका हृदय विशाल है, आप नहीं जान सकतीं, परंतु मैं तो जानता हूँ।"

आभा ने मन-ही-मन संतुष्ट होते हुए कहा—"अच्छा, भीतर तशरीफ़ ले चलें। आपकी बातचीत से मेरी उत्सुकता जाग रही है। चलिए, अब थोड़ा-सा समय नष्ट करना ही पड़ेगा।"

भारतेंदु आभा के पीछे आकर एक कुरसी पर बैठ गए।

आभा ने दूसरी कुरसी पर बैठते हुए कहा—"हाँ, अब आप कहिए। आपने मेरा कौन-सा अपराध किया है?"

भारतेंदु उस कमरे में लगे हुए एक स्त्री के तैल-चित्र की ओर देखने लगे।

आभा ने मृदु हास्य-सहित कहा—"यह चित्र मेरी मा का है।"

भारतेंदु ने यह सुनकर उस चित्र को प्रणाम किया। आभा का मन कुछ शीतल हुआ।

भारतेंदु ने कहा—"इस चित्र से ममत्व और स्नेह की धार बह रही है। आपकी मा हैं, तो क्या मैं भी इन्हें अपनी मा कहकर पुकार सकता हूँ?"

भारतेंदु का कंठ अवरुद्ध हो गया, और आभा के हृदय की मलीनता बह गई।

भारतेंदु ने कहा—"मुझे अपनी मा का स्मरण नहीं। उनका कोई चित्र भी मेरे पास नहीं। मैं नहीं जानता, वह कैसी थीं। पिताजी से सुना है, वह दया, ममत्व और क्षमा का अवतार थीं। उन्होंने मेरे पिता के साथ बहुत ही ग़रीबी में दिन काटे थे। उस समय वह मज़दूर थे। दिन-भर की मज़दूरी के बाद तीन-चार आने मिलते थे, उसी में दोनो ज़िंदगी बसर करते रहे। इसके बाद जब पिताजी शर्तबंदी से मुक्त होकर स्वतंत्र नागरिक हुए, तो उन्होंने उस मज़दूरी के बचे हुए धन से एक मारवाड़ी के साझे में दूकान खोल ली। किसी तरह दिन व्यतीत होने लगे। कुछ साल बाद उन्होंने बर्मा आकर, थोड़ी-सी ज़मीन लेकर मिट्टी के तेल का कुआँ खोदा। भगवान् सदय हुआ, और व्यापार चमकने लगा। इसके बाद उन्होंने क्वीलैंड में कुछ ज़मीन ली, और वहाँ उन्हें एक अच्छी माणिक की खान मिल गई। इसी वर्ष मेरा जन्म हुआ। मेरे जन्म के दो वर्ष बाद वह मर गईं। मैंने उन्हें अपने होश-हवास में नहीं देखा, और न उनकी याद है। पिताजी ने इसके बाद संसार के सब भोग छोड़ दिए, परंतु व्यापार नहीं छोड़ा। वह अक्सर कहा करते कि जब दुःख के दिन थे, तब तो वह ज़िंदा रहीं, लेकिन सुख के दिन आने पर चली गईं, तब मैं ही अकेले कैसे

सुख भोग करूँ। वह मेरी मा के बारे में बातें करते-करते कभी थकते नहीं। अपनी मा को हालाँकि शरीर देखने का ख़याल तो नहीं है, परंतु कल्पना में उन्हें हमेशा ही देखा करता हूँ।"

आभा मंत्र-मुग्ध होकर सुन रही थी। उसने सहानुभूति के साथ कहा—"अब दुख करने से क्या फ़ायदा ?" भारतेंदु ने उस चित्र को पुनः प्रणाम किया।

आभा ने कहा—"सचमुच मा का स्नेह अनुपम है। मैं भी उसका स्वाद नहीं जानती, परंतु उसका कुछ-कुछ आभास धाय-मा के अटूट स्नेह से मिलता है। जब मैं दो बरस की थी, तभी मेरी मा मुझे इसी धाय-मा के हाथ में सौंपकर मर गई थीं। धाय-मा ने एक दिन भी मा का अभाव ज़ाहिर नहीं होने दिया। वह इस समय वृद्ध हैं, परंतु मेरे लिये वृद्ध नहीं। मैं तो मा के रूप में उन्हें ही जानती हूँ, और ईश्वर से प्रार्थना करती हूँ कि जब तक ज़िंदा रहूँ, तब तक वह भी जीवित रहें।"

भारतेंदु ने उत्तर दिया—"आपका यह सौभाग्य सदा रहे, यही मेरी भी प्रार्थना है।"

आभा ने बातों का सिलसिला बदलते हुए कहा—"अरे, यह तो बतलाया ही नहीं कि आपने मेरा कौन-सा अपराध किया है। बातों-ही-बातों में टाल दिया।"

भारतेंदु ने सिर झुकाकर कहा—"क्या वास्तव में आपको नहीं मालूम ?"

आभा ने हँसी दबाते हुए कहा—"जी नहीं, मुझे नहीं मालूम।"

भारतेंदु के गाल लाल हो गए, उन्होंने कहा—"आपकी अवहेलना की है, इसलिये क्षमा माँगता हूँ।"

आभा मन-ही-मन संतुष्ट तो हुई, परंतु उसने वह भाव प्रकाशित नहीं किया। भ्रू कुंचित करके कहा—"इसमें कौन-सा अपराध,

आपको कहीं ज़रूरी काम से जाना होगा, इसलिये न ठहरे होंगे। मुझे तो इसका कोई शोच नहीं, और न इससे कोई कष्ट ही हुआ। मैं नहीं जानती कि आप क्यों ऐसा कहते हैं ?"

भारतेंदु ने ससंकोच कहा—"ऐसा मेरा अनुमान था। आपको कुछ कष्ट नहीं हुआ, यह जानकर मेरे मन का क्षोभ तो ज़रूर नष्ट हो गया, परंतु मेरा व्यवहार तो किसी तरह संतोष-जनक या भद्र नहीं था, इसके लिये मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ।"

आभा ने गंभीरता के साथ कहा—"मुझे तो इसमें कोई अभद्रता नहीं देख पड़ती। आप अपने समय के स्वामी हैं, मनचाहा करने के लिये स्वतंत्र हैं, तब फिर क्यों आप व्यर्थ क्षमा माँगकर अपने को नीचे गिराते हैं ?"

उसके स्वर में व्यंग्य की खनखनाहट थी।

भारतेंदु ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह सिर झुकाए हुए बैठे रहे।

आभा ने कहा—"अच्छा, क्षमा पीछे माँगिएगा; यह तो बतलाइए, मालतीजी कौन हैं ?"

उसकी आँखों से शरारत झाँकने लगी।

भारतेंदु सुनकर कुछ चौंके, फिर कहा—"मैं नहीं जानता, मालतीजी कौन हैं। हाँ, याद आया, वह तो हम लोगों के साथ ही पढ़ती थीं। सर रामकृष्ण की पुत्री हैं। उनकी तो आपके साथ घनिष्ठ मित्रता थी, क्योंकि मैं अक्सर आप दोनो को साथ-साथ देखा करता था।"

आभा ने तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए कहा—"सिवा उनके क्या आप किसी अन्य मालतीजी को नहीं जानते ?"

भारतेंदु ने कुछ सोचते हुए कहा—"नहीं, मैं किसी अन्य मालती को नहीं जानता। उनसे भी मेरा कुछ विशेष परिचय नहीं। ऐसा

सुनने में आया है कि इसी वर्ष उनका विवाह हो गया है, और वह आजकल यहाँ नहीं हैं।"

आभा ने अपने प्रश्न को दुहराते हुए कहा—"तो क्या आप सत्य ही दूसरी मालती को नहीं जानते ?"

भारतेंदु ने दृढ़ कंठ से उत्तर दिया—"नहीं, मैं नहीं जानता।"

आभा ने पुनः पूछा—"तो क्या मैं आपका विश्वास करूँ ?"

भारतेंदु ने उसी तरह दृढ़ता से कहा—"हाँ, आप यक़ीन मानें, मैं किसी दूसरी मालती को नहीं जानता।"

आभा ने अपने ब्लाउज़ की जेब से वह रूमाल निकालकर भारतेंदु पर फेंक दिया, और तीक्ष्ण स्वर में पूछा—"इस रूमाल के कोने में 'मालती' लिखा हुआ है, बतलाइए, यह मालती कौन है ?"

भारतेंदु ने उसे उठा लिया, और मुस्किराकर कहा—"आप इस मालती को जानने के लिये उत्सुक हैं। ऐसी-ऐसी बहुत-सी मालतियाँ आपको 'टंडन-ब्रदर्स' की दूकान पर मिल जायँगी। यह रूमाल मैंने कल ही उसकी दूकान से ख़रीदा है।"

यह कहकर भारतेंदु ज़ोर से हँस पड़े। आभा शर्म से लाल हो गई। वह उन्हें वहीं छोड़कर कमरे के बाहर अपनी ग्लानि छिपाने के लिये चली गई। भारतेंदु वहीं बैठे-बैठे हँसते रहे।

पंडित मनमोहननाथ ने पान का बीड़ा देते हुए कहा—"डॉक्टर साहब, मैं कल ही यहाँ से कलकत्ते के लिये रवाना हो जाऊँगा, और वहाँ से सीधा फ़िज़ी के लिये चल दूँगा। दक्षिणी अमेरिका में खानवालों ने कुछ गड़बड़ी मचाई है। वहाँ भी मेरा जाना नितांत आवश्यक है। हालाँकि मैंने आज ही तार द्वारा इसकी सूचना अपने मित्र और शुरू जीवन के भागीदार कल्याणमल भंडारी को दे दी है, और उन्हें उस स्थान पर जाकर गड़बड़ ठीक कर देने का अनुरोध किया है, परंतु फिर भी जाना पड़ेगा।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"हाँ, जाना तो आपको पड़ेगा ही, लेकिन अब एक समस्या सामने आ गई है, उसे किस तरह सुलझाऊँ। मैंने जब से भारतेंदु से यह समाचार सुना है, तब से इसी हैस-बैस में हूँ।"

पंडित मनमोहननाथ ने उत्कंठा के साथ पूछा—"वह क्या है?"

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"कल ही युनिवर्सिटी की कार्यकारिणी समिति में सर्व-सम्मति से यह प्रस्ताव पास हुआ है कि आपको ऑनरेरी डॉक्टर की उपाधि से विभूषित किया जाय, और आप जा रहे हैं।"

पंडित मनमोहननाथ ने ज़ोर से हँसकर कहा—"मैं निरक्षर भट्टाचार्य क्या डी० लिट्० की उपाधि पाने योग्य हूँ। इससे बढ़कर और मज़ाक़ क्या हो सकता है?"

स्वामी गिरिजानंद की बैठक आजकल पंडित मनमोहननाथ के यहाँ ही रहती थी। वह भी इस समय मौजूद थे। उन्होंने सहास्य

कहा—"जनाब, यह सम्मान या पुरस्कार है, जो आपने अपने दस लाख रुपयों से ख़रीदा है।"

पंडित मनमोहननाथ और डॉक्टर नीलकंठ, दोनो हँसने लगे।

थोड़ी देर बाद पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"ख़ैर, मैं अपने को इस सम्मान के सर्वथा अयोग्य पाता हूँ, और न कभी मैं इसे स्वीकार कर सकता हूँ। हाँ, उस दिन मुझे वास्तविक गर्व होगा, जिस दिन भारतेंदु इस सम्मान को प्राप्त करेगा। पिता का हर्ष तो पुत्र के गौरव में सन्निहित है।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"भारतेंदु बहुत जल्द ही वह सम्मान प्राप्त करेगा, इसमें कोई संदेह नहीं।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"आज दो-तीन साल से मैं भी देख रहा हूँ, भारतेंदु-जैसे प्रतिभावान् छात्र बहुत कम देखने में आते हैं।"

पंडित मनमोहननाथ ने अपना गर्व दबाते हुए कहा—"यह तो ठीक है। स्वामीजी, मैंने ही इसका पालन-पोषण किया है। जब यह दो वर्ष का था, तब इसकी मा मर गई थी, और मुझे इसका भार वहन करना पड़ा। मैं इसका पिता और माता दोनो हूँ। अतएव इसकी उन्नति से मुझे दूना उत्साह और हर्ष प्राप्त होता है।"

डॉक्टर नीलकंठ ने पूछा—"आप कौन ब्राह्मण हैं?"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"मैं तो जाति-पाँति कुछ मानता नहीं, और न अब मेरी कुछ जाति ही है। मैं आज़ादी के साथ घूमता हूँ, आज़ादी के साथ खाता हूँ, और आज़ादी के साथ सबसे व्यवहार रखता हूँ। अँगरेज़, पारसी, मुसलमान, यहूदी और बौद्ध तथा जंगली जातियों के साथ खान-पान का व्यवहार रखता हूँ। अब अपनी जाति आपको क्या बतलाऊँ?"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"पंडितजी, जाति का संबंध शरीर

से नहीं, आचरण या कर्म से है। खाने-पीने या यात्रा करने से जाति का नाश नहीं होता। रह गया धर्म, उसका संबंध आत्मा से है। आत्मा जिस पर विश्वास करे, वही धर्म है। धर्म और आचार एक नहीं, दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। मौजूदा वक्त ने धर्म, आचार और जाति, तीनो को एक में मिला रक्खा है, जिसके सबब यह गड़बड़ी है।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कुछ लज्जित स्वर में कहा—"मेरा मतलब यह था कि आप......"

स्वामी गिरिजानंद ने हँसकर कहा—"बात यह है पंडितजी, डॉक्टर साहब की इच्छा है कि आभा का पाणिग्रहण भारतेंदु करें। इसीलिये इनका ऐसा प्रश्न था। मैं पहले कह चुका हूँ, मनुष्य सदैव से रूढ़ि का उपासक रहा है, उसका झुकाव हमेशा उसी ओर होता है।"

पंडित मनमोहननाथ ने प्रसन्न होकर कहा—"स्वामीजी, मैं यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार करता हूँ, परंतु......"

स्वामी गिरिजानंद ने बीच में बात काटकर कहा—"जब आप स्वीकार करते हैं, तब इसमें परंतु कैसा ?"

पंडित मनमोहननाथ ने गंभीर मुद्रा से कहा—"इसमें दो-तीन बातों का परंतु है। प्रथम तो यह कि मैं ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न हूँ अवश्य, परंतु मैं सबसे परित्यक्त हूँ। मैं कानपुर-ज़िले का रहनेवाला हूँ। अभी-अभी अपनी जन्म-भूमि गया था, वहाँ कोई भी मेरे साथ व्यवहार करने को तैयार नहीं हुआ। यहाँ तक कि ब्रह्मभोज में भी कोई ब्राह्मण शामिल नहीं हुआ। अंत में वह भोजन ग़रीबों और अनाथों को खिलाना पड़ा। दूसरे यह कि आभा और भारतेंदु की परस्पर सम्मति होनी चाहिए। तीसरे, मैं कुली-जाति का हूँ, और अंत तक कुली ही कहलाऊँगा, चाहे मैं कितना

ही अमीर क्यों न हो जाऊँ। अब आप सब बातें जानकर अपना मत निश्चय करें। हाँ, एक बात तो मैं कहना ही भूल गया कि भारतेंदु की माता, हालाँकि वह जाति से ब्राह्मण थी, फिर भी वह डीपोवालों से ले आई हुई कुली स्त्री थी ! मुझे यह भय है कि कहीं आभा को अपनी सास का परिचय देने में संकुचित या लज्जित न होना पड़े।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"प्रस्ताव करने के पहले हमने ये सब समस्याएँ सोच ली हैं। हम संकुचित विचार के नहीं, और हमारा हिंदू-परिवार इतना विशाल है, जितना विश्व या ब्रह्मांड। पंडितजी, आपके साथ तो हम लोगों को रहते बहुत दिन हो गए हैं, क्या आप इतना भी नहीं जान पाए ?"

पंडित मनमोहननाथ ने सहास्य कहा—"यह तो मैं जानता हूँ कि आप और डॉक्टर साहब हिंदू-समाज की विशालता को माननेवाले हैं, लेकिन डॉक्टर साहब के संबंधी तो हैं। क्या वे इस विवाह में आपत्ति न करेंगे ?"

डॉक्टर नीलकंठ ने दृढ़ स्वर में कहा—"मुझे उनके प्रतिरोध की परवा नहीं। आभा को सुखी करना मेरा परम धर्म है।"

पंडित मनमोहननाथ ने प्रसन्न कंठ से कहा—"तब मैं भी अपनी स्वीकृति देता हूँ। भारतेंदु को अगर कोई आपत्ति न होगी, तो मेरी ओर से यह संबंध निश्चित है। जहाँ तक मैं अनुमान करता हूँ, उसे कोई आपत्ति न होगी।"

स्वामी गिरिजानंद ने मुस्किराते हुए कहा—"मेरा भी अनुमान है कि दोनो में से किसी को भी आपत्ति न होगी, और न है।" यह कहकर वह हँसने लगे।

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"आज भारतेंदु ने जब आपके जाने की ख़बर बतलाई, तब आभा ने कहा, 'मैं भी संसार-भ्रमण करने जाना चाहती हूँ। उस समय तो मैंने उसे डाँट दिया था।"

पंडित मनमोहननाथ ने हँसते हुए कहा—"यह तो आपका अन्याय है। इससे अधिक सुख की बात मेरे लिये क्या होगी कि मेरी पुत्र-वधू मेरे साथ चलकर संसार-भ्रमण करे। स्वामीजी मेरे साथ ही जा रहे हैं, आभा के चलने से हमारा मनोरंजन होगा।"

डॉक्टर नीलकंठ ने साश्चर्य कहा—"स्वामीजी आपके साथ जा रहे हैं, यह मुझे नहीं मालूम।"

स्वामी गिरिजानंद ने उत्तर दिया—"हाँ, मैं पंडितजी के साथ जाऊँगा। इनका अपना जहाज़ है, और फिर फ़िजी-देश भी देखने को मिलेगा, जहाँ हिंदू-समाज एक दूसरे रूप में पनप रहा है। कौन जानता है, निकट भविष्य में वह भी अमेरिका की तरह संपन्न और सशक्त होकर हमसे अपना संबंध-विच्छेद न कर ले। इसलिये यह ज़रूरी है कि अभी से उससे संबंध रक्खा जाय। उसे दुरदुरा-कर भारत से दूर न हटाया जाय।"

डॉक्टर नीलकंठ ने मंद मुस्कान-सहित कहा—"मनुष्य बड़ा स्वार्थी होता है।"

स्वामी गिरिजानंद ने तुरंत ही उत्तर दिया—"इसी स्वार्थ का नाम ही तो मनुष्य है।"

पंडित मनमोहननाथ ने पूछा—"अच्छा, यह विवाह कब और कहाँ होगा?"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"विवाह यहीं लखनऊ में आगामी वर्ष होगा। हम लोग तो अभी करने को तैयार हैं, परंतु आपके जाने से हमें कुछ दिनों के लिये स्थगित करना पड़ेगा। अच्छा है, इस दर्म्यान भारतेंदु और आभा दोनो एक दूसरे के प्रति अनुरक्त हो जायँगे।"

पंडित मनमोहननाथ ने कुछ सोचते हुए कहा—"नहीं, मुझे क्या

आपत्ति है ? ठीक है, अगले वर्ष तक भारतेंदु कर्मशील संसार में प्रवेश करेगा ।"

इसी समय नौकर ने चाय का ट्रे लाकर उनके सामने रख दिया । पंडित मनमोहननाथ चाय बनाने लगे । डॉक्टर नीलकंठ ने आपत्ति की, परंतु उन्होंने नहीं माना ।

तीनों प्रसन्न मन से चाय पीने लगे ।

---

(११)

बिदा होते समय पंडित मनमोहननाथ ने भारतेंदु से कहा—"यदि तुम अपने को एक लक्षाधीश पिता का पुत्र समझते हो, तो बिलकुल ग़लत है। तुम्हें यह हमेशा याद रखना चाहिए कि तुम एक कुली के—ग़ुलाम के पुत्र हो, और तुम्हारे पास एक पैसा भी नहीं। यह धन, जो मेरे पास है, ग़रीबों का है—संसार के प्रत्येक मनुष्य का है। उसके भोगने का अधिकार न मुझे है, और न तुम्हें ही। कहीं यह न हो कि धन के गर्व में मदांध होकर तुम अपना कर्तव्य भूल जाओ। तुम्हारा कुटुंब समस्त हिंदू-जाति है, और इससे भी बृहत् मनुष्य-जाति। किसी भी मनुष्य के प्रति घृणा करोगे, या उसके अधिकारों को नष्ट करोगे, तो उसका प्रहार उस मनुष्य पर न होकर मुझ पर होगा, और तुम्हारे साथ मैं भी उत्तरदायी होऊँगा।"

भारतेंदु ने कोई जवाब नहीं दिया।

पंडित मनमोहननाथ फिर कहने लगे—"तुम कर्मशील संसार में शीघ्र ही आनेवाले हो। इस वर्ष तुम्हें डी० लिट्० की डिगरी मिल जायगी, इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं। मुझे यह भय है कि कहीं तुम्हारा दिमाग़ व्यर्थ की प्रशंसा सुनकर बिगड़ न जाय, और उस हालत में तुम अपने ही भाइयों पर, जो परिस्थितियों के शिकार हो रहे हैं, कोई अत्याचार न कर बैठो। इसलिये संयत होकर, विचार-पूर्वक अपनी हीन दशा को विचारते हुए कोई काम करना।"

भारतेंदु ने नम्र स्वर में कहा—"आज तक आपको कोई शिका-यत का मौक़ा न मिला है, और न मिलेगा। मैं जानता हूँ कि मैं एक

तिरस्कृत और ग़ुलाम-जाति में उत्पन्न हुआ हूँ, और उस जाति के अभिशाप वहन करने के लिये सर्वथा तैयार हूँ।"

पंडित मनमोहननाथ ने प्रसन्न होकर कहा—"तुम्हारे वचनों से मुझे संतोष होता है। आभा को तुम्हारी अर्द्धांगिनी बनाने का प्रस्ताव डॉक्टर नीलकंठ ने किया है, और मैंने उसे स्वीकार भी किया, इस शर्त पर कि जब तुम्हारी स्वीकृति होगी। इसलिये आभा को भी तुम अपनी स्थिति बहुत ही साफ़ शब्दों में बता देना। यदि कभी आभा को अपनी सास या अपने ससुर का परिचय देने में किसी भाँति का संकोच या लज्जा हो, तो तब तुम्हारा वैवाहिक जीवन नितांत कटु और नीरस हो जायगा, और उस वक़्त मुझे भी कष्ट होगा। इसकी ज़िम्मेवारी तुम्हारे ऊपर है। आजकल की लड़कियाँ चमकते हुए सोने को देखकर लट्टू हो जाती हैं, परंतु बाद में, उस धन का नाश होने पर, उन्हें पछताना पड़ता है, और फिर पति-पत्नी का जीवन बड़ा दुरूह होता है।"

भारतेंदु ने कोई उत्तर नहीं दिया।

पंडित मनमोहननाथ कहने लगे—"मैं यहाँ से सीधे फ़िज़ी जाऊँगा, और फिर वहाँ से दक्षिणी अमेरिका। तुम्हें अगर अवकाश मिले, तो मेरे पास चले आना। अगर आभा आना चाहे, तो उसे भी ले आना। तुम्हें छोड़ने की इच्छा तो नहीं होती, किंतु कार्य-वश जाना ही पड़ता है। आशा है, तुम अपना कुशल-समाचार हमेशा देते रहोगे, और......"

कहते-कहते उनका गला रुँध गया। वात्सल्य द्रवित होकर नेत्रों के बाहर निकलने का उपक्रम करने लगा। भारतेंदु का भी हृदय रोने के लिये आकुल हो उठा। उसे पिता के प्रेम की गहराई भली भाँति मालूम थी।

इसी समय डॉक्टर नीलकंठ, आभा और स्वामी गिरिजानंद भी

आ गए। उन्हें देखकर पंडित मनमोहननाथ ने अपने मन के भावों को रोक लिया।

स्वामी गिरिजानंद ने मुस्किराते हुए कहा—"आप तो बहुत पहले स्टेशन आ गए। हम लोग तो आपके घर गए थे।"

पंडित मनमोहननाथ ने हँसकर उत्तर दिया—"बहुत पहले तो नहीं, अभी थोड़ी ही देर हुई, जब आया हूँ। सामान वग़ैरह बुक कराना था, इससे कुछ पहले आना पड़ा।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"आप चाहे जितना छिपकर जाना चाहें, कभी जा नहीं सकते। देखिए, जहाँ लोगों को मालूम हुआ कि आप जा रहे हैं, सब लोग आपसे मिलने आ रहे हैं, और समय कम होने पर भी काफ़ी आदमी इकट्ठा हो गए हैं। देखिए, डॉक्टर पीतांबरदत्त, राजा साहब अनवरअलीख़ाँ, सर रामकृष्ण, मुंशी कालीसहाय प्रभृति ताल्लुक़ेदार और रईस, सभी आ रहे हैं।"

पंडित मनमोहननाथ ने सिर घुमाकर देखा, वास्तव में सौ-सवा सौ रईस और रईसज़ादे तथा माननीय सज्जन चले आ रहे थे। दोनो ओर से अभिवादन होने के बाद मुंशी कालीसहाय ने कहा—"वाह पंडितजी साहब, आप तो बिना ज़ाहिर किए हुए एकदम से चल दिए, जैसे कोई बेगाना जाता है। आज तक मैंने तो किसी भी मेहमान को इस तरह मुँह छिपाकर जाते नहीं देखा। देखता हूँ, लखनवी हवा का असर बिलकुल ही जाता रहा।"

पंडित मनमोहननाथ ने उत्तर दिया—"चूँकि अब यहाँ से जा रहा हूँ, इसलिये यहाँ की हवा आप लोगों के लिये ही छोड़े जा रहा हूँ। गुलामों के देश में इस आज़ाद हवा का गुज़र नहीं।"

सब लोग हँसने लगे।

राजा अनवरअलीख़ाँ ने कहा—"आपने एक दिन भी ग़रीब-ख़ाने पर तशरीफ़ लाकर हमें सरफ़राज़ नहीं किया, इसका ग़म तो हमेशा रहेगा।"

पंडित मनमोहननाथ ने कुछ शोक के साथ कहा—"इसका मुझे भी बहुत रंज है। इधर मुझे बहुत काम था, जिससे आपके दौलतख़ाने पर हाज़िर न हो सका। अब जब दुबारा आऊँगा, तो ज़रूर इस फ़र्ज़ को अदा करूँगा। उम्मीद है, आप माफ़ी बख़्शेंगे।"

डॉक्टर पीतांबरदत्त ने कहा—"अभी परसों ही यह निश्चित हुआ था कि आपको डी० लिट्० की ऑनरेरी डिगरी दी जाय, लेकिन अब देखता हूँ, पिता-पुत्र को एक ही साथ डिगरियाँ प्रदान की जायँगी।"

डॉक्टर पीतांबरदत्त हँसने लगे, और दूसरे लोग भी हँसने लगे।

सर रामकृष्ण ने कहा—"लखनऊ-युनिवर्सिटी की तवारीख़ में यह बात सुनहले अक्षरों से लिखी जायगी कि एक ही साल, एक ही दिन, बुज़ुर्ग व ज़ईफ़ वालिद और नौजवान बेटे को डी० लिट्० की डिगरियाँ मिली थीं।"

लखनऊ-स्टेशन का प्लेटफ़ार्म हँसी की प्रतिध्वनि से गूँज उठा।

राजा अनवरअलीख़ाँ ने हँसते हुए कहा—"क़सम ख़ुदा की, तमाम दुनिया की युनिवर्सिटियों को ऐसी ख़ुशक़िस्मती हासिल न हुई होगी। अजी जनाब, लखनऊ की बात हर सिम्त में लासानी है, यकता है।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"यह सौभाग्य भी तो किसी को आज तक न मिला होगा। दुनिया में तो यही देखने में आया है कि पिता के बाद पुत्र की बारी आती है, मगर यहाँ तो सारा तख़्ता ही उलटा है। पहले तो पुत्र को डिगरी मिलेगी, और बाद में पिता को।"

हास्य की ध्वनि फिर मुखरित होकर शून्य में विलीन होने लगी। मुंशी कालीसहाय ने कहा—"अजी,

लोग कहते हैं, ज़माना है बदलता अक्सर ;
मर्द वे हैं, जो ज़माने को बदल देते हैं।"

हँसी के गंभीर शब्द ने गाड़ी के आने की सूचना को छिपा लिया।

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"यह तो मेरा सौभाग्य है, और ईश्वर करे, यह सौभाग्य आप सब सज्जनों को मयस्सर हो, जिससे किसी को हिर्स न हो।"

इस बार की हँसी के ठहाके ने स्टेशन के सभी व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। इसी दर्म्यान गाड़ी आकर प्लेटफ़ार्म पर खड़ी हो गई।

पंडित मनमोहननाथ तीसरे दर्जे की ओर मुड़े। लोगों को आश्चर्य हुआ।

राजा अनवरअलीख़ाँ ने आश्चर्य के साथ कहा—"यह क्या पंडितजी, क्या आप तीसरे दर्जे में सफ़र करेंगे?"

पंडित मनमोहननाथ ने उत्तर दिया—"जी हाँ, मैं हमेशा तीसरे दर्जे में ही सफ़र करता हूँ। क्या करूँ, अगर चौथा दर्जा होता, तो उसमें सफ़र करता।"

मुंशी कालीसहाय ने कहा—"आख़िर यह क्यों? तीसरे दर्जे में सफ़र करने से बड़ी तकलीफ़ होती है। एक तो जगह की बड़ी क़िल्लत होती है, और दूसरे बहुत ही ज़लील लोगों के साथ बैठना होता है, जिससे तबियत बुरी तरह बिगड़ जाती है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"मैं तो जन्म से क़ुली हूँ, और क़ुलियों के जीवन का आदी हूँ। मुझे कोई तकलीफ़ इनके साथ जाने-आने में नहीं होती।"

भारतेंदु ने गाड़ी के भीतर चढ़कर सब सामान यथास्थान

लगा दिया। पंडित मनमोहननाथ सबसे हाथ मिलाकर बिदा लेने लगे।

जब डॉक्टर नीलकंठ की बारी आई, तो उन्होंने कहा—"डॉक्टर साहब, भारतेंदु की देख-रेख बराबर रखिएगा। उसका भार आपके ऊपर है।"

डॉक्टर नीलकंठ ने आश्वासन देते हुए कहा—"आप इसकी कुछ चिंता न करें। भारतेंदु तो अब आपका ही नहीं, मेरा भी है।"

आभा ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। उन्होंने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए सदैव सुखी होने का आशीर्वाद दिया। उस ममत्व-पूर्ण आशीर्वाद को सुनकर उसके नेत्र आर्द्र हो गए, जिन्हें छिपाने के लिये वह आतुर होकर उस भीड़ में छिप गई। गाड़ी छूटने का वक्त आ गया। पंडित मनमोहननाथ ने बैठते हुए सबको प्रणाम किया, और क्षमा-प्रार्थना की। भारतेंदु ने उनके चरण छूकर प्रणाम किया। उनका आशीर्वाद गाड़ी चल देने से सुन न पड़ा।

धूम का पुंज पीछे छोड़ता हुआ पेशावर-मेल अनेकों की शुभेच्छा लेकर चल दिया।

---

(१२)

कलकत्ते पहुँचते ही पंडित मनमोहननाथ ने भारतेंदु और डॉक्टर नीलकंठ को तार द्वारा सकुशल पहुँचने की ख़बर दी। इसके बाद उन सरकारी अफ़सरों से मिले, जिनसे जहाज़ छोड़ने के बारे में इजाज़त लेनी थी।

उनके जहाज़ का नाम था—'सुमित्रा', जो उनकी स्त्री का नाम था। यह कोई बड़ा या अद्भुत जलयान न था, बल्कि एक साधारण, वैज्ञानिक ढंग पर बना हुआ, अमीरों के घूमने लायक़ छोटा-सा जहाज़ था। पंडित मनमोहननाथ को समुद्र-यात्रा बहुत करनी पड़ती थी, इसलिये उन्होंने एक अमेरिकन कंपनी से मोल लिया था। पहले तो ब्रिटिश अधिकारियों ने कई प्रकार की अड़चनें उसके ख़रीदने और व्यवहार में डालीं, परंतु रुपयों के ज़ोर ने सबका मुँह बंद कर दिया, और उन्हें अधिकार मिल गया।

संध्या का आगमन मंथर गति से हो रहा था, जब पंडित मन-मोहननाथ का जलयान चलने की अंतिम सूचना देने लगा। पंडित मनमोहननाथ और स्वामी गिरिजानंद डेक पर खड़े होकर अस्त होते हुए सूर्य की सुनहली किरणों में स्नान कर रहे थे। चारो ओर शांति विराज रही थी, क्योंकि जानेवाले सभी जहाज़ बंदर छोड़कर चले गए थे।

जहाज़ अपना लंगर उठा ही रहा था कि उसके कप्तान ने आकर कहा—"इस वक़्त चलना ख़तरे से ख़ाली नहीं।"

पंडित मनमोहननाथ ने विस्मित नेत्रों से उसकी ओर देखकर पूछा—"क्यों?"

कप्तान एल्फ़्रेड जैकब्स ने, जो न्यूज़ीलैंड का रहनेवाला और

समुद्री वायु का विशेष रूप से ज्ञाता था, दक्षिण की ओर देखते हुए कहा—"दक्षिणी हवा कह रही है कि तीन-चार घंटे के अंदर-ही-अंदर तूफ़ान आनेवाला है।"

स्वामी गिरिजानंद ने मुस्किराते हुए कहा—"मालूम होता है, कप्तान बहुत गहरे पानी में हैं।"

हालाँकि उन्होंने यह बात हिंदी में कही थी, परंतु एल्फ्रेड जैकब्स उनका आशय समझ गया। उसका मुख लाल हो गया, जो अस्त हुए सूर्य की लालिमा से कुछ भयंकर मालूम होता था। उसने तीव्र स्वर में कहा—"महाशय, मैं शराब नहीं पीता। तमाम ज़िंदगी समुद्र में बीती है, इससे समुद्री वायु की गति भली भाँति जान गया हूँ। मुझे अपनी जान की फ़िक्र नहीं, परंतु उन आरोहियों की बहुत फ़िक्र है, जो हमारे जहाज़ पर हैं, जिनके जीवन का उत्तरदायित्व किसी अंश तक मेरे ऊपर है।"

स्वामी गिरिजानंद संकुचित होकर चुप हो गए।

पंडित मनमोहननाथ ने पूछा—"तूफ़ान क्या भयंकर मालूम होता है?"

एल्फ्रेड जैकब्स ने कहा—"हाँ, आसार तो ऐसे ही नज़र आते हैं। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि बहुत ज़बरदस्त तूफ़ान आने-वाला है, जिससे सकुशल बच जाना ज़रा मुश्किल है। व्यर्थ ही जान और माल की हानि होगी। मैं जहाज़ का लंगर डलवाए देता हूँ। यहाँ भी बड़ी मुश्किल होगी। ऐसा तूफ़ान मैंने शायद पहले कभी नहीं देखा। सिर्फ़ एक बार जब मैं दक्षिणी ध्रुव की ओर जा रहा था, तब मिला था। कौन कह सकता है, यह उससे भयंकर नहीं?"

पंडित मनमोहननाथ ने पूछा—"अच्छा, यह तूफ़ान कितनी देर तक ठहरेगा?"

एल्फ्रेड जैकब्स ने कुछ देर सोचने के बाद कहा—"एक या दो घंटे। इससे भी कम ठहर सकता है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"तो इससे मालूम होता है, हमें यहाँ पाँच-छ घंटे ठहरना पड़ेगा। अच्छा, हम तुम्हारी बात मानते हैं। जहाज़ का लंगर डाल दो, और पोर्ट के अधिकारियों को सूचित कर दो कि हमारा जहाज़ छ घंटे बाद रवाना होगा। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इन छ घंटों की कसर तुम्हें निकालनी पड़ेगी, और जहाज़ कुछ तेज़ी के साथ ले चलना पड़ेगा।"

एल्फ्रेड जैक्सन ने प्रसन्न-कंठ से कहा—"जी हाँ, मैं इस कमी को पूरा कर लूँगा। हमारा जहाज़ बहुत तेज़ चलनेवाला है। मुझे उम्मीद है, तूफ़ान के बाद समुद्र बिलकुल शांत हो जायगा, क्योंकि ऐसा हमेशा होता है। उस वक़्त हम तेज़ चल सकेंगे।"

यह कहकर वह पोर्ट के अधिकारियों को सूचित करने चला गया।

पंडित मनमोहननाथ और स्वामी गिरिजानंद सुदूर पश्चिम की ओर सूर्य की लालिमा देखने लगे, जो कुछ ही क्षण बाद बिलकुल अस्त होनेवाला था।

स्वामी गिरिजानंद ने निस्तब्धता भंग करते हुए कहा—"कप्तान अनुभवी व्यक्ति जान पड़ता है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"जी हाँ, बड़ा चतुर और अनुभवी है। इसके अलावा बड़ा स्वामिभक्त भी। आजकल के ज़माने में ऐसा आदमी मिलना मुश्किल है।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"हाँ, मालूम तो ऐसा ही होता है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"इसे मैंने दो बार मरने से बचाया है, तब से यह मेरा बड़ा भक्त है।"

स्वामी गिरिजानंद ने उत्सुकता से पूछा—"वह कैसे?"

पंडित मनमोहननाथ कहने लगे—"वह एक लंबी कहानी है।

संक्षेप में यह कि एक मर्तबा मैं इसके जहाज़ पर जापान जा रहा था। रास्ते में नाविकों ने विद्रोह कर दिया। उनकी इच्छा थी कि कप्तान को मारकर जहाज़ पर क़ब्ज़ा कर लें। यह ज़माना योरपीय महासमर का था। जर्मन जासूसों ने यह षड्यंत्र करवाया था, क्योंकि उस जहाज़ में जापान से लड़ाई का सामान इँगलैंड जा रहा था। यह षड्यंत्र उस समय हुआ था, जब जापान से सब सामान भर लिया गया था। जर्मन जासूसों की इच्छा थी कि जहाज़ मय अस्त्र-शस्त्र के जर्मनी भेज दिया जाय। जब मैं जापान में था, तब मुझे भारतीय षड्यंत्रकारियों से इसका पता चल गया था। जहाज़ पर आने और उन मल्लाहों की गति-विधि लक्ष्य करने से मुझे विश्वास हो गया कि सुनी हुई गप बिलकुल गप ही नहीं है। मैंने एक दिन एकांत पाकर इससे सब हाल कह दिया। कप्तान होशियार हो गया। उसने भी उनकी गति-विधि पर नज़र रक्खी, और अपनी बचत का प्रबंध भी किया। आख़िर ज्यों ही विद्रोह शुरू हुआ, कप्तान ने कुछ मल्लाहों की मदद से उस षड्यंत्र को दबा दिया, और कोलंबो पहुँचकर उन सबको क़ैद करवा दिया। तब से मेरा भक्त हो गया। इसके बाद जब मैं फिर इसी के जहाज़ से यात्रा कर रहा था, दस वर्ष पीछे, तब इटली के पास तूफ़ान में पड़कर वह जहाज़ टूट गया। उस समय भी मैंने अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर इसकी रक्षा की थी। इसके बाद हम लोग अमेरिका गए, और यह जहाज़ ख़रीद लिया। एल्फ़्रेड ने स्वयं इस जहाज़ का कप्तान होना स्वीकार किया, और मेरे पास नाम-मात्र वेतन पर काम करता है। इसे मैंने हमेशा ईमानदार और नेकनीयत पाया है।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"इसके परिवार में कौन-कौन है?"

पंडित मनमोहननाथ ने उत्तर दिया—"एक लड़की को छोड़कर और कोई नहीं। उसका नाम अमीलिया है। बड़ी ही सुंदर

और भोली लड़की है। वह भी सदैव इसी जहाज़ पर रहती है। अपनी मा के मरने के बाद कुछ दिनों तक आस्ट्रेलिया के सिडनी-नगर में शिक्षा पाई। बाद में आजकल अपने पिता के साथ रहती है। मैं आपसे उसका परिचय आज या कल करा दूँगा। आप उससे मिलकर प्रसन्न होंगे। स्वतंत्र वायु-मंडल में पलकर लड़कियों की प्रतिभा किस तरह विकसित होती है, यह आपको उसके देखने से मालूम होगा। वह पक्की निशानेबाज़ है, आज तक उसका लक्ष्य मैंने कभी चूकते नहीं देखा। तैराक भी औवल दर्जे की है। संगीत-विद्या का भी अच्छा ज्ञान है, और टेनिस तथा गॉल्फ़ की अच्छी खिलाड़िन है।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"इस संसार में स्वतंत्र जाति ही जीवित है। ग़ुलाम-जाति का कल्याण न तो इस लोक में है, और न दूसरे लोक में।"

पंडित मनमोहननाथ ने कुछ क्षुब्ध कंठ से कहा—"स्वामीजी, मैं किसी दूसरे लोक में ज़रा भी विश्वास नहीं करता, और साथ ही यह भी अनुरोध करता हूँ कि आप इस मिथ्या कल्पना को सत्य का रूप देकर भ्रम न फैलावें, और न युवकों का उत्साह नष्ट करें। इसी दूसरे लोक की कल्पना ने ही आज भारतवर्ष को ग़ुलाम बना रक्खा है, और जब तक यह भाव दूर न होगा, तब तक मुझे तो कोई आशा दिखाई नहीं पड़ती।"

स्वामी गिरिजानंद ने मुस्किराते हुए कहा—"आप दूसरे लोक में विश्वास नहीं करते, यह ठीक है; आप न करें, और न मैं अनुरोध करता हूँ, परंतु जो सत्य है, उसे मैं किस तरह दबा दूँ?"

पंडित मनमोहननाथ ने किंचित् रोष के साथ कहा—"आपने क्या दूसरा लोक देखा है, जो ऐसा कहते हैं? मैं तो उसी को सत्य मानता हूँ, जो आँखों से देखा जाय।"

स्वामीजी ने गंभीर होकर कहा—"बिलकुल सत्य है। लेकिन आप दूसरा लोक भी देख सकते हैं, परंतु देखते नहीं। यह तो आप मानते हैं कि इस जीवन के बाद भी कोई जीवन है, अथवा यही अंतिम जीवन नहीं है?"

पंडित मनमोहननाथ ने उत्तर दिया—"हाँ, यह मैं मानता हूँ।"

स्वामीजी ने हँसकर कहा—"तो बस, इस जीवन के बाद जो जीवन प्रारंभ होगा, वही दूसरा लोक है; जहाँ वह नए कार्य-क्रम से अपने पिछले जीवन में प्रारंभ किए हुए कर्म को पूर्ण करेगा। यह अकेला विश्व समग्र जीवों का मिलन-ग्रह नहीं है। दूसरे लोक भी हैं. जहाँ जीवन है, मसलन् मंगल-ग्रह। मुश्किल तो यह है कि हम अपने आप कुछ विचार नहीं करते और न अपने शास्त्रों को ही सत्य मानते हैं। हम लोग तो पहले से ही उन्हें मिथ्या कल्पना के आगार समझ चुके हैं। परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। एक तो हमारा बहुत-सा साहित्य जलाकर नष्ट कर डाला गया, और जो बचा है, उसे समझने की क्षमता हममें नहीं।"

पंडित मनमोहननाथ ने व्यंग्य के साथ कहा—"पुराणों की कपोल-कल्पना में क्या रहस्य छिपा है, ज़रा मैं भी सुनूँ।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"ये पुराण ही तो हमारी सभ्यता के ध्वंस-चिह्न हैं, जो किसी तरह बच गए हैं। असली बात यह है कि रूपक, काव्य और संकेत-सूत्रों ने हमारे शास्त्रों को हँसी का खिलौना बना रक्खा है। काव्य का इतना उच्चतम रूप हमें किसी भी भाषा में नहीं मिलेगा, जहाँ वैज्ञानिक तत्त्व भी काव्य में लिखे गए हैं, वहाँ इस विषय में कुछ कहना फ़िज़ूल है। काव्य का अंग रूपक है। रूपक की योजना इतने वैज्ञानिक ढंग और सत्यता से की गई है, जिसके जाल में मनुष्य फँस जाता है, और उसकी तह तक नहीं पहुँच पाता। उस मिथ्या रूपक को सार तत्त्व समझ लेता है। इसके अतिरिक्त हर-

एक वस्तु को यथासंभव धार्मिक रूप दिया गया है, और धर्म जीवन का प्रधान अंग माना गया है, जिससे वह जीवित रहे। इस संबंध में हमारे शास्त्रकारों को पूरी सफलता मिली। आजदिन भी वे रूपक और वे तत्त्व हमारे पास जीवित हैं। हालाँकि आज हम उनका मज़ाक़ उड़ाते हैं, परंतु वे मौजूद हैं, यही संतोष की बात है। इसी सबब से हिंदू-जाति अब तक जीवित है, जब कि दूसरी जातियों या उनकी सभ्यता का कहीं कोई अस्तित्व ही नहीं मिलता। पुराणों में हमारा आंशिक इतिहास है, और अनुभूत तथा सत्य तत्त्वों के रूपक हैं, जो धर्म और आचार के साथ इस तरह आबद्ध हैं कि हम उन्हें अलग नहीं कर सकते।"

इसी समय कप्तान एल्फ्रेड जैकब्स ने आकर कहा—"देखिए, मेरा कहना बिलकुल सत्य है। पोर्ट के अधिकारियों को भी 'बैरोमीटर' यंत्र से मालूम हुआ है कि कोई ज़बरदस्त तूफ़ान आनेवाला है।"

पंडित मनमोहननाथ ने पूछा—"तो क्या हम लोगों को पृथ्वी पर चलकर ठहरना उचित है?"

कप्तान ने जवाब दिया—"हाँ, उचित तो यही मालूम होता है। अगर तूफ़ान का ज़ोर ज़्यादा हुआ, तो यहाँ ठहरना किसी तरह भी निरापद् नहीं।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"तब तो हम लोग डाक्स पर ही वापस जायँगे। आप भी हमारे साथ चलें। अच्छा, अमीलिया कहाँ है? अभी तक दिखाई नहीं पड़ी।"

एल्फ्रेड जैकब्स ने जवाब दिया—"अमीलिया आज कई दिनों से बीमार है, यह कहना तो मैं भूल ही गया। आज उसकी तबियत कुछ अच्छी है, लेकिन कैबिन में लेटी हुई आराम कर रही है।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"अब आप क्या वापस जायँगे। यहाँ ठहरने में क्या हानि है?"

पंडित मनमोहननाथ ने मुस्किराते हुए कहा—"यहाँ रहने से दूसरे लोक में जाने की बहुत शीघ्र संभावना हो सकती है, यहाँ तक कि शायद पासपोर्ट लेने की भी आवश्यकता न पड़े।"

स्वामी गिरिजानंद ने हँसते हुए कहा—"दूसरी दुनिया में जाने का पासपोर्ट मैं उसी तरह अपने पास तैयार रखता हूँ, जिस तरह इस दुनिया में कहीं जाने का। यह जीवन ही अंतिम जीवन नहीं है, और न मरण मेरा मरण है। मैं तो सदैव जीवित हूँ। यह संभव है, किसी लोक में इस शरीर के टिकट से मेरा प्रवेश न हो सके, इसलिये दूसरा टिकट कटाना पड़े।"

पंडित मनमोहननाथ ने सहास्य कहा—"स्वामीजी, आप तो वेदांत की टाँग हर जगह लड़ाते हैं।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"वेदांत ही तो जीवन की सत्यता है, इसे अलग करना अपने निजत्व को भूल जाना है।"

अमीलिया और कप्तान आते हुए दिखाई पड़े। अमीलिया तेईस बरस की निर्दोष सुंदरी थी। उसके हृष्ट-पुष्ट अंग उसके रूप को अधिक लावण्यमय बना रहे थे। उसने उनके पास आकर मधुर मुस्कान से अभिवादन किया।

पंडित मनमोहननाथ ने प्रसन्नता के साथ पूछा—"तुम्हारे पापा से मालूम हुआ कि तुम्हारा शरीर कुछ अस्वस्थ है, यह जानकर मुझे दुःख हुआ। अब तुम्हारी तबियत कैसी है?"

अमीलिया ने मंद मुस्किराहट के साथ कहा—"धन्यवाद! अब अच्छी है। पापा कहते हैं, एक ज़बरदस्त तूफ़ान आनेवाला है, जिससे हम लोग अभी चल न सकेंगे, और इसी भय से हम लोग पृथ्वी पर पुनः जाते हैं।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"हाँ, तुम्हारे पापा तो यही कहते हैं। डाक्स पर चलकर आश्रय लेने का प्रस्ताव तो मेरा ही है।"

अमीलिया ने उत्तर दिया—"तब तो चलना ही पड़ेगा। दूसरे यात्री तो डाक्स तक पहुँच गए, अब हमारी बारी है। चलिए।"

इसके बाद चारों व्यक्ति छोटी नौका पर बैठकर तट की ओर चल दिए। सुदूर पूर्व दिशा से कालिमा फैलकर अंतरिक्ष के साथ पृथ्वी और सागर को भी ढकने का प्रयत्न करने लगी।

---

(१३)

प्रातःकाल के पाँच बज रहे थे, जब पंडित मनमोहननाथ का जहाज़ कलकत्ते से रवाना हुआ। पूर्व दिशा में आलोक की प्रथम रश्मि निशा का अंधकार भेदकर निद्रा-निमग्न संसार को मौन भाषा में नव-जीवन का संदेश दे रही थी। पक्षियों ने वह संदेश सुना, और वे अपनी भाषा में मानव-समाज तक पहुँचाने का प्रयत्न करने लगे। नील रत्नाकर भी रात-भर की परेशानी के बाद क्लांत होकर निष्पंद हो गया था। प्रकृति उस रात के तूफ़ान को भूलकर नव-क्रीड़ा में लीन होने की तैयारी में लग गई।

स्वामी गिरिजानंद मुग्ध होकर प्रकृति का वह सुख-साज देख रहे थे। वह इस समय कुछ भावुक-से मालूम होते थे। उनके शरीर की रोमावलि खड़ी होकर उनके मन के भावों को समझने का प्रयत्न कर रही थी। वह देख रहे थे कि कैसे प्रभात की किरणें अंधकार का नाश करती हैं—वह चीण रेखा किस प्रकार धीरे-धीरे आकाश को भेदती हुई पश्चिम के अंधकार में लीन हो रही थी। उषा का मनोहर नृत्य आकाश को ही नहीं चकित कर रहा था, वरन् सागर को भी चैतन्य करने के लिये उपक्रम कर रहा था। प्रकृति का वह दृश्य वास्तव में सुहावना था।

जैसे ही जहाज़ ने लंगर उठाया, उनका मन एक नवीन आह्लाद से मुखरित हो उठा। उनका प्रेम मातृभूमि के प्रति प्रकट होने लगा। उन्होंने नत-जानु होकर जननी-जन्म-भूमि को प्रणाम किया। वह प्रेम द्रवित होकर आँखों से स्वतः बाहर निकलने लगा। स्वदेश त्याग करने का यह पहला अवसर उनके जीवन में नहीं था,

फिर भी न-जाने क्यों आज वह विशेष रूप से समोहित हुए थे। इस बार का जाना निरुद्देश है, पहले किसी कार्य से होता था। परंतु आज तो केवल किसी अनजान और अदृश्य शक्ति से खिंचकर जा रहे थे। कौन कह सकता है, उनके भविष्य-जीवन में क्या है? उन्होंने गद्गद कंठ से 'वंदे मातरम्' का घोष कर प्रणाम किया। जननी-जन्म-भूमि ने अपना आशीर्वाद एक क्षीण प्रतिध्वनि के साथ दिया।

पूर्व दिशा की आलोक-रेखा शनैः-शनैः बृहत्काय हो रही थी। उषा का नृत्य समाप्त हो चुका था, और अब प्रकाश अपने श्वेत अश्व पर सवार होकर नक़ीब की तरह सूर्य भगवान् के आगमन का संदेश कहता हुआ पश्चिम दिशा को जा रहा था। जहाज़ अब किनारे से बहुत दूर आ गया था, और पृथ्वी का तट किसी ओर भी नहीं दिखाई पड़ता था। प्रकाश की आभा के साथ नील रत्नाकर का वर्ण सुंदर धूमिल दृष्टिगोचर होता था। सागर के वक्ष पर नाचती हुई लहरें उत्कंठा के साथ अंशुमाली की प्रतीक्षा में अधीर होकर, बार-बार जहाज़ से टकराती और झूमकर फिर गिर पड़तीं। स्वामी गिरिजानंद यह दृश्य देखकर हँस पड़े।

पंडित मनमोहननाथ ने पास आकर कहा—"क्या है स्वामीजी, आपके हँसने का क्या कारण?"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"हँस रहा हूँ मैं मनुष्य-जाति के मिथ्या अभिमान पर। आजकल थोड़ी वैज्ञानिक उन्नति ने अहंकार के पुतले मनुष्य को कितना मदांध बना रक्खा है। कल ही प्रकृति का केवल एक अनुचर, नगण्य सेवक वायु, अपने साधारण प्रगति-मार्ग से जुदा हुआ, और एक प्रलय-काल की भयंकर अवस्था उपस्थित हो गई। मनुष्य का वह दर्प क्षण-भर ही में नष्ट हो गया। न-मालूम कल कितने जीव अपने जीर्ण कलेवर को छोड़कर

नवीन शरीर में प्रविष्ट हुए। क्षुद्र मनुष्य फिर भी प्रकृति का शासक होने या उसे ग़ुलाम बनाने की डींग मारता है।"

पंडित मनमोहननाथ ने मुस्किराते हुए कहा—"आज तो आप बड़े भावुक मालूम होते हैं।"

स्वामी गिरिजानंद ने एक क्षीण मुस्कान-सहित कहा—"नहीं, भावुक तो नहीं हूँ। अगर सत्य को स्पष्ट रूप से कहना भावुकता है, तो बेशक मैं भावुक हूँ।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"प्रकृति और मनुष्य का झगड़ा कुछ नया नहीं। सृष्टि के आदि से इन दो शक्तियों में विरोध चला आ रहा है। कभी किसी की जीत होती है, और कभी किसी की। कभी तो मनुष्य अपनी शक्तियों से इसे अपना ग़ुलाम बना लेता है, और कभी प्रकृति अपनी शक्तियों से मनुष्य का नाश कर देती है। इस संघर्ष का नाम ही सृष्टि है, जीवन है, और विनाश है।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"अच्छा, मैं यह स्वीकार करता हूँ, परंतु मैं आपसे यह पूछता हूँ कि तूफ़ान रोकने का कौन-सा साधन मनुष्य के पास है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"यदि मनुष्य ने ऐसे यंत्रों का आविष्कार कर लिया है, जो उसके आगमन की सूचना घंटों पहले बतला देते हैं, तो बहुत शीघ्र ही इसके निवारण का उपाय भी वही मनुष्य निकट भविष्य में कर लेगा। यह भी संभव है कि वह इच्छानुसार तूफ़ान प्रकट करे, और उन्हें अंतर्हित कर दे। इच्छानुसार पानी बरसा ले, और बंद कर दे।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"यह सब संभव है। परंतु क्या वह प्रकृति के रौद्र रूप या तांडव नृत्य को बंद कर सकता है?"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"कौन कह सकता है कि वह आगे समर्थ न होगा। शक्ति का ह्रास कभी नहीं होता।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"दरअसल बात यह है कि जब तक मनुष्य प्रकृति का सहयोग मित्र भाव से न प्राप्त करेगा, तब तक उसका कल्याण नहीं। जितने भी आविष्कार हुए हैं, वे प्रकृति के सहयोग से चलते हैं। जहाँ प्रकृति से असहयोग हुआ, वे आविष्कार बिलकुल व्यर्थ हो जाते हैं।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"जिसे आप सहयोग कहते हैं, उसे मैं गुलामी कहता हूँ। प्रकृति मनुष्य के साथ उसी हालत में सहयोग करेगी, जब वह गुलाम बना ली जायगी।"

इसी समय अमीलिया ने आकर कहा—"कल तूफ़ान बड़ा ज़बरदस्त था। जैसा पापा कहते थे, वैसा ही भयंकर था।"

स्वामी गिरिजानंद ने स्नेह-पूर्ण स्वर में कहा—"तुम्हारे पापा बड़े अनुभवी पुरुष हैं, मिस जैकब्स।"

अमीलिया अपने पिता की प्रशंसा से प्रसन्न होकर बोली—"जी हाँ, उनका सारा जीवन समुद्र में बीता है। वह एक महीने से ज़्यादा पृथ्वी पर कभी नहीं रहे। समुद्री हवा से उनका सारा शरीर समुद्र की तरह खारा हो गया है।" यह कहकर वह हँसने लगी।

पंडित मनमोहननाथ ने हँसते हुए कहा—"उनका शरीर खारा तो हो गया, लेकिन स्वभाव तो मीठा है।"

अमीलिया ने मुस्किराते हुए कहा—"हाँ, स्वभाव तो बड़ा ही प्रेममय है। ऐसा पिता होना मुश्किल है।"

स्वामी गिरिजानंद ने पूछा—"तो क्या तुम्हारे पिता तुम्हें बहुत प्यार करते हैं?"

अमीलिया ने उत्तर दिया—"जी हाँ, वह मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"अगर हम लोग कल समुद्र में तूफ़ान के वक़्त होते, तो हम पर बड़ी विपत्ति आती।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"इसमें क्या शक है। न-मालूम क्या होता।"

अमीलिया ने विश्वास दिलाते हुए कहा—"मुझे तो यक़ीन है, पापा किसी-न-किसी तरह ज़रूर सँभाल लेते। वह मुझसे कई ऐसे तूफ़ानों का ज़िक्र कर चुके हैं, जिनमें से सफलता-पूर्वक वह निकल आए। तूफ़ान से लड़ने की उनमें अपूर्व क्षमता है।"

किसी ने थोड़ी देर तक कुछ न कहा। तीनो शांत होकर सूर्य का उदय देखने लगे।

थोड़ी देर बाद अमीलिया ने पूछा—"मिस्टर भारतेंदु क्या न आएँगे? वह क्या हमेशा भारत में रहेंगे?"

पंडित मनमोहननाथ ने उत्तर दिया—"भारतेंदु तीन-चार महीने में आएगा। तुमसे उसका साक्षात् हुए बहुत दिन हो गए।"

अमीलिया ने अपने मन की आह छिपाते हुए कहा—"जी हाँ, बहुत दिन हो गए। मा के मरने के बाद जब मैं फ़िज़ी आकर कुछ दिन आपके यहाँ रही थी, तब उन्हें देखा था, और फिर उनके भारत चले जाने के बाद आज तक नहीं देखा। एक बार जब वह फ़िज़ी आए थे, तब मैं आस्ट्रेलिया में पढ़ती थी।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"मेरे जाने पर उसने तुम्हारी कुशलता का हाल तो दरयाफ़्त किया था। अमीलिया, यह जानकर तुम्हें प्रसन्नता होगी कि आगामी वर्ष तक उसका विवाह होनेवाला है।"

अमीलिया ने अपने मन की वेदना छिपाने का बहुत यत्न किया, परंतु मुख विवर्ण हो ही गया। उसने रेलिंग का सहारा लेकर अपने को सँभाल लिया। स्वामी गिरिजानंद की तेज़ निगाहों से कुछ बच न सका। उन्होंने करुणा-पूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखा।

पंडित मनमोहननाथ ने अमीलिया की घबराहट देखकर पूछा—"क्या बात है अमीलिया? क्या कुछ तबियत ख़राब है?"

अमीलिया ने आत्मदमन करते हुए कहा—"जी हाँ, तबियत मेरी कई दिनों से ख़राब है। मैं अब जाकर आराम करूँगी। क्षमा कीजिएगा।" यह कहकर अमीलिया तेज़ी के साथ चलकर अदृश्य हो गई।

स्वामी गिरिजानंद ने उसकी ओर देखते हुए कहा—"विचित्र लड़की है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"जी हाँ, यह बड़ी भावुक है। इसे संगीत और कविता से प्रेम है। स्वयं भी कुछ गीत लिखती और उन्हें गाती है। बड़ी ही सरस और सहृदय है। एक बार भारतेंदु फ़िज़ी में बहुत बीमार पड़ गया था, उसके बचने की आशा नहीं थी। अमीलिया उन दिनों मेरे यहाँ रहती थी। इसने बड़ी तत्परता से उसकी सेवा-शुश्रूषा की थी। मैं तो यही कहूँगा कि इसकी सेवा से भारतेंदु पुनर्जीवित हुआ था। तब से मैं भी इसे अपनी कन्या के समान मानता हूँ।"

स्वामी गिरिजानंद ने पूछा—"यह कितने दिनों की बात है?"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"यही चार-पाँच वर्षों की बात है। भारतेंदु के भारत जाने के पहले की बात है, उस समय उसकी अवस्था लगभग १६ वर्ष के होगी।"

स्वामी गिरिजानंद ने केवल अस्फुट स्वर में कहा—"हूँ।"

दोपहर तक जहाज़ बंगाल की खाड़ी के मध्य भाग में पहुँच गया। जहाज़ बड़ी तेज़ी से जा रहा था, छोटा होने से वह बड़ी शीघ्रता से जल-राशि को काटता हुआ चला जाता था।

पंडित मनमोहननाथ और स्वामी गिरिजानंद एक ही कमरे में बैठे हुए भोजन कर रहे थे कि कैप्टेन एल्फ़्रेड जैकब्स ने आकर कहा—"थोड़ी दूर पर एक छोटी नाव बही जा रही है, जिसमें केवल दो स्त्रियाँ मालूम होती हैं। मुझे तो ऐसा विदित होता है

कि कल के तूफ़ान में कोई जहाज़ डूब गया है, और केवल ईश्वर की इच्छा से ये दो स्त्रियाँ उस डूबे हुए जहाज़ की ख़बर बताने के लिये जीवित बच रही हैं। मैंने एक नौका, उन लोगों को लेने के लिये, चतुर नाविकों के साथ भेजी है।"

पंडित मनमोहननाथ भोजन समाप्त कर चुके थे। उन्होंने कैबिन के बाहर निकलते हुए कहा—"यह काम तुमने बड़ा अच्छा किया कैप्टेन। जहाज़ को ठहरा देना वाजिब होगा, और एक दूसरी नाव उनकी सहायता के लिये भेज दो।"

स्वामी गिरिजानंद और वह दोनो डक पर आकर उस नाव को देखने लगे, जिस पर प्रलयकारी तूफ़ान से बचकर माधवी और राधा किसी तरह दस-बारह घंटे से अपनी जीवन-रक्षा कर रही थीं। माधवी तो अब तक बेहोश थी, लेकिन राधा प्यास से छटपटा रही थी। उसके पास पीनेवाला एक बूँद पानी न था। उसने दो बार प्यास की तड़पन से समुद्री जल पीना चाहा, परंतु एक घूँट मुँह में लेते ही उसे तुरंत उगलना पड़ा। क्षार से उसकी प्यास और बढ़ गई।

पंडित मनमोहननाथ ने जहाज़ को जाते देखकर उसने अपनी श्वेत धोती का पल्ला हिलाया, जिसे कप्तान जैकब्स ने देख लिया, और सहायता के लिये नाव भेज दी।

पंडित मनमोहननाथ देखने लगे—उनकी नाव उस छोटी-सी नाव के पास पहुँच गई, और दूसरे ही क्षण उन दो स्त्रियों को उठाकर उसमें बिठा दिया गया, और वह उसे लेकर आने लगी। थोड़ी देर में राधा, अचेत माधवी के साथ, जहाज़ पर आ गई। जहाज़ पर आते ही उसने पानी माँगा। पानी पीने से वह कुछ स्वस्थ हुई। स्वस्थ होने पर वह पंडित मनमोहननाथ के सामने लाई गई। उन्होंने बड़ी करुण दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए पूछा—"देवी, तुम कौन हो, और किस तरह इस मुसीबत में फँस गईं?"

राधा ने धीमे स्वर में कहा—"मैं कौन हूँ, इसका परिचय तो बाद में दूँगी। इस समय इतना ही कहना काफ़ी होगा कि हम लोग कल कलकत्ता से रवाना हुए थे, और फ़िज़ी जा रहे थे। रास्ते में शाम को एक भयंकर तूफ़ान आया, जिससे हमारा जहाज़ डूब गया, और मैं सिर्फ़ एक दूसरी स्त्री के साथ बची हूँ। वह दूसरी स्त्री सिर में चोट लग जाने से बेहोश है। उसका इलाज शीघ्र होना चाहिए।"

पंडित मनमोहननाथ ने पूछा—"क्या तुम भारत की रहनेवाली नहीं हो?"

राधा ने जवाब दिया—"हूँ तो मैं भारतीय, परंतु मेरा जन्म फ़िज़ी में हुआ है। वहाँ भारतीय स्त्रियाँ लाने की जो गुप्त संस्था है, उसकी नौकर हूँ। वह संस्था भारत से स्त्रियों को लाती है, और उन्हें फ़िज़ी तथा आस-पास के द्वीप-समूह में बेचने का व्यवसाय करती है। पेट की ज्वाला शांत करने के लिये यह नीच व्यवसाय मुझे करना पड़ता है।"

पंडित मनमोहननाथ ने भ्रू कुंचित करके पूछा—"वह स्त्री, जो तुम्हारे साथ है, कौन है?"

राधा ने निस्संकोच कहा—"वह भारत से भगाई हुई एक सुंदरी है, जो ग़ुलाम बनाकर कहीं बेची जाती।"

पंडित मनमोहनाथ ने पूछा—"वह जहाज़ किसका था, और उसमें कितने आरोही थे?"

राधा ने जवाब दिया—"वह डीपोवाला जहाज़ था, और उसमें नाविक और ख़रीदे हुए ग़ुलाम मिलाकर लगभग २०० मनुष्य थे। वे सब-के-सब मय कप्तान के डूब गए।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"चलो, यह अच्छा हुआ। पाप के व्यापार का अंत शुभ ही हुआ है।"

उनके मुख पर व्यंग्य की एक अद्भुत हास्य-रेखा थी।

द्वितीय-खंड

(९)

उस दिन से आभा ने भारतेंदु से बोलना बंद कर दिया। अगर वह सामने पड़ते, तो वह तुरंत आँखों से ओट हो जाती। डॉक्टर नीलकंठ ने इस ओर कुछ ध्यान न दिया। वह तमाम दिन अपनी पुस्तकें लेकर उन्हीं में लीन रहते। अलबत्ता उसकी धाय गंगा ने इसे लक्ष्य किया। डॉक्टर नीलकंठ ने आभा और भारतेंदु के विवाह-संबंध की सारी बातें उसे बता दी थीं, और वह उसकी स्वीकृति भी ले चुके थे।

एक दिन गंगा ने आभा को एकांत में देखकर कहा—"क्यों रानी, तुम आजकल हम सब लोगों से छिटकी-छिटकी क्यों रहती हो?"

आभा ने भिड़ककर कहा—"चुप रहो। हमेशा बेसिर-पैर की बातें अच्छी नहीं लगतीं। मैं क्या किसी की नौकर हूँ, जो हर वक़्त हाज़िरी में खड़ी रहूँ।"

गंगा ने मुस्किराते हुए कहा—"तुम क्यों किसी की नौकर होगी? मैं नौकर होने की बात कब कहती हूँ। नौकर तो मैं हूँ।"

आभा ने सरोष कहा—"तुम नौकर होतीं, तो इस तरह सिर न चढ़तीं।"

गंगा के दिल में आभा की बात लग गई। उसने अपना मुख फिरा लिया।

आभा ने अपने दोनो हाथ उसके गले में डाल दिए, और प्रेम के साथ उसके हृदय से लग गई। गंगा का सारा अभिमान उसी क्षण गलकर बह गया।

उसने आभा को हटाते हुए कहा—"अरे, क्या करती हो! कोई नौकर को इस तरह सिर चढ़ाता है।"

आभा ने उसे छोड़ा नहीं। वह और ज़ोर के साथ उससे चिपट गई।

गंगा ने उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—"रानी, तेरा लड़कपन अभी तक नहीं गया। अगर तेरा विवाह हो गया होता, तो तू अब तक चार बच्चों की मा होती। देखती हूँ, नाती खिलाने की साध लेकर चली जाऊँगी।"

आभा ने मंद मुस्कान-सहित कहा—"तुम अभी नहीं मरोगी। मुझे मारकर मरोगी।"

गंगा ने सक्रोध कहा—"अगर ऐसी बात फिर कभी मुँह से निकाली, तो मैं, सच कहती हूँ, गोमती में जाकर डूब मरूँगी। मुझे ऐसी बातें अच्छी नहीं लगतीं। बिटिया (आभा की मा) की तरह मैं भी तुम्हारे सामने मर जाऊँ, तो मेरा जन्म सुधर जाय। अब तो सिर्फ़ एक हवस बाक़ी है, वह तुम्हारे विवाह की। बिटिया मरते-मरते कह गई थीं कि मेरी रानी का विवाह तुम बड़ी धूम-धाम से करना, मैं स्वर्ग से देखने आऊँगी। बिटिया जानती थीं कि बाबूजी (डॉक्टर नीलकंठ) अपना दूसरा विवाह कर लेंगे, इस-लिये तेरे लिये बहुत दुःखित रहती थीं। मैं हज़ार कहती कि वह दूसरा विवाह नहीं करेंगे, मगर वह कहतीं कि पुरुष का विश्वास नहीं, न-मालूम कब क्या कर बैठे।"

आभा ने पूछा—"क्यों धाय मा, क्या सचमुच पुरुषों का विश्वास न करना चाहिए?"

गंगा ने हँसकर कहा—"क्यों, विश्वास क्यों न करना चाहिए?"

आभा ने सहज भोलेपन से कहा—"तो फिर अम्मा क्यों कहती थीं? वह पापा का विश्वास क्यों नहीं करती थीं?"

गंगा ने गंभीर मुद्रा से कहा—"रानी, उनकी बात जाने दो। यह बात नहीं कि वह बाबूजी का विश्वास न करती हों, उनके

कहने का मतलब यह था कि अगर कहीं उन्होंने विवाह कर लिया, तो फिर तुम्हारी दुर्दशा होगी ।"

आभा ने पूछा—"क्यों, मेरी दुर्दशा क्यों होती ?"

गंगा ने उत्तर दिया—"अरे पगली, तेरी सौतेली मा आती, तो वह तेरा निरादर करती ।"

आभा ने मुस्किराते हुए कहा—"वह मेरा निरादर क्यों करतीं । क्या मैं उनकी बेटी न होती ।"

गंगा ने उकताकर कहा—"अरे, बेटी होने से क्या, उनकी कोख से तो उत्पन्न न होती । अभी तुझे क्या मालूम, जब होगा, तब जान पड़ेगा । स्त्री-जाति को जितना अपना लड़का प्यारा होता है, उतना दूसरे का नहीं ।"

आभा ने शरारत-भरी दृष्टि से देखते हुए कहा—"तो फिर तुम मुझे क्यों इतना अधिक प्यार करती हो, मैं तो तुम्हारी कोख से पैदा नहीं हुई । तुम तो मेरे लिये अपनी जान भी दे सकती हो ।"

गंगा ने एक हल्की चपत आभा के गाल पर जमाते हुए कहा—"मेरी और उन लोगों की बराबरी है ! अरे, मैं तो तुम्हारी नौकर हूँ, और बिटिया की नौकर थी । मैं तो तुम्हें इस तरह प्यार करती हूँ, जैसे नौकर अपने स्वामी को करता है ।"

आभा ने सरोष कहा—"मेरे मुँह से एक मर्तबे नौकर निकल गया, बस, मेरे पीछे पड़ गई । अरे भई, तुम मेरी नौकर नहीं, नहीं, नहीं, अब तो संतुष्ट हो ।"

गंगा ने हँसते हुए कहा—"रानी, सत्य ही मेरी हैसियत एक नौकर के अतिरिक्त और क्या है ? मेरा न तो तुझ पर ज़ोर है, और न इस घर में ही कुछ अधिकार है । अगर बाबूजी आज घर से निकाल दें, तो तुरंत जाना पड़ेगा ।"

आभा ने मुस्किराते हुए कहा—"तुम क्या, भारत की समस्त

स्त्री-जाति ग़ुलाम से भी गई-बीती है। यहाँ स्त्रियाँ पुरुषों के आश्रित रहती चली आई हैं, इसीलिये तो उनकी ऐसी शोचनीय दशा है। अगर स्त्रियाँ भी स्वावलंबिनी हो जायँ, तो पुरुषों की क्या मजाल, जो उन पर अत्याचार करें। इसीलिये तो अब हम लोग आंदोलन कर रही हैं। हम पुरुषों के अधीन न रहेंगी।"

गंगा ने उत्तर दिया—"मैं तुम्हारी बातें नहीं समझती कि तुम क्या कहती हो? मैं तो यही जानती हूँ कि स्त्री और पुरुष दोनो के संयुक्त जीवन का नाम गृहस्थी है, संसार है। जहाँ दोनो में भेद पड़ा, वहाँ सिवा अशांति और कलह के कुछ नहीं। स्त्रियों का जीवन तभी सफल है, जब वे मनुष्य-मात्र की सेवा करें। स्त्री माता के रूप में संसार की पालक है, बहन के रूप में स्नेह को सींचनेवाली है, और पत्नी के रूप में सृष्टिकर्ता है। बस, इतना ही मेरा ज्ञान है। मैं पुरुषों से लड़ना नहीं चाहती, और न तुम्हें ऐसा करने के लिये उपदेश देती हूँ। तुम बहुत पढ़ी-लिखी हो, मैं तुम्हें क्या सिखलाऊँगी, परंतु मेरी एक बात गाँठ बाँध रखना। वह यह कि कभी व्यर्थ की बातों में उलझकर अपना जीवन नष्ट न करना, बैठे-बिठाए घर में अशांति न बुलाना। जिस प्रकार स्त्री पुरुष की ग़ुलाम है, उसी तरह पुरुष भी स्त्रियों के ग़ुलाम हैं। दोनो का अधिकार समान है, ज़िम्मेवारी बराबर है। कोई भी एक दूसरे से कम और बढ़कर नहीं।"

आभा ने हँसकर कहा—"अरे, वाह! धाय मा, यह तो मुझे आज मालूम हुआ कि तुम छोटी-मोटी लेक्चरार हो। मैं तो तुम्हें अभी तक बिलकुल बुद्धू समझती थी, लेकिन मेरा ख़याल ग़लत है। यह तो बतलाओ, ये बातें तुमने कहाँ सीखीं?"

गंगा ने उत्तर दिया—"नए पैदा हुए बालक को कौन मा का दूध पीना सिखलाता है? तुम कहोगी कि वह अपने आप सीख जाता

है। ठीक उसी तरह किसी के अधिकार बतलाने या सिखाने से नहीं जाने जाते, उन्हें तो मनुष्य स्वभावतः जानता है। रह गया लेक्चर देने के बारे में, सो लेक्चर तो वही देगा, जो बी० ए०, एम्० ए० पास हो। हम-जैसी मूर्खा स्त्रियाँ क्या लेक्चर देंगी।"

आभा ने प्रशंसा-पूर्ण शब्दों में कहा—"नहीं धाय मा, मैं सत्य कहती हूँ, तुमने ये बातें कहाँ और किससे सीखीं। बड़ी ही प्रभावजनक हैं।"

गंगा ने उठते हुए कहा—"बिटिया अक्सर कहा करती थीं। उन्हें भी इन बातों से शौक़ था। वह सभा वग़ैरा में बहुत जाती थीं, और उनके साथ मैं भी जाती थी। रानी, तुम्हारी मा सचमुच देवी थीं। वह तो न-मालूम किस अपराध से मनुष्य होकर पैदा हुई थीं। उन्हें जिसने देखा है, उसी ने सराहा है। देखो, आज सोलह साल हो गए हैं, और आज तक मैंने बाबूजी के चेहरे पर वैसी हँसी नहीं देखी, जैसी उनके सामने देखती थी। उनके मरने के बाद वह तो एकदम संसार-त्यागी हो गए हैं। सिर्फ़ एक तुम्हारा बंधन है, जिससे वह संसार में बैठे हैं, नहीं तो कब के संन्यासी हो गए होते। और, संन्यासी होने में बाक़ी ही क्या है। कॉलेज जाने के अतिरिक्त मैं उन्हें कहीं आते-जाते नहीं देखती।"

आभा ने कहा—"हाँ, सचमुच धाय मा, वह कहीं नहीं जाते।"

गंगा उत्साह के साथ कहने लगी—"क्या मैं झूठ कहती हूँ। ऐसा पुरुष भी दुनिया में ढूँढ़ने से न मिलेगा। पहले वह बड़े हँसमुख थे। रात-दिन बिटिया से छेड़खानी लगाए रहते, लेकिन जिस दिन से उनकी आँखें बंद हुईं, वह हँसी भी उसी दिन से बंद हो गई। आज सोलह साल से मैं वह हँसी देखने के लिये तरस गई हूँ। अब सिर्फ़ किताबें-ही-किताबें हैं। पहले महीनों कोई किताब न उठाई जाती। हाँ, जब बिटिया कुछ लेकर पढ़ने लगतीं, तो वह

भी कुछ पढ़ते थे, और ज़्यादा देर तक वह भी नहीं। एक ही दो पन्ना पढ़ने के बाद वह ज़बरदस्ती किताब उठाकर फेक देते, फिर दोनो में बड़ा झगड़ा होता। हाय वे कितने सुख के दिन थे!"

कहते-कहते गंगा की आँखों से अतीत की श्रद्धांजलि में दो आँसू ढुलक पड़े।

गंगा फिर कहने लगी—"बिटिया शायद उनका हँसमुख स्वभाव देखकर ही कहती थीं कि वह दूसरा विवाह कर लेंगे। लेकिन विवाह करने की कौन कहे, वह किसी दूसरे के विवाह में शामिल तक न हुए। जवान से एकदम बूढ़े हो गए। कोई विधवा क्या इस तरह जीवन व्यतीत करेगी। देखती हो, आजकल उनका शरीर कैसा सूख-कर काँटा हो गया है। चेहरे पर कितना पीलापन छाया हुआ है। क्या समझती हो कि वह पहले भी ऐसे थे? अब क्या रह गया है, पहले अपनी मा के सामने देखतीं। इँगुर-जैसी लाल देह रक्खी थी। बिटिया और उनकी जोड़ी भी ख़ूब मिली थी। दोनो एक दूसरे से ज़्यादा सुंदर थे। अब क्या रह गया है। ज़िंदा हैं, बस इतनी ही ख़ैरियत है। रानी, मैं तुम्हें क्या बताऊँ। अगर सारा हाल कहने बैठूँ, तो तमाम ज़िंदगी ख़त्म हो जायगी, और फिर भी बहुत-सी बातें बाक़ी रह जायँगी। उस दिन कहते थे, आभा का विवाह हो जाय, बस, हरिद्वार या किसी अन्य स्थान में जाकर रहेंगे। बिटिया की याद कर कहने लगे—'चाची, अभी तक उसकी याद नहीं भूलती।' कहते-कहते रोने लगे, और थाली वैसे ही छोड़-कर उठ गए। एक कौर भी नहीं खाया। मैंने बहुत समझाया, मगर उनसे खाया नहीं गया। रानी, यह भी कोई भूले-भटके देवता हैं।"

कहते-कहते गंगा की आँखों से अजस्र अश्रु-धारा बहने लगी। आभा की भी आँखें आर्द्र हो गईं। गंगा अपनी आँखें पोछती हुई अंदर चली गई।

---

(२)

डॉक्टर नीलकंठ ने प्रेम के साथ कहा—"आभा, केवल तुम्हारी प्रसन्नता ही मेरे जीवन का लक्ष्य है। तुम्हारी मा को मरते समय यही चिंता थी, और इसी उधेड़-बुन में फँस जाने के कारण उसके प्राण निकलने में पूरे साढ़े तीन घंटे लगे थे। उसकी तड़पन देखकर दुश्मन का भी कलेजा काँप उठता, और उसे भी दया आती। वह भयानक दृश्य अभी तक मेरी आँखों के सामने अहर्निश रहता है। मैंने उस समय गंगाजल लेकर क़सम खाई थी कि आभा को मैं कुछ भी कष्ट न होने दूँगा, तब उसके प्राण शरीर से निकले थे। मैं तुम्हारी प्रसन्नता के लिये प्रतिज्ञा-बद्ध हूँ, इसलिये यह चाहता हूँ कि मेरे सामने तुम्हारा विवाह हो जाय, और तुम सुख से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो।"

आभा का चेहरा लाल हुआ जा रहा था, उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

डॉक्टर नीलकंठ ने सस्नेह उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—"तुम्हारी मा के न होने से उसका भार भी मेरे ऊपर है। अगर तुम अपने हृदय का भेद मुझसे छिपाओगी, तो तुम भी अपना कर्तव्य-पालन न करोगी। विवाह का विषय ऐसा है, जिसमें ज़रा भी लज्जा या संकोच करने से तमाम उम्र पछताना पड़ता है। मैंने तुम्हें इसी-लिये शिक्षित किया है, ताकि तुम्हें अपने कर्तव्य का ज्ञान हो, और अपनी ज़िम्मेदारी समझ सको। मैं इस समय तुम्हारा पिता नहीं, बल्कि मित्र हूँ। तुम खुलकर बिना किसी लज्जा के अपना मंतव्य और अपने विचार प्रकट कर सकती हो। कहीं ऐसा न हो कि तुम किसी भ्रम में पड़कर अपना और मेरा सुख और संतोष नष्ट कर डालो।"

आभा ने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया।

डॉक्टर नीलकंठ कहने लगे—"यह चित्र जो तुम्हारे सामने है, उस देवी का है, जिससे मैंने अकथनीय अनुराग और सुख पाया है, जिसकी स्मृति तुम्हारे में सन्निहित है। तुम उसके बड़े ही आदर और प्यार की वस्तु थीं। वह तुम्हें लिए हुए रात-दिन हर्ष से नाचती फिरती थी। मैं नहीं जानता कि कोई दूसरी मा अपनी संतान को उससे अधिक प्यार कर सकती है। उसके प्रति भी तुम्हारा कर्तव्य है, हालाँकि वह इस समय इस लोक में नहीं है, परंतु उसकी पवित्र स्मृति तो है। यदि तुम्हें जीवन में ज़रा भी कष्ट हुआ, तो वह उस लोक में भी सुखी न होगी। कौन जानता है, इस अनंत ब्रह्मांड में वह कहाँ है? परंतु वह जहाँ भी है, वहाँ से हमें और तुम्हें बराबर देख रही है। उसका अस्तित्व मैं सदैव अपनी आत्मा के सन्निकट ही अनुभव करता हूँ...।"

कहते-कहते डॉक्टर नीलकंठ के नेत्रों से वर्षों की घनीभूत पीड़ा मर्माहत होकर बाहर निकलने लगी।

आभा ने रोते हुए कहा—"पापा, पापा, यह क्या?"

आवेग ने उसका कंठ अवरुद्ध कर दिया। पिता पुत्री को सांत्वना देने लगा।

डॉक्टर नीलकंठ कहने लगे—"आभा, मैं बहुत भीरु हो गया हूँ। उसका स्मरण होते ही प्राण रोने का प्रयत्न करने लगते हैं। हाँ आभा, तुम उसकी धरोहर हो, मैं तुम्हें सुखी देखना चाहता हूँ, अब तुम्हारी अवस्था १८ वर्ष की है। काफ़ी शिक्षित भी हो चुकी हो। मैंने अब तक तुम्हारा विवाह इसी हेतु से नहीं किया, जिसमें तुम अपना वर स्वयं निश्चित कर सको। अब वह समय आ गया है, जब तुम गृहस्थ-धर्म का पालन करो। तुम्हारा विवाह कर देने के बाद मैं हरिद्वार या चित्रकूट में रहना चाहता हूँ।"

आभा ने अपने को संवरण करते हुए कहा—"मैं विवाह नहीं करूँगी।"

डॉक्टर नीलकंठ ने विस्मित कंठ से पूछा—"क्या तुम विवाह नहीं करोगी ?"

आभा ने दृढ़ कंठ से कहा—"हाँ, मैं विवाह करके अपने पिता को खोना नहीं चाहती।"

डॉक्टर नीलकंठ ने हँसकर कहा—"केवल इसीलिये विवाह नहीं करोगी। ख़ैर, तो मैं कहीं नहीं जाऊँगा। अब तो विवाह करोगी ?"

आभा ने कोई उत्तर नहीं दिया।

डॉक्टर नीलकंठ ने प्रसन्न होकर कहा—"हिंदू-समाज में रहकर विवाह तो करना ही पड़ता है, और फिर तुम्हारे विवाह की साध ही एक ऐसी साध है, जिसे मैं अपने सामने पूर्ण करना चाहता हूँ। तुम्हारी मा तो यह साध लेकर चली ही गई, कहीं ऐसा न हो, मैं भी उसे पूर्ण न कर सकूँ।"

आभा अविचलित पलकों से अपनी मा का तैल-चित्र देखने लगी।

डॉक्टर नीलकंठ कहने लगे—"मैंने तुम्हारा वर मनोनीत कर लिया है। स्वामीजी और चाची की भी सम्मति मिल गई है। वह सब तरह से शिक्षित, सच्चरित्र और प्रतिभावान् व्यक्ति है। वह एक विशाल संपत्ति का स्वामी भी होगा। वह सब प्रकार से तुम्हारे योग्य है। अगर उसमें कोई दोष है, तो वह यह कि वर्तमान हिंदू-समाज से वह बहिर्गत है। लेकिन एक तरह मैं भी समाज से बहिष्कृत हूँ। मैं इँगलैंड हो आया हूँ, इससे मेरी जातिवालों ने मुझसे संबंध-विच्छेद कर लिया है। इसी सबब से कोई कनौजिया मेरे यहाँ नहीं आता, और न मैं ही किसी के यहाँ जाता हूँ। मैंने अपनी जाति के सुधारने का बहुतेरा यत्न किया, परंतु सब निष्फल

हुआ। मैं उस ओर से निराश हो चुका हूँ, और अब उस ओर जाना भी नहीं चाहता, जहाँ सिवा मूर्खता और पशुत्व के कोई दूसरा आकर्षण नहीं है। मैं अब जाति-पाँति के बंधनों को छोड़कर विशाल हिंदू-समाज में प्रवेश करना चाहता हूँ, पारस्परिक घृणा और तिरस्कार को त्यागना चाहता हूँ। इसीलिये आभा, मैंने भारतेंदु को तुम्हारा भावी पति बनाना विचार किया है। भारतेंदु को तुम जानती हो, और भी उसे निकट से जान सकती हो। अगर इसमें तुम्हारा अभिमत हो, तो ठीक है, नहीं कोई दूसरा पात्र खोजूँ।"

आभा कोई उत्तर न दे सकी, केवल उसके सहजारुण कपोल कुछ विशेष रक्ताभ हो गए।

डॉक्टर नीलकंठ कहने लगे—"तुम्हारा मौन शायद सम्मति का ही लक्षण है। भारतेंदु एक प्रतिभावान् व्यक्ति है, और मैं उससे बहुत आशाएँ रखता हूँ। अगर उसके पिता का धन भी उसे न मिले, तो वह संसार में एक सफल पुरुष होगा। मेरे पास जो कुछ है, वह तो तुम्हारा है ही। किसी युवक में मैं जिस बात को देखना पसंद करता हूँ, वह है सच्चरित्रता। वही प्रचुर मात्रा में भारतेंदु के पास है। पंडित मनमोहननाथ से मैं यह प्रस्ताव कर चुका हूँ, उन्हें भी कोई आपत्ति नहीं। अब सिर्फ़ यह ज़रूरी है कि तुम भारतेंदु को समझ लो, और वह तुम्हें। यदि तुम्हें विवाह करने में कोई आपत्ति हो, तो उसकी सूचना मुझे दे सकती हो। अगर मुझसे न कह सको, तो अपनी धाय-मा से कह सकती हो।"

यह कहकर डॉक्टर नीलकंठ चले गए।

आभा सिर झुकाए बैठी रही। लज्जा से उसका बुरा हाल था, उसके कपोलों पर हृदय के सवेग धड़कन से तूफ़ान के वेग की तरह उद्वेलित रक्त-स्रोत उमड़-उमड़कर इकट्ठा हो रहा था। उसकी

श्वास और निःश्वास दोनों इतने वेग से अंदर और बाहर आ-जा रही थीं, मानो कोई व्यक्ति सवेग धौंकनी धौंक रहा हो। उसका सिर पसीने की बूँदों से भर गया।

इसी समय गंगा ने आकर कहा—"रानी, क्या आज खाना नहीं खाओगी? महराजिन कब से तुम्हारा इंतज़ार कर रही हैं।"

आभा ने सिर हिलाकर कहा—"महराजिन से कह दो, चली जायँ। मैं अभी नहीं खाऊँगी।"

गंगा ने मुस्किराकर कहा—"देखो, शादी की बातचीत ऐसी होती है कि भूख-प्यास सब हर जाती है।"

आभा ने सवेग कहा—"तुम्हारी बातचीत हमेशा बेसिर-पैर की होती है। जाओ, अभी मुझे दिक़ न करो। कह दिया कि मैं नहीं खाऊँगी।"

गंगा कमरे के बाहर चली गई।

आभा सोचने लगी—"विवाह करना होगा। विवाह जीवन का विकास है, और कहीं-कहीं, यह जीवन का अंत भी है। यह तो मैं भी जानती थी कि उनके साथ विवाह की बातचीत चल रही है। उस दिन स्टेशन पर जब मैंने उनके पिता को प्रणाम किया था, तो उनके आशीर्वाद से कितना प्रेम प्रकट हो रहा था। वह भी मुझसे प्रेम करते हैं, लेकिन खुलकर कुछ कहते नहीं। जब वही कुछ नहीं कहते, तो मैं कैसे कहूँ। उस दिन उन्होंने जान-बूझकर मेरी अवहेलना की, और बाद में किस तरह मुझे परेशान किया। क्या यह उनके प्रेम का प्रमाण है?

"उनकी सच्चरित्रता के बारे में पापा को विश्वास है, मुझे भी है। दो वर्ष मैंने उनके साथ बिताए हैं, कभी कोई असत् बात उनके बारे में नहीं सुनी। वह तो अजात-शत्रु हैं। कोई उनकी बुराई नहीं करता, प्रशंसा—केवल प्रशंसा सुनने में आती है। कल से वह

नहीं आए। शायद नाराज़ हो गए। वह रोज़ आते हैं, मगर मैं उनके पास नहीं जाती। तब वह कैसी कातर दृष्टि से मेरी ओर देखते हैं। मैं उनसे बात नहीं करती, इसी वजह से वह कल नहीं आए, और देखो, आज आते हैं या नहीं। मान लो, अगर नहीं आए, तो ? क्या उन्हें मनाने के लिये जाना पड़ेगा ? यही तो मुझसे नहीं होने का।

"विवाह क्या है ? प्रेम को चिरस्थायी करने की मुहर का नाम विवाह है। विवाह दो हृदय के मिलन और उनकी युग्मता का नाम है। इस शब्द में ही कितना आनंद है। सत्य ही हृदय नाचने लगता है, भूख और प्यास कुछ नहीं लगती। यह जीवन की भूख है, जो एक समय आने पर सब को लगती है। युवक और युवती, दोनो ही इसके लिये लालायित रहते हैं। यह युग्म कितना मनोरम और कितना शांतिप्रद है। परंतु इस मनोहरता के पीछे एक बड़ी वेदना भी छिपी हुई है। यदि पति और पत्नी में कुछ भेद है, तो फिर दोनो का जीवन दुःखमय हो जाता है !

पापा कहते हैं, मैं तुम्हें सुखी करना चाहता हूँ। और, वास्तव में उनकी यही आंतरिक इच्छा है। परंतु सुखी और दुखी होना तो भाग्य के अधीन है। मैं इस विवाह से सुखी होऊँगी—यही कौन कह सकता है। हाँ, उनसे ऐसा भय तो नहीं है। वह जैसे उच्च और महत्-हृदय हैं, उनसे ऐसी ही आशा होती है—फिर आगे भगवान् जाने। मनुष्य को बदलते हुए केवल एक क्षण लगता है, और उसी क्षण में वह पूर्व-संचित यश, मान, प्रतिष्ठा, सब गवाँ देता है। क्या ऐसा क्षण उनके जीवन में आ सकता है।

"अभी तक मैंने इस विषय में उनसे कभी बात नहीं की—उनके जानने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया। किस तरह उनके मन का भेद जानूँ ? वह क्या मुझे प्यार करते हैं ? अभी तो ऐसा मालूम

होता है, लेकिन आगे भी क्या इस तरह उनका प्रेम स्थिर रहेगा ? इस प्रश्न का उत्तर कौन दे ? पुरुष-जाति बड़ी स्वार्थी होती है। वे नाना प्रकार के प्रलोभनों द्वारा स्त्रियों को अपने मोह-पाश में बाँध लेते हैं, और फिर उन्हें दुत्कारकर दूर फेंक देते हैं। आज तक न-मालूम कितने अत्याचार इस पुरुष-जाति ने हमारी जाति पर किए हैं। हमारा इतिहास इनके अत्याचारों की कहानी-मात्र है। पहले मैं सोचा करती थी कि पुरुषों के साथ मैं युद्ध करूँगी, और मैं अपने अधिकारों के लिये लड़ूँगी, लेकिन अब वह उत्साह कहाँ चला गया ? कुछ समझ में नहीं आता। इस वक़्त यह इच्छा होती है कि किसी पुरुष से प्रेम करूँ, तन-मन से प्रेम करूँ, उस प्रेम में इतनी डूब जाऊँ कि मुझे अपनी सुध न रहे। वह भी मुझसे प्रेम करे, अपना अस्तित्व भूलकर प्रेम करे। दोनों का जीवन एक हो जाय। एक ही प्रेम की धार में हम लोग उतराते हुए चले जायँ। कोई प्रतिबंध न हो, कोई शर्म न हो, एकता का मनोरम संगम हो।

"अच्छा, मुझमें यह परिवर्तन क्यों आ गया है ? मैं अपने शत्रु को क्यों प्यार करना चाहती हूँ ? पुरुष-जाति हमारी शत्रु है, लेकिन मैं उसी जाति के एक व्यक्ति के आश्रय की प्रार्थना कर रही हूँ। मैं अपने हृदय में कुछ शून्य-सा पाती हूँ, और उस शून्य की पूर्ति एक पुरुष से होती हुई मालूम होती है। यह क्यों ? शायद यह मेरी कमज़ोरी है।

"क्या पुरुष-जाति केवल अत्याचार करना ही जानती है, प्रेम करना नहीं ? यह तो नितांत सत्य नहीं। देखो, पापा अम्मा से कितना प्रेम करते थे, नहीं, अभी तक करते हैं। उनकी याद में रो-रोकर दिन काटते हैं। अम्मा की स्मृति यद्यपि उनके लिये दुःखदायी है, लेकिन उसे वह कंजूस के सोने की तरह अपने हृदय में छिपाए हुए

हैं। वह मुझे इतना प्यार करते हैं, क्यों? इसलिये कि मैं अम्मा के प्रेम की भेंट हूँ। क्या पापा उस पुरुष-जाति के व्यक्ति नहीं हैं? फिर यह कहना कि पुरुष-जाति केवल अत्याचार करती है, पूर्णतया सत्य तो नहीं है। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि पुरुष-जाति प्रेम भी करना जानती है, और उसे निबाहना भी।

"धाय-मा हालाँकि एक बेवक़ूफ़ और जाहिल औरत हैं, परंतु उन्होंने एक दिन कहा था कि संसार का सच्चा सुख तो स्त्री और पुरुष की एकता में है। युग्म हृदयों के मिलने का नाम विवाह है। उसका पालन या उस युग्मता को निभाए जाना प्रेम है, गृहस्थ-धर्म का पालन है। इस कथन में भी कुछ सत्यता मालूम होती है।

"हिंदू-समाज में पुत्री का धर्म है कि जिसके हाथ में पिता उसका संप्रदान कर दे, उसे वह अपना प्रेम और अपना जीवन समर्पण करे। अम्मा को मेरे नाना ने इसी प्रथा के अनुसार पापा को समर्पण किया था, और उन्होंने अपने को संपूर्णतया पापा के चरणों पर अर्पित किया। इतने त्याग के बाद ही वह इस तरह विजयिनी हुईं। उन्होंने पापा पर अपना पूर्ण अधिकार कर लिया। यह उसी का कारण है कि आज भी पापा, यद्यपि उन्हें मरे हुए १६ साल बीत गए, फिर भी उनकी स्मृति में घुले जाते हैं। यह कैसा प्रेम था? कितना दोनो का परस्पर भेद-भाव-रहित निष्कपट प्रेम था। ऐसी प्रेम-मूर्तियाँ क्या इस संसार में कहीं अन्यत्र देखने को मिलेंगी?

पापा मुझे उनके हाथ सौंपना चाहते हैं। क्या मेरा इसमें कल्याण है? क्या वह पापा की तरह तन्मय होकर मुझसे प्रेम करेंगे? क्या वह भी प्रतिदान में अपने को मुझ पर निछावार कर देंगे? उनके मन की तो वही जान सकते हैं। लेकिन मैं तो उनसे प्रेम करती हूँ। मन-प्राण से उन्हें प्यार करती हूँ। उनमें एक अजीब आकर्षण है,

जो मुझे उनकी ओर खींचे लेता है। मुझे कभी-कभी ऐसा मालूम होता है कि मैं उन्हें पहचानती हूँ, कभी उन्हें देखा है। देखा ही नहीं, उनके साथ वर्षों और कई जन्म रही हूँ। लेकिन ठीक याद नहीं पड़ता, कहाँ रही हूँ। वह मेरे लिये बिलकुल बेगाने नहीं हैं। शायद इसमें सत्यता कुछ नहीं है—केवल मेरे हृदय की कमज़ोरी है। प्रेम की अंतिम अवस्था का नाम ही तो दुर्बलता है।

"यह हैस-बैस कब तक चलेगी? इसका कुछ-न-कुछ निष्कर्ष तो निकालना वाजिब है। इस तरह अंधकार में कब तक, कितने दिन चला जायगा। उनमें कुछ कहने की शक्ति नहीं है—वह तो स्त्रियों से भी गए-बीते हैं, उनमें मैं पुरुषों-जैसी उच्छृंखलता बिलकुल नहीं देखती, न उनमें कोई उतावलापन ही है। उनकी सहन-शक्ति का तो कोई अंत ही नहीं मालूम होता। मैं उनकी विकलता उनकी आँखों में लक्ष्य करती हूँ। उनके एकांत-रुदन का चिह्न उनके कपोलों पर सूखे हुए अश्रु-बिंदुओं से साफ़ मालूम होता है। वह मुझे देखकर कुछ कहना चाहते हैं, परंतु कभी नहीं कहते कुछ। कहते-कहते रुक जाते हैं। और, यही मुझे अच्छा नहीं लगता। इसी से मुझे क्रोध आ जाता है, और फिर उनके सामने नहीं जाती। न तो वह खुलते हैं, और न मैं। तब क्या होगा?

"ठीक है, इसी तरह चलने दो। कभी-न-कभी इसका कुछ फ़ैसला तो होगा ही। या तो वही अपनी हार क़बूल करेंगे, या फिर मुझे ही झुकना पड़ेगा। विवाह तो उनके साथ होगा ही, इसमें सबकी सम्मति है। परंतु क्या उनकी भी सम्मति है? कहीं मेरे व्यवहार से उन्हें यह न मालूम हो कि मैं उनसे घृणा करती हूँ, और फिर उन्हें खो दूँ। ऐसा शायद कभी न होगा। जिस प्रकार मैं उनसे प्रेम करती हूँ, वैसे ही वह भी मुझसे प्रेम करते हैं, फिर उन्हें कैसे

खो दूँगी। यह बुनियाद-रहित, मिथ्या कल्पना है। इसके भ्रम में पड़ना अपने जीवन का आनंद खोना है। मुझे विश्वास है, ऐसा कभी नहीं हो सकता।"

आभा को इन्हीं विचारों में लीन हुए बहुत देर हो चुकी थी। गंगा न-मालूम कब से बैठी उसके आने की प्रतीक्षा कर रही थी। आभा को न आते देखकर, मन-ही-मन क्रोध करती हुई उसके कमरे में आई। आभा लेटी हुई विचारों के समुद्र में डूब-उतरा रही थी। उसे लेटे हुए देखकर गंगा घबरा गई।

उसने घबराहट के साथ पूछा—"कैसी तबियत है रानी? क्या कुछ तबियत ख़राब है, जो इस तरह आँख बंद किए हुए लेटी हो?"

यह कहकर वह उसके सिर पर हाथ फेरने लगी।

आभा ने उत्तर दिया—"नहीं धाय-मा, तबियत ठीक है, ऐसी ही लेटी हूँ।"

गंगा ने देखा, बुख़ार बिलकुल नहीं है। उसके आकुल मन को कुछ शांति मिली। उसने फिर पूछा—"अब तक खाना खाने क्यों नहीं आई। दो पहर ढल गई। महराजिन न-मालूम कब चली गई। मैं भी न-मालूम कब से तुम्हारा इंतज़ार कर रही हूँ।"

आभा ने उठते हुए कहा—"आज खाने की इच्छा नहीं है। अच्छा चलो, खा आऊँ कुछ थोड़ा-सा, नहीं तुम भी एकादशी ही करोगी।"

आभा उठकर बैठी थी कि उसने मोटर आने का शब्द सुना। वह उत्सुकता से कमरे के बाहर आगंतुक को देखने के लिये चली आई। उसके सामने मुस्किराती हुई उसकी सहेली मालती चली आ रही थी।

उसने मालती को देखकर उत्फुल्लता से कहा—"अरे, आज यह ईद का चाँद कहाँ से दिखाई पड़ा। बड़े भाग्य थे, जो तुम्हें मेरी सुध तो आई।"

दूसरे ही क्षण मालती आभा के बाहु-पाश में आबद्ध थी।

मालती ने कहा—"तुमने भी मुझे बिलकुल भुला दिया। छः-छः महीने हो गए, कभी एक पत्र भी लिखकर न पूछा कि तबियत कैसी है। मुँह-देखी प्रीति तो सभी करना जानते हैं।"

आभा ने सहास्य कहा—"यह ख़ूब, उलटा चोर कोतवाल को डाँटे। तुमने ही तो मुझे कई पत्र लिखे, जो इतना बड़ा उलाहना देती हो।"

मालती ने आभा के कपोल-युगल को चूमते हुए कहा—"अच्छा भई, माफ़ करो, हमारा ही क़ुसूर सही। अब तो ख़ुश हो।"

आभा सप्रेम मालती को अपने कमरे में खींचती हुई ले गई।

---

(३)

भारतेंदु ने उत्सुकता से लिफ़ाफ़ा खोल डाला, और पत्र पढ़ना शुरू किया। पत्र अँगरेज़ी में था, जिसका आशय था--

"प्रिय भारतेंदु,

यह पत्र मैं सिंगापुर से लिख रही हूँ, इससे तुम्हें समझना चाहिए कि हम लोगों का जहाज़ सिंगापुर पहुँच गया है। रास्ते में तूफ़ान-प्रताड़ित दो स्त्रियाँ समुद्र में बहती हुई मिली हैं। उनमें से एक तो बहुत बीमार है, उसके सिर में सांघातिक चोट लगी है। जिससे कुछ दिन के लिये यहाँ ठहरना पड़ेगा।

"हमारे-तुम्हारे बीच में बहुत दिनों से पत्र-व्यवहार बंद है। इसका कारण न तो तुम्हीं बतला सकते हो, और न मैं ही। मैं यह पत्र भी न लिखती, लेकिन अनेक घटनाओं से मजबूर होकर लिखना पड़ता है। आशा है, तुम इसे पढ़ लोगे, और अगर कुछ कष्ट न हो, तो उत्तर भी देना।

"तुम शायद अमीलिया को बिलकुल ही भूल गए, और उसके साथ ही अपनी उस प्रतिज्ञा को भी भूल गए, जो तुमने फ़िज़ी में, अपने उस कमरे में, की थी, जहाँ तुमने अपनी सांघातिक बीमारी के दिन बिताए थे। यह अच्छा ही हुआ। ख़ैर, तुम उसे भले ही भूल जाओ, लेकिन मैं कम-से-कम उस घटना को नहीं भूल सकती, जिसकी स्मृति अपने हृदय में आज पाँच वर्षों से छिपाए हुए हूँ।

"क्या तुम्हें १७ सितंबर के प्रातःकाल की वह घटना याद है? नीरव, निष्पंद उषाकाल की मधुर वेला में तुमने मेरे हृदय में एक अजीब सुखद गुदगुदी पैदा कर दी थी। मैं तो तुम्हारी सेवा करती

थी, और तुम मुझे एक स्वर्गीय गीत सुनाकर अपने वश में कर रहे थे। वह गीत कितना मधुर था, कितना सुखद था, कितना मनोमोहक था, और कितना पागल करनेवाला था। उस प्रातर्वेला में तुमने अपने ओष्ठों से भरे अधरों पर अपनी मुहर लगाकर मुझे कुछ बोलने, कुछ आपत्ति करने से मजबूर कर दिया, और यह गीत सुनाया कि 'मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।' मैं उस गीत के लय में अपनी सुध-बुध खो बैठी, और उस दिन से वही गीत अपनी नीरव झंकार से मेरी हृत्तंत्री के तारों में झंकृत हुआ करता है, जो मेरे हृदय की आवाज़ को डुबा देता है, और मैं उसके आवेश में कह उठती हूँ— 'मैं भी तो उनसे प्रेम करती हूँ।'

"लेकिन जाने दो। ये तो बीती हुई घटनाएँ हैं, जिनकी स्मृति किसी के लिये सुखदायी है, और किसी के लिये दुखदायी। इनका भूल जाना ही अच्छा। किंतु क्या करूँ, वे तो अनायास एक के बाद एक उमगती हुई चली आती हैं। मेरा जी भी यही चाहता है कि उन्हें मैं लिखूँ नहीं। परंतु फिर भी लिखती हूँ। तुम क्षमा करना।

"हाँ, इसके बाद तुम स्वस्थ होने लगे, और तुम्हारी स्वस्थता के साथ-साथ हमारा प्रेम भी बढ़ने लगा। तुम पुरुष थे, तुम दुनिया को जानते थे। तुम शक्तिशाली थे, तुम्हारे पिता के यहाँ मेरे पिता नौकर थे। मैं हर तरह तुमसे हीन थी। एक तो बालिका थी, मा को खोकर एक अकथनीय दुख का भार लिये हुए थी। मैं चाहती थी कि कोई मुझसे प्रेम करे। मैं प्रेम करने और प्यार किए जाने के लिये आतुर थी। मैं अपना बुरा या भला कुछ न जानती थी। तुम्हारे प्रेम-शब्द के सुनहले जाल में फँस गई। तुम ज्यों-ज्यों शब्दों से प्रेम का संसार बनाते, त्यों-त्यों मैं उसके चक्करों में फँसती जाती। तुम कहते कि मेरे लिये संसार में केवल तुम हो। तो मैं कहती कि इस ब्रह्मांड में मेरे लिये केवल तुम हो। तुम मुझसे जो चाहते,

वह मैं तुम्हारे चरणों पर समर्पित करने में कोई उज़्र न करती। तुमने मुझे विश्वास दिलाया कि मैं तुम्हारा हूँ, मैंने विश्वास किया कि तुम हमारे हो। क्यों, क्या कुछ याद पड़ता है ?

"इसके बाद ? हाँ, वह ११ ऑक्टोबर की बात है। ग्रीष्मकाल अपने सुखद साज से आ रहा था। फूलों के खिलने का समय था। पक्षियों के आनंदोत्सव मनाने का काल था। प्रकृति अपने नव-नूतन साज से सजकर संसार को पागल बनाने में प्रयत्नशील थी। मेरे मन में भी उमंगें किलकारी मारकर हँस रही थीं, उत्साह रोम-रोम से प्रस्फुटित हो रहा था, और सबसे अधिक तुम्हारे प्रेम की मदिरा मुझे बेहोश किए हुए थी। तुमने उस शाम को बर्बर पशु की तरह मेरा सत्यानास कर डाला। मैंने कोई आपत्ति न की, वह भी तुम्हारे प्रेम की सौग़ात समझी। मैं हर्ष और आनंद में विभोर थी। कुछ एक नया स्वाद चखकर उसकी ही याद में तन्मय थी। मैंने उसे तुम्हारा प्रेमोपहार समझा। मैं हर्ष से नाच उठी, और कल्पना के संसार में भ्रमण कर नए-नए क़िले बनाने लगी। तुम मेरे कान में अपने अनंत प्रेम का गीत सुनाते रहे, मैं उसी में भूली रही। क्यों भारतेंदु, क्या तुम्हें वे दिन याद पड़ते हैं, क्या उनकी किंचित् स्मृति भी तुम्हारे पास अवशेष है ?

"अच्छा, यह बात भी जाने दो। इसके बाद हमारा और तुम्हारा विच्छेद हुआ। मैं पढ़ने के लिये सिडनी—आस्ट्रेलिया चली गई, और तुम भारत। वह विच्छेद अनायास हो गया। तुम्हारे पिता को शायद कुछ शक हो गया, उन्होंने तुम्हें मेरे पास से छीन लिया। मैं कर ही क्या सकती थी ? और, उन्होंने मेरे पिता से कहकर मुझे आस्ट्रेलिया भेज दिया। मैं अपना दिल मसोसकर रह गई। जाते वक़्त तुम मुझसे उस बग़ीचे में मिलने आए, जहाँ हमारा और तुम्हारा प्रेमालाप होता था। तुमने मेरे हाथ में एक

गहरी रक़म रखकर कहा—'अभी, इसे वक्त-ज़रूरत के लिये ले लो। विदेश में तुम्हारे काम आवेगा।' मैं तुम पर विश्वास करती थी, मैंने ले लिया। इसके बाद तुमने कहा—'देखो, मुझे भूलना नहीं। मैं जब स्वतंत्र होऊँगा, तो तुम्हारे साथ विवाह करूँगा, और तुम्हें हमेशा के लिये अपना बना लूँगा।' मैं रोते-रोते तुम्हारे वक्ष से चिपट गई। आह! वह दिन अभी तक मुझे याद है, मुझे कितना आश्वासन मिला, कितना सहारा मिला। तुम और बहुत-सी आशाप्रद बातें सुनाने लगे। उस समय भी कहना भूल गई कि तुम्हारे प्रेम का प्रतिफल मेरे पेट में मौजूद है। शायद यह तुम जानते थे, लेकिन तुमने भी कुछ कहना उचित न समझा। मैं वह भार लिए हुए, रोती-सिसकती आस्ट्रेलिया चली गई।

"आस्ट्रेलिया आकर मैं बड़ी विपद् में पड़ी। मेरे सात महीने का गर्भ था। मैं न जानती कि वह शर्म किस तरह छिपाऊँ। आख़िर एक सहेली से यह भेद बतलाना पड़ा। मैं उसकी शरण में गई, और किसी तरह उस शर्म से मेरा छुटकारा हुआ। वास्तव में तुम्हारे दिए हुए धन से मेरा वह उपकार तो हुआ—और शायद तुमने इसीलिये दिया भी था।

"इसके बाद मैंने तुम्हें पत्र लिखा, और तुमने कोई जवाब नहीं दिया। मैंने बहुतेरे पत्र बाद में लिखे, लेकिन तुम हमेशा मौन ही रहे। थककर मैं भी चुप रही। मेरे मन में कोई बार-बार कहता कि उसे भूल जाओ, वह तो एक पुरुष-जाति का व्यक्ति है, जो स्त्रियों को अपने सुख और भोग की सामग्री समझता है। मैं तुम्हें भूलने का प्रयत्न करने लगी, परंतु फिर भी न भूल सकी। आस्ट्रेलिया में मन न लगा, पापा के साथ-साथ जहाज़ पर ही रहकर दिन व्यतीत करने लगी। समुद्र के ऊपर रहकर मैं पृथ्वी

पर की घटनाओं की स्मृतियाँ भुलाने लगी, लेकिन कृतकार्य नहीं हुई। मैं तुम्हें फिर भी न भूल सकी।

"इसके बाद तुम एक बार फ़िज़ी आए। जी में आया कि एक बार जाकर उसे देख आऊँ, जिसने यह प्रेम की ज्वाला भड़काई है। परंतु यह सोचकर कि कहीं निरादर न हो, नहीं आई। जानते हो, अगर कहीं निरादर होता, तो मेरा हृदय और भी दुखी होता। वह स्मृति, जिसे मैं हृदय से लगाए हुए हूँ, कलेजा चीरकर बाहर निकालनी पड़ती, और तब शायद सिवा सागर की शरण में जाने के और कोई दूसरा उपाय न रहता। इसी भय से मैं मिलने नहीं आई। और, अरे कठोर! तुमने बुलाया भी नहीं। तुम दो महीने फ़िज़ी रहकर वापस चले गए। मैं मिलने की साध लेकर ही रह गई।

"इसके बाद फिर तुम्हारा कोई समाचार न मिला, और न तुमने कुछ किसी से कहला ही भेजा। मैं अभी तक तुम्हारी प्रतिज्ञा पर विश्वास करती थी। कभी-कभी सोचती थी कि शायद पिता के शासन से स्वतंत्र होने पर तुम अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो, मगर यह विश्वास उस दिन पूर्ण रूप से टूट गया, जब तुम्हारे पिता से मालूम हुआ कि तुम्हारा विवाह-संबंध वहीं कहीं ठीक हो गया है, जहाँ तुम पढ़ते हो। अच्छा है, तुम विवाह करो, लेकिन मेरी ओर से केवल एक प्रार्थना है कि मेरी तरह उसका भी जीवन नष्ट न करना। सत्य ही तुम उसके साथ विवाह करना। विवाह का प्रलोभन देकर उसका कौमार्य नष्ट न करना। तुम मुझे भूल ही गए हो, इसलिये और कोई प्रार्थना नहीं कर सकती। तुम्हारी बुद्धि सदैव सन्मार्ग पर बनी रहे, यही ईश्वर से प्रार्थना है।

अभागिनी

अमीलिया"

भारतेंदु के हाथ से पत्र गिर पड़ा, और उनकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। अतीत की घटनाएँ एक के बाद एक नेत्रों के सामने आने लगीं, और अमीलिया का विषाद-पूर्ण मुख, जिसकी स्मृति कभी-कभी उन्हें दुखित करती थी, उनके सम्मुख आ गया। उसका तिरस्कार उनके हृदय में वृश्चिक-दंशन से भी अधिक तीक्ष्ण तड़पन पैदा करने लगा। उसके पत्र के शब्द अग्नि-शलाका की भाँति उनका हृदय विदीर्ण करने लगे। वह पथराई हुई आँखों से उस पत्र की ओर देखने लगे।

भारतेंदु के सामने अतीत जीवन के चित्र आने लगे—आज से पाँच साल पहले की घटनाएँ याद पड़ने लगीं।

वह सोचने लगे—"अमीलिया का प्रेम भूल जाने की वस्तु नहीं है। वह समझती है कि मैं उसे भूल गया हूँ, यह बिलकुल झूठ है। कोई मनुष्य अपने मन से दग़ा नहीं कर सकता। दुनिया को चाहे भले ही ठग लो, किंतु स्वयं को ठगना असंभव है। मैं अमीलिया को न भूल सका हूँ, और शायद न भूल सकूँगा। आह! जब वे दिन याद आते हैं, तब हृदय में एक प्रकार की पीड़ा उठती है, जिसे सहन करना मुश्किल होता है। वे कैसे सुख के दिन थे। यौवन का प्रथम उभार था, सिवा प्रेम के और कुछ चिंता न थी। शृंगार और सुहाग के साम्राज्य में मैं विचरण कर रहा था। वह मुझे तन, मन, प्राण से चाहती थी, और मैं उसे। दोनो का संसार एक ही था। एक ही इच्छा, एक ही वासना, एक ही लालसा और एक ही स्वप्न थे। कल्पना के संसार में, जहाँ निराशा नहीं, दुःख नहीं, टीस नहीं, तड़पन नहीं, वहाँ अबाध और उद्दाम रूप से विचरते थे। दोनो एक दूसरे की पूर्ति थे। हमारे बीच में जाति का, वर्ण का, देश का, धर्म का, कोई भेद-भाव न था। इस क्रीड़ामय संसार के हम दो हँसते-खेलते हुए पात्र थे, जिनमें परस्पर आसक्ति

थी, प्रेम और सौहार्द था। जब वह हँसती थी, तब मैं भी हँस देता था। जब वह रोती थी, तब मैं भी रो देता था। जब वह मान करती थी, तब मैं मनाता था, और जब मैं क्रोध करता, तो वह हँसती हुई आँखों से मेरे हृदय से लगकर कहती, क्रोध मत करो, मैं तुमसे प्रेम करती हूँ। मेरा क्रोध गलकर बह जाता, और फिर दोनों एक हो जाते। आह, वह कितना सुखद काल था!

"जीवन का प्रथम प्रेम! उसमें कितना महत्त्व है, उसमें कितनी मादकता है, उसमें कितना पागलपन है। उसकी एक-एक घटना कितनी सजीव होती है। उसकी स्मृति जीवन के अंत तक रहती है, और बाद में—जीवन के उस पार—रहती है या नहीं, कौन जाने। प्रेम जीवन का विकास है, आत्मा का ज्ञान है, और ब्रह्म का रूप है। प्रेम की ज़ंजीरों से संसार बँधा है, चर और अचर सब उसी के आश्रय से जीवित रहते हैं। ब्रह्मांड के कण-कण में प्रेम का अस्तित्व है। और, वही प्रेम जब जीवन के प्रथम ज्वार में स्वर्गीय ज्योति लेकर उदय होता है, तो मन और आत्मा समुद्र की भाँति उत्तुंग लहरों से उद्वेलित होने लगते हैं। उस समय कमज़ोर मनुष्य उसके प्रवाह में बहा चला जाता है—और उसका क्या परिणाम होगा, नहीं सोचता, जानता हुआ भी, उस ज्ञान को उसी में डुबो देता है। मैंने उस रस को अपने ओठों से लगाया है—उसको पान किया है। तभी तो आज भी उसकी स्मृति सजग है।

"अमीलिया के साथ क्या मैंने विश्वासघात किया है? वह मुझ पर यह दोष लगाती है। वह मुझे छलिया और पापी कहती है, लेकिन क्या उसे मालूम है कि मैं उसके साथ विश्वास-घात नहीं करता। वह कैसे समझ सकती है? सत्य है। इन सुदीर्घ पाँच वर्षों में मैंने उसे एक पत्र नहीं लिखा, एक संदेश नहीं कहलाया, एक बार उससे मिलने का प्रयत्न नहीं किया।

तब तो मैं सत्य ही विश्वासघाती हूँ। उसके गर्भ में मेरा बालक था, लेकिन मुझमें इतना साहस न हुआ कि उसे मैं अपना कहकर उसका गला घुटने से रोक दूँ। वह भार, जिसे मुझे वहन करना था, केवल अमीलिया पर छोड़कर, कापुरुष की भाँति छिटककर अलग खड़ा हो गया। अमीलिया, भोली अमीलिया, क्या करे? उसके लिये यही मार्ग था। माता होने के पहले वह हत्यारिन हुई, किसके अपराध से? मेरे। उफ़्! यह वृश्चिक-दंशन असहनीय है। यही शर्म, यही भीरुता मुझे उसके सामने जाने से रोकती है, मेरा दामन पकड़ लेती है। मैं उसे कैसे मुँह दिखाऊँ? यही प्रश्न मेरे सम्मुख रहता है, और मैं उससे दूर-दूर भागता हूँ। इसी भय से यहाँ पाँच वर्षों से पड़ा हुआ हूँ। संसार के सब सुखों, सब इच्छाओं पर लात मार दी है। वह सोचती है, मैं सुखी हूँ, आनंद में मग्न हूँ, लेकिन मेरे मुख पर एक दिन भी हँसी नहीं आई। मैंने जैसा विश्वासघात किया है, उसका प्रतिफल हाथोंहाथ पा रहा हूँ। मेरा उत्साह, मेरा सुख, मेरा आनंद, मेरा शृंगार, मेरा सुहाग, सब तो नष्ट हो गया है। मैं इस वेदना को पुस्तकों के बीच में रहकर भूलना चाहता हूँ, मगर भूल नहीं सका हूँ। पिता के नियंत्रण से छूटने के लिये ही इतना घोर परिश्रम किया है कि मैं संसार में अपने पैरों खड़ा हो सकूँ, और अमीलिया को पुनः अपना कह सकूँ। परंतु वह तो जानती नहीं। वह मुझे नीच और पापात्मा समझती है—अत्याचारी और कामुक पुरुष समझती है। मैं कैसे यह भाव दूर करूँ? कैसे उसे बतलाऊँ कि मैं उससे उसी तरह प्रेम करता हूँ, जैसे पहले करता था। नहीं, उससे भी अधिक!

"वह सोचती है, मैं विवाह करने जा रहा हूँ, और विवाह कर लूँगा। यह उसका भ्रम है। आभा को पिताजी ने और डॉक्टर

नीलकंठ ने मेरे लिये मनोनीत किया है, और किसी हद तक आभा की भी यही इच्छा है। परंतु क्या मैं आभा को प्यार करता हूँ? नहीं, उसे प्यार नहीं करता। कभी-कभी उससे खेल कर लेता हूँ, जी बहला लेता हूँ, और कुछ नहीं। आभा को शीघ्र ही इस मिथ्या जाल से निकालना उचित है। कहीं वह उस पंक में न फँस जाय, जिसमें मैं फँसा हुआ हूँ, और अमीलिया फँसी हुई है। आग के साथ खेलते-खेलते कहीं घर में ही आग न लग जाय। आभा को सचेत कर देना ठीक है। डॉक्टर नीलकंठ को भी साफ़ लफ़्ज़ों में अपनी अनिच्छा बता देनी चाहिए। पिताजी कह रहे थे कि तुम्हारी इच्छा होने पर वह आभा के साथ विवाह करेंगे। पिताजी से भी यह कह देना चाहिए कि मैं आभा से विवाह नहीं कर सकता।

"अमीलिया कहती है, उसे विवाह का प्रलोभन देकर कहीं उसका कौमार्य नष्ट न करना! वह सत्य ही तो कहती है। मैंने उसे धोखा दिया है, वही वह समझती है। क्या मैं उसकी दृष्टि में इतना गिर गया हूँ? गिरने की तो बात ही है। आश्चर्य तो यह है कि वह अभी तक इस भाव को अपने उर में दबाए रही। वाजिब तो यह था कि वह संसार में प्रकाशित कर दे कि मैं नीच हूँ, विश्वासघाती हूँ, और पापी हूँ। यही मेरे लिये यथार्थ पुरस्कार था।

"आभा क्या मुझसे प्रेम करती है? मालूम तो होता है। उस दिन 'मालती' नाम का रूमाल उसके यहाँ रह गया, और उसे कितनी ईर्ष्या हुई थी। ईर्ष्या का दूसरा नाम प्रेम है। जहाँ प्रेम है, वहाँ ईर्ष्या है। फिर उससे किस तरह कहूँ कि वह मेरा ध्यान छोड़ दे, क्योंकि मैं दूसरे का हूँ, दूसरे की प्रतिज्ञा में बँधा हुआ गुलाम हूँ। उससे प्रेम करने के लिये स्वतंत्र नहीं हूँ। मैं अमीलिया का हूँ, और अमीलिया मेरी है। आभा, मुझे क्षमा करो।"

इसी समय आभा सत्य ही वहाँ आ गई। भारतेंदु के अंतिम

उद्गार निःशब्द न रहकर उसके मुख से सशब्द निकल गए थे, जिन्हें उस कमरे में प्रवेश करती हुई आभा ने सुन लिया। आभा का शरीर रोमांचित हो गया। उसका प्रेम-प्रवाह क़ाबू के बाहर हो गया। वह गद्गद हो गई। जिसकी उसे आशा न थी, वह उसने अपने कानों से सुन लिया। आभा प्रेम में मस्त होकर नाचने लगी।

उसने मुस्किराते हुए कहा—"क्या हो रहा है जनाब ?"

आभा ने इस तरह प्रश्न किया, जैसे उसने कुछ सुना ही न था।

भारतेंदु चौंक पड़े। अवाक् होकर उसकी ओर देखने लगे।

आभा ने समझा, वह अपनी कमज़ोरी प्रकट होते देखकर घबरा गए हैं। वह प्रसन्नता के शिखर पर चढ़ गई, और हृदय खोलकर हँस पड़ी। सरसता का स्रोत उमड़कर भारतेंदु को डुबाने लगा। उन्होंने अमीलिया का पत्र अपनी जेब में रख लिया। आभा ने देखा, लेकिन उसने कोई महत्त्व नहीं दिया। वह तो अपने ही सुहाग में विभोर थी। उनकी क्षमा-याचना को अपने प्रति अगाध प्रेम का दिग्दर्शन समझा। वह उसी के भँवर में पड़कर अपनी सुध-बुध खो बैठी।

भारतेंदु सोचने लगे, क्या उसने कुछ सुन लिया है। कितना सुना है, और क्या सुना है, यह उन्हें न मालूम था। परंतु उसकी खिलखिलाहट देखकर उन्हें विश्वास हुआ कि अधिक नहीं सुना। वह यह जानकर कुछ सुखी हुए कि अमीलिया का भेद अभी प्रकट नहीं हुआ। यही तो मानव-जाति की निर्बलता है।

आभा ने हँसते हुए प्रेम के साथ पूछा—"इस तरह मेरी ओर क्यों देख रहे हैं ? क्या मैंने आकर आपको कुछ विरक्त कर दिया है ? अच्छा, जाती हूँ, क्षमा कीजिएगा।"

आभा की इच्छा थी कि वह उन शब्दों को उसके सामने दुहरावें, जिन्हें वह कुछ देर पहले सुन चुकी थी।

परंतु भारतेंदु ने कहा—"यह तो मेरा परम सौभाग्य हुआ, जो आज आपने पधारकर इस कुटीर को पवित्र किया। आज के पहले मैंने कभी आपको यहाँ आते नहीं देखा, इसलिये इन आँखों को विश्वास नहीं होता कि यह स्वप्न है, या सत्य ! इसी से अवाक् होकर देख रहा हूँ। आइए, विराजिए।"

भारतेंदु के स्वर में कंपन था, और छिपा हुआ भय। आभा का उस ओर ध्यान न था। वह एक कुरसी पर बैठ गई।

भारतेंदु ने उठते हुए कहा—"आज साक्षात् देवी ने पधारकर जब घर पवित्र किया है, तो कुछ पूजा और प्रसाद भी ले आऊँ।"

कहते-कहते वह कमरे के बाहर गए। आभा मना करती ही रही।

---

(४)

पंडित मनमोहननाथ अपने कैबिन में व्याकुलता से टहल रहे थे। उनके मुख पर अशांति के लक्षण और मानसिक वेदना के भाव प्रकट हो रहे थे। वह सोचने लगे—"यह कुली-प्रथा अभी तक बंद नहीं हुई। न-मालूम कितना परिश्रम इसे बंद करने के लिये किया गया, लेकिन गुप्त रूप से अभी तक जारी है, और अभागे भारतीय ग़ुलाम की तरह बेचे जा रहे हैं। मान लिया जाय कि भारतीय पुरुष अब ग़ुलाम बनाकर नहीं बेचे जाते, लेकिन स्त्रियों का कारबार अभी तक बंद नहीं हुआ। सभ्य संसार बड़े नाज़ के साथ कहता है कि मैंने ग़ुलामी-प्रथा बंद कर दी है, मनुष्य के अधिकार मनुष्य को दिलाए हैं। अमेरिका की डींग तो मशहूर ही है, और अन्य योरपीय देश भी कुछ कम डींग नहीं हाँकते। किंतु आश्चर्य तो यह है कि प्रथा अभी तक उठी नहीं। इसका नाश नहीं हुआ। आगे होगा, कौन कह सकता है। यह बात नहीं कि यह ग़ुलामी की प्रथा केवल भारत में ही प्रचलित है, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि थोड़े-बहुत रूप में सब देशों में प्रचलित है। ग़ुलामों का व्यापार करनेवालों की संस्था का संगठन ही कोई दूसरा है, जिसमें जाति, वर्ण और देश का कोई विचार या संबंध अथवा सहानुभूति नहीं। इनका ध्येय केवल पैसा कमाना है। वे भारतीय स्त्रियों को उसी प्रकार बेच देंगे, जैसे वे एक अँगरेज़, फ्रेंच या जर्मन-जाति की स्त्री को बेचते हैं। तमाम देशों की सरकारें इसे बंद करना चाहती हैं, परंतु सफल नहीं होतीं। हाँ, इन सब देशों से उतने ग़ुलाम बाहर नहीं भेजे जाते, जितने भारत से। अभागे

भारतवर्ष के भाग्य में कब तक यह दुख देखना नसीब है, कौन कह सकता है।

"मैंने भी कुली-प्रथा के चक्कर में पड़कर बहुत कष्ट उठाए हैं। वह ज़माना और था, उस वक्त 'एमीग्रेशन' ज़ोर से जारी था, परंतु अब तो उसकी आवश्यकता नहीं रही। फ़िज़ी आदि प्रदेश जन-संख्या से परिपूर्ण हैं, उनकी आबादी बढ़ाने की आवश्यकता नहीं। भारत में भी आंदोलन होने से सरकार ने क़तई बंद कर रक्खा है, परंतु यह कौन संस्था है, जो इन्हें गुप्त रूप से भारत से ले जाती और गुलामों की भाँति बेचती है। इसका मूलोच्छेद करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। एक ओर संसार, विशेषकर पश्चिमीय भाग, पूँजी की समानता अथवा साम्यवाद का प्रचार कर रहा है कि प्रत्येक मनुष्य के अधिकार इस धरातल पर सम हैं, जैसे सूर्य का प्रकाश, वायु की लहर, अग्नि का उत्ताप सबको समान रूप से प्राप्त हैं, उसी प्रकार पूँजी या दूसरी आवश्यकताएँ, जो वस्तुओं के आदान-प्रदान अथवा विनिमय से प्राप्त होती हैं, समान रूप से मनुष्य को प्राप्त होनी चाहिए। एक ओर तो यह आदर्श संसार के सामने रक्खा जा रहा है, और दूसरी ओर पूर्वीय भाग में मनुष्य के सबसे साधारण अधिकार पर आघात हो रहा है—एक मनुष्य दूसरे का ग़ुलाम बनाया जा रहा है! यह कैसा अंधेर है, कैसा अन्याय है। एक पृथ्वी, जिसके दो खंड और उसमें इतना पार्थक्य।

"ग़ुलाम का जीवन क्या कोई मनुष्य का जीवन है। उसके सुखों का मुझे पूरा अनुभव है। जब वे दिन याद आते हैं, तो कलेजा धक से रह जाता है। उन दिनों अगर कभी सौभाग्य से भर पेट भोजन मिल जाता था, तो अहोभाग्य समझता था। इसके अलावा खुले हुए खेतों में—जहाँ धूप, शीत और वायु जी खोलकर अत्याचार करते थे—नंगे और भूखे काम करना पड़ता था। अगर

काम पूरा न होता था, तो 'ओवर सियर' के बेतों की बर्बरता का शिकार होना पड़ता था। पीठ उनके हंटरों के आघात-व्रणों से भरी पड़ी है। मेरे मुँह से ख़ून की धार निकली है, और शरीर कई मर्तबे लहूलुहान हो गया है। ऐसी अवस्था में भी काम करना पड़ता था, और चिकित्सा का तो कोई साधन ही न था। यह क्यों? इसलिये कि मैं ग़ुलाम था। ग़ुलामों के हृदय नहीं, मन नहीं, शरीर नहीं, उन्हें सुख तथा शांति की आवश्यकता नहीं। वे अपनी इच्छा के स्वयं स्वामी नहीं। वे अपने स्वामी की इच्छाओं के दास हैं। उसका हृदय, उसका मन और उसका शरीर उसके स्वामी का है। यहाँ तक कि उसके जीवन का भी अधिकार उसका नहीं है, वह भी खो चुका है। यह है ग़ुलामी। जब अपने ऊपर स्वयं उसका अधिकार नहीं, तो उसके बाल-बच्चों के संबंध में कुछ कहना फ़िज़ूल है। मैं सब पीड़ाएँ जानता हूँ, क्योंकि स्वयं ग़ुलाम था।

"यह तो ईश्वर की कृपा थी कि मैं उससे मुक्त हो गया हूँ, और आज मेरे पास करोड़ों रुपयों का धन है। मैं एक विशाल पूँजी का स्वामी हूँ। दर असल यह पूँजी ही ग़ुलाम बनाने की मशीन है। यदि ग़ुलामी नाश करना है, तो पूँजी नाश करनी चाहिए, और उसका अस्तित्व मिटा देना चाहिए। पूँजी के लोभ से मनुष्य मनुष्य पर अत्याचार करता है। ईश्वर के दिए हुए समता के भाव को भूल जाता है, और अपनी स्वार्थ-योजना में इतना संलिप्त हो जाता है कि उसे ध्यान नहीं रहता कि दूसरा भी उसका-जैसा मनुष्य है, उसे उसी तरह जीने का अधिकार है, जैसे उसे है। यह पूँजी का लोभ संघातक है—मनुष्य-जाति के लिये विष है।

"पूँजी क्या है? दूसरे की आवश्यकताओं को हरण कर लेने से पूँजी का जन्म होता है। ईश्वर ने खानों में सोना, हीरा, लाल,

लोहा, ताँबा आदि और समुद्र में मोती वग़ैरह सब मनुष्य-जाति के लिये उत्पन्न किया है—किसी व्यक्ति-विशेष के लिये संचित नहीं किया। जब कोई व्यक्ति-विशेष इसे अपने स्वार्थ के लिये, दूसरों के अधिकार नष्ट कर, अपहरण कर लेता है, तब वह उसकी पूँजी होती है। खानों पर सब मनुष्यों का समान रूप से उसी तरह अधिकार है, जिस तरह बरसते हुए मेघ के जल पर सबका अधिकार है। वायु पर जैसे सबका अधिकार है, उसी तरह उन पर भी वैसा ही अधिकार है। मैं कई खानों का मालिक हूँ, उनसे निकले हुए सब माल पर मनुष्य-जाति का अधिकार है। मैंने अब तक अन्याय किया है, और उन्हें उससे वंचित कर रक्खा है, जो उनका है, अकेले मेरा नहीं। मैंने बड़ा घोर पाप किया है, जिसकी क्षमा नहीं। भगवान् के दिए हुए धन को अपने और अपने पुत्र के लिये संचित कर रहा हूँ। इस धन में कितने ग़रीबों के, कितने इतर मनुष्यों के ख़ून का दाग़ लगा है, कितनों की आहों की इस पर छाप है, कौन कह सकता है। जो पाप मैंने किया है, उसका प्रायश्चित्त नहीं। मैं यह पूँजी मनुष्य-जाति को लुटा दूँगा, उनका प्राप्य उनको दे दूँगा, तभी मेरा कल्याण है, और इसी में भारतेंदु का कल्याण है।

"भारतेंदु के लिये चिंतित होना स्वार्थ है। वह भी तो मनुष्य है, वह किसी तरह उन लोगों से बढ़कर नहीं, जो मेरी खानों में काम करते हैं। उसका अधिकार क्या मेरा पुत्र होने से कुछ ज़्यादा होता है? नहीं, किसी अंश में नहीं। मेरा ही अधिकार क्या अधिक है? कुछ नहीं। सबके बराबर है।"

बाहर से स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"आज इस बेचैनी का क्या कारण है, पंडितजी?"

पंडित मनमोहननाथ के विचारों का स्रोत रुक गया। उन्होंने

सिर उठाकर देखा, सामने स्वामी गिरिजानंद उनकी ओर सहानु-भूति के साथ देख रहे थे।

उन्होंने उत्तर दिया—"स्वामीजी, आपके विचारों का मैं अभी तक क़ायल नहीं हुआ। मैं ज्यों-ज्यों सोचता हूँ, त्यों-त्यों यह विचार बद्धमूल हो रहा है कि मनुष्य-समाज में सबके अधिकार समान हैं।"

स्वामी गिरजानंद ने कुरसी पर बैठते हुए कहा—"यह मैं कब अस्वीकार करता हूँ। मनुष्य के अधिकार बिलकुल समान हैं, यह तो मैं भी कहता हूँ।"

पंडित मनमोहननाथ ने संतुष्ट होते हुए कहा—"जब मनुष्य-जाति के अधिकार समान हैं, तो पूँजी की कोई आवश्यकता नहीं रहती। पूँजी का जन्म तो दूसरे के प्राप्य को अपहरण करने से होता है।"

स्वामी गिरिजानंद ने उत्तर दिया—"पूँजी की आवश्यकता तो मनुष्य-मात्र को होती है; अब सवाल यह है कि पूँजी की समानता होनी चाहिए। समाज का संगठन इस रूप में होना चाहिए कि पूँजी सबके पास समान रूप से लभ्य हो। कोई भी काम करने के लिये आपको पूँजी की ज़रूरत पड़ेगी। आप अपना ही उदाहरण ले लें। आप कई खानों के स्वामी हैं, लेकिन उन्हें खोलने के लिये आपको पूँजी की आवश्यकता पड़ी थी। अगर आप यह कहें कि मैं चंद मनुष्यों को एकत्र कर खान खुलवाता, और वे सब अवैतनिक होते, तो पूँजी की कोई ज़रूरत न थी। यह केवल काल्पनिक बात है। मान लीजिए, आपने एक जगह इस तरह कई मनुष्यों को खान पर लगा दिया, और अगर उस खान से कुछ न निकला, तो वे मनुष्य, जिन्होंने कई दिनों भूखे रहकर काम किया है, आपकी जान के भूखे हो जायँगे। खान की जगह आपने तजवीज़ की थी, लिहाज़ा उन्हें भूखों मारने के आप ही

उत्तरदायी हैं। किंतु अगर वे आपसे वेतन पाकर उस खान में काम करते हैं, तो उनकी कोई हानि नहीं होती; चाहे खान में सिवा मिट्टी के कोई दूसरी वस्तु नहीं निकलती। इसलिये आपको पूँजी की ज़रूरत है। और, अगर खान से कुछ निकला, तो आपकी पूँजी की वृद्धि हुई; अगर कुछ न मिला, तो आपकी पूँजी का नाश हुआ। और, चूँकि खान से आपकी पूँजी की वृद्धि और नाश है, इसलिये आप ही उससे फ़ायदा और नुक़सान उठाने के अधिकारी हैं। पूँजी का जन्म इसी तरह हुआ है। मनुष्य-जाति की आदिम सभ्यता में भी पूँजी की ज़रूरत थी, और अंतिम सभ्यता में ज़रूरत रहेगी। पूँजी का नाश नहीं।"

पंडित मनमोहननाथ ने कुछ सोचते हुए कहा—"पूँजी का जन्म तो दूसरे की आवश्यकताओं को अपहरण करने से होता है।"

स्वामी गिरिजानंद ने उत्तर दिया—"नहीं, पूँजी का जन्म हमेशा इस तरह नहीं होता। अपनी आवश्यकताओं की काट-छाँट और उसे संचय करने से पूँजी बनती है। वास्तव में ज़रूरत यह है कि पूँजी का नाश न किया जाय, बल्कि उसकी वृद्धि की जाय, इतनी कि वह सबको सुलभ हो। उसको इस तरह से मनुष्य-समाज में लगाया जाय कि उसकी कमी किसी को महसूस न हो। जीवन की समस्त आवश्यकताएँ समान रूप से मनुष्य-मात्र को लभ्य हों। यही शायद साम्यवाद का आदर्श और उसका ध्येय है।"

इसी समय कैप्टेन जैकब्स ने आकर कहा—"उस लड़की को होश आ रहा है, डॉक्टर आपको बुलाते हैं।"

पंडित मनमोहननाथ ने उत्सुकता से उनकी ओर देखकर पूछा—"होश आ गया। ख़ैर, अच्छा हुआ। मानव-जाति का एक सुंदर पुष्प, जो बेतरह सताया गया मालूम होता है, मौत के मुँह से निकल आया। ईश्वर को अनेकानेक धन्यवाद हैं!"

यह कहकर उन्होंने नतजानु होकर भगवान् को धन्यवाद दिया। स्वामी गिरिजानंद संतुष्ट होकर मुस्किराने लगे।

पंडित मनमोहननाथ की आँखों से आँसू निकलने लगे, जिनसे ईश्वर की अनुकंपा सिक्त होकर रोमांचित होने लगी।

प्रार्थना समाप्त होने पर कैप्टेन जैकब्स ने कहा—"डॉक्टर कहते हैं, उसकी दशा संघातक है, शायद न भी बचे।"

पंडित मनमोहननाथ की आँखों से एक अद्भुत ज्योति निकल रही थी। उन्होंने दृढ़ता से कहा—"नहीं, कैप्टेन, वह मरेगी नहीं। मुझे विश्वास है, वह जीवित रहेगी। भगवान् की इच्छा ऐसी ही मालूम होती है, और इसी का प्रमाण भी मिलता है।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"आज उस बेचारी को दो दिन बाद होश आया है। हमारा जहाज़ कल से यहीं, सिंगापुर में, रुका हुआ है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कोई उत्तर नहीं दिया। जैसे एक शब्द भी उनके कान में नहीं गया। वह कैप्टेन जैकब्स के साथ उस कमरे में आतुरता के साथ गए, जहाँ माधवी बेहोश लेटी हुई थी। उनके चेहरे पर चिंता के लक्षण प्रकट हो रहे थे।

उन्हें देखते ही डॉक्टर ने कहा—"पंडितजी, मरीज़ को अभी-अभी होश आया था, लेकिन फिर बेहोश हो गया। चोट बड़े मर्म-स्थल पर लगी है। मालूम होता है, किसी ने सिर के बल बहुत ज़ोर से उठाकर पटक दिया है। इसके दिमाग़ में धक्का लगा है, और अक्सर ऐसे धक्के लगे हुए मनुष्यों का प्राणांत हो जाता है। यह धक्का मुझे इतना गहरा मालूम होता है कि अगर भगवान् की दया से किसी तरह प्राण बच भी गए, तो दिमाग़ ज़रूर ख़राब जायगा। मुझे भय है, जन्म-भर के लिये कहीं पागल न हो जाय।"

कैप्टेन जैकब्स ने कहा—"अगर पागल हो जाय, तो इससे इसका मरना ही अच्छा।"

पंडित मनमोहननाथ ने सरोष कैप्टेन की ओर देखा, और फिर आदेश-पूर्ण स्वर में कहा—"पागल हो जाने की चिंता मुझे नहीं, मैं अच्छी तरह एक पागल की देख-रेख और उसकी रक्षा कर सकता हूँ। डॉक्टर, इसका मुझे तनिक डर नहीं। इसे आप किसी तरह होश में लावें। मुझे विश्वास है, यह मरेगी नहीं।"

डॉक्टर ने गंभीरता से कहा—"मैं वही यत्न कर रहा हूँ। मुझे भी अब विश्वास होता है। यदि जीवन की कोई संभावना न होती, तो वह कभी होश में न आती। यह दूसरे बार की मूर्च्छा किसी हद तक कुछ शक पैदा करती है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"आप शक को निकाल दें। मैं विश्वास दिलाता हूँ, यह अवश्य ठीक हो जायगी। आपको इसके लिये यथेष्ट पुरस्कार मिलेगा।"

डॉक्टर ने मुस्किराकर कहा—"इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं। यों भी मेरा कर्तव्य है कि मैं यथासाध्य इसका इलाज करूँ। मुझे एक चतुर नर्स की आवश्यकता है। यहाँ अगर कोई मिल सके, तो ठीक, नहीं तो सरकारी अस्पताल से बुलाना पड़ेगा। और, जब तक पूरी तरह मरीज़ स्वस्थ न हो जायगा, जहाज़ को सिंगापुर में ठहराना पड़ेगा, क्योंकि कोई नर्स आपके साथ चल न सकेगी।"

पंडित मनमोहननाथ ने चिंतित दृष्टि से चारो ओर देखा। उन्हें यह न मालूम पड़ा कि यह गुरुतर भार किसे सौंपें।

अमीलिया वहाँ मौजूद थी। उसने आगे आकर कहा—"डॉक्टर, मैं नर्स का काम जानती हूँ, मैं सेवा करने के लिये तैयार हूँ।"

पंडित मनमोहननाथ के नेत्र उल्लास से चमकने लगे। डूबते को सहारा मिला।

उन्होंने कहा—"ठीक है, अमीलिया को तो मैं बिलकुल भूल ही गया था। वह एक चतुर नर्स है। फ़िज़ी में एक बार मेरा लड़का बीमार पड़ा था, उसके जीवन की रक्षा अमीलिया ने अपनी सेवा-शुश्रूषा से की थी।"

यह सुनते ही अमीलिया का मुख विवर्ण हो गया। पुरानी घटना ने उसका घाव ताज़ा कर दिया। बड़ी कठिनता से उसने अपने को सँभाला। पंडित मनमोहननाथ कहते-कहते रुक गए।

थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा—"अमीलिया नर्स की आवश्यकता पूर्ण कर देगी, परंतु डॉक्टर, आपको मेरे साथ चलना पड़ेगा। आपको मैं अपना डॉक्टर नियुक्त करता हूँ, बोलिए, आप क्या वेतन लेंगे?"

डॉक्टर हुसैन भाई-अहमद भाई कुछ सोच-विचार में पड़ गए। डॉक्टर बंबई के रहनेवाले एक मुसलमान बोहरा-जाति के नवयुवक थे। इँगलैंड से कुछ ही दिन पहले डिगरी लेकर लौटे थे, और सिंगापुर में अपने चाचा करीम भाई-हसन भाई के साथ रहकर प्रैक्टिस करते थे। अभी उन्हें पूर्ण रूप से अपने व्यापार में सफलता नहीं मिली थी।

उन्हें चिंतित देखकर पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"आप किसी बात की ज़रा भी चिंता न करें। अभी आपको ५००) वेतन मिलेगा, और आगे तरक़्क़ी भी मिलेगी। अभी फ़िलहाल तो आपको मेरे साथ रहना पड़ेगा, बाद में आपको खानों पर भेज दूँगा, जहाँ हज़ारों आदमी काम करते हैं, और एक 'कालोनी' (उपनिवेश) बनाने का विचार कर रहा हूँ। उस समय आपको भारतीय सिक्कों में ७००) माहवार दूँगा। आपको मैं हर तरह से संतुष्ट करूँगा।"

डॉक्टर हुसैन भाई ने संकोच के साथ उत्तर दिया—"आपका हुक्म मानने में मुझे कोई एतराज़ नहीं, बल्कि मेरे-जैसे नए डॉक्टर के लिये सौभाग्य की बात है, लेकिन मुझे अपने चाचा से भी पूछना पड़ेगा, जिनके आश्रय में मैं हूँ। मेरे वालिद तो मेरे बचपन में ही फ़ौत हो गए थे, चाचा ने मुझे पढ़ाया-लिखाया है। उनसे बग़ैर इजाज़त लिये मैं अपनी रज़ामंदी नहीं दे सकता। निहायत अदब के साथ मैं इसकी माफ़ी चाहता हूँ।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"हाँ, तुम अपने चाचा से सब हाल कहकर उनकी आज्ञा ले लो। मुझे विश्वास है, वह कभी इनकार न करेंगे।"

डॉक्टर हुसैन भाई ने कहा—"जी हाँ, उम्मीद तो यही है। वह मेरी उन्नति में कभी बाधक न होंगे।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"तो इस लड़की का भार मैं आप पर छोड़ता हूँ। इसे मौत की गोद से उठाकर मुझे वापस करना पड़ेगा।"

डॉक्टर हुसैन भाई ने कहा—"इंशा अल्लाह, उम्मीद तो ऐसी ही है।"

पंडित मनमोहननाथ ने पूछा—"क्या आप कह सकते हैं कि इसे कब होश आएगा ?"

डॉक्टर हुसैन भाई ने कुछ सोचते हुए कहा—"ठीक ऐसा ही एक केस मेरे सामने ग्लासगो-अस्पताल में आया था, जब मैं एडिनबरा से वहाँ के अस्पताल में काम करने के लिये भेजा गया था। एक औरत छत पर से सिर के बल गिर पड़ी थी। उसके दिमाग़ में भी गहरी चोट पहुँची थी। उसे पाँच दिनों बाद होश हुआ था, लेकिन फिर पागल हो गई। यह भी क़रीब-क़रीब वैसा ही केस है। इस लड़की को तूफ़ान में जहाज़ उलटने-पलटने से

संघातक चोट पहुँच गई है, इसलिये शायद होश आने पर यह पागल हो जाय। मुझे भी अब यक़ीन पड़ता है कि इसे मैं अच्छा कर दूँगा। इंजेक्शन ने जब फ़ायदा दिखलाया है, तो आगे भी ज़रूर फ़ायदा होगा। ज़रूरत सिर्फ़ एक तीमारदार की थी, वह मुझे मिल गया। अब आप निश्चिंत रहें।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"अब आप कब अपने चाचा से दरयाफ़्त कर जवाब देंगे?"

डॉक्टर हुसैन भाई ने कहा—"आज शाम तक।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"आप जब शाम को आएँ, तो सफ़र के लिये बिलकुल तैयार होकर आएँ। आपका नियुक्ति-पत्र तो मैं अभी लिखे देता हूँ, और दूसरी बातों की लिखा-पढ़ी बाद में करते रहेंगे। यहाँ मैं बहुत देर ठहर नहीं सकता। आज शाम के पहले-पहले रवाना होना चाहता हूँ। बेहतर तो यह होगा कि आप दवा का इंतज़ाम करके अभी चले जायँ, और अपने चाचा से पूछकर बिदा भी ले आवें।"

डॉक्टर हुसैन भाई ने अपनी सम्मति प्रकट करते हुए कहा—"जो हुक्म। ऐसा ही करूँगा।"

पंडित मनमोहननाथ अपने कैबिन में उनका नियुक्ति-पत्र लिखने के लिये सवेग चले गए। डॉक्टर हुसैन भाई माधवी के दूसरा इंजेक्शन लगाने की तैयारी करने लगे।

---

(५)

पंचमी का कुछ वक्र चंद्रमा धरातल को क्षीण तथा मलिन प्रकाश से स्नान कराने का उद्योग कर रहा था। श्वेत बादल के टुकड़े कभी-कभी उसके साथ आकर खेलने लगते। चंद्रमा उन्हें पकड़ने की कोशिश करता, और वे हँसते हुए वायु-वाहन पर सवार भाग खड़े होते। चंद्रमा भी उनके पीछे दौड़ता हुआ-सा मालूम होता। इसी दरम्यान दूसरा बादल का टुकड़ा उसके साथ छेड़खानी करने लगता। वह उसे छोड़कर नवागंतुक के साथ परिहास करने लगता। आभा इस दृश्य को देखकर खिलखिलाकर हँस पड़ी। प्रतिध्वनि उसकी सरसता और उत्फुल्लता चंद्रमा तक पहुँचाने का निष्फल प्रयत्न करने लगी।

आभा अपने बँगले के उद्यान में टहल रही और बादलों तथा चंद्रमा का परस्पर हास-परिहास देखकर जी खोलकर हँस रही थी। वह आज प्रसन्न थी। उसकी प्रसन्नता उमग-उमगकर बाहर निकल रही थी, और वह उसे दबाने का प्रयत्न करती, परंतु वह उसके वश के बाहर की बात थी। उसने उस दिन शाम को भारतेंदु को क्षमा-याचना करते सुना था। उसे विश्वास हो गया था कि भारतेंदु उससे प्रेम करते हैं। उसके लिये इतना ही यथेष्ट था। प्रेमी अपना प्रतिदान पाने से जगत् का सम्राट् हो जाता है—शायद उससे भी ऊँचा। वास्तव में आभा भारतेंदु से प्रेम करती थी। उसे जहाँ यह मालूम हुआ कि उनके हृदय में भी उसका स्थान है—वह भी वैसे ही आकुल हैं, जैसे कि वह—वह आनंद में विभोर हो गई। उसका प्रेम सफल होकर नृत्य करने लगा। प्रेम-संसार में यह एक

अद्भुत बात है कि प्रेमी अपने प्रेम-पात्र को उसी तरह दुखी देखना चाहता है, जैसा वह स्वयं है। इस वैचित्र्य का क्या रहस्य है, कौन वैज्ञानिक इसका विश्लेषण करे।

आभा ने फूली हुई गुलदाउदी का एक बड़ा पुष्प तोड़ लिया, और उसे सूँघने लगी। भीनी-भीनी सुगंध उसके प्रेम को मत्त करने लगी। उसने वह पुष्प, अपनी कुंतल-राशि में खोंस लिया। वह नाचती हुई आगे बढ़ी। सामने पीला गुलाब चमेली के सहारे, उसके अंग-प्रत्यंग के साथ लिपटता हुआ उसके कपोलों पर प्रेम-चिह्न अंकित करने के लिये उतावली से झुक रहा था। गोल, बँधे हुए पुष्प अपनी मधुर गंध वायु को लुटा रहे थे—और समीर साम्य-वाद का सच्चा प्रतिनिधि होने से वह सुगंध धन-संसार को मुक्त हस्त से वितरण कर रहा था। वह आभा के कपोलों से टकराया, और नासिका द्वारा भीतर पहुँचकर उसके हृदय के उल्लास को देखने का प्रयत्न करने लगा। आभा ने खीझकर उसके कुछ पुष्प तोड़ लिए। गुलाब ने धन्य होकर उसे आशीर्वाद दिया। वे पुष्प उसके वक्ष पर, साड़ी के ऊपर, स्थिर होकर उसके हृदय का स्पंदन सुनने लगे, और मौन भाषा में उसका संदेश अपने स्वामी समीर से कहकर आदेश देने लगे कि जाओ, भारतेंदु के हृदय में भी ऐसा ही आनंद उत्पन्न कर दो। झूमता हुआ वायु अपनी स्वामिनी का संदेश तथा आज्ञा सुनाने चल दिया। आभा आगे बढ़ी। सामने रजनीगंधा की क्यारी थी। श्वेत पुष्पों का समूह किसी से तोड़े जाने की राह देख रहा था। उन पुष्पों की यह अभिलाषा थी कि वे किसी के कमरे में जाकर, फूलदानी में बैठकर दो प्रेमियों का हास-परिहास देखें, और उन्हें मस्त करके अपना जीवन सफल करें। मौन भाषा में उन्होंने अपनी विनय आभा को सुनाई। उसने मुस्किराकर उनकी बात मान ली, और एक नवीन

गुदगुदी के साथ उन पुष्पों को तोड़कर प्यार के साथ अपने कपोलों से लगा लिया। पुष्प अपनी सुध-बुध खोकर उसका अधरामृत पान करने लगे। आभा की आँखें रस में विभोर होने से शनैः-शनैः बंद हो गईं।

इसी समय उसकी सहेली मालती ने निःशब्द आकर उसकी आँखें बंद कर लीं। आभा चौंक पड़ी, और एक अस्फुट ध्वनि उसके मुख से निकल गई। उसने घबराकर कहा—"कौन है? छोड़ो, मेरा जी घबराता है।"

आभा सत्य ही भय से सिहर उठी। उसका शरीर काँपने लगा।

मालती ने हँसकर उसकी आँखें छोड़ दीं। आभा ने उसे पहचानकर एक शांति की साँस ली। वह भी धीरे-धीरे मुस्किराने लगी।

आभा ने मालती को धक्का देते हुए कहा—"जाओ, तुम हो।"

मालती ने हँसकर कहा—"हाँ, मैं हूँ। मुझे देखकर तो तुम्हें अपार कष्ट हुआ मालूम होता है। हाँ, भई, मैं हूँ तुम्हारी सखी मालती।"

आभा ने दूसरा धक्का देते हुए कहा—"जाओ, तुम्हें हर वक्त मज़ाक़ ही सूझा करता है। मैं तो डर गई, और तुम्हें हँसी की पड़ी है। देखो, अभी तक काँप रही हूँ।"

मालती ने अपनी हँसी बंद करते हुए कहा—"जाने को कहती हो, अच्छा, जाती हूँ। सत्य ही यह समय मेरे आने का न था। मैंने बड़ा भारी अपराध किया। ख़ैरियत यही है कि तुम अकेली थीं, और अगर 'वह' भी होते, तो शायद मार-पीटकर या अपमानित कर निकाली जाती।" यह कहकर मालती जाने लगी।

आभा ने दौड़कर पकड़ते हुए कहा—"अरे, मैंने तुम्हें कब जाने को कहा। तुम तो आज नंगी तलवार लेकर युद्ध करने आई हो।

न-मालूम कहाँ के क़ुलाबे मिलाकर एक व्यर्थ का जाल रच रही हो। तुम्हें मेरी क़सम, जो एक क़दम भी आगे बढ़ीं।"

मालती ने रुककर कहा—"मैं जाती हूँ, तो तुम क़सम दिलाती हो। क्या करूँ, इधर खाईं और उधर ख़ंदक़। बड़ी आफ़त है। अगर ठहरती हूँ, तो 'वह' आकर, एक अनजान को देखकर, घबराकर वापस लौट जायँगे, और इससे मेरी प्रिय सखी की इतनी मनोहर शाम निष्फल जायगी, और अगर जाती हूँ, तो उसी प्रिय सखी की क़सम है, जिसका अनिष्ट मैं स्वप्न में नहीं कर सकती। उफ़्! बड़ी मुश्किल है।"

आभा ने प्रेम के साथ एक हल्की चपत लगाते हुए कहा—"मालती, तुम तो आज बहुत बढ़-बढ़कर बातें कर रही हो। यह क्या अपनी बीती सुन रही हो?"

मालती ने अपने कपोल को सहलाते हुए कहा—"ख़ैर, इसका इस्तग़ासा तो मैजिस्ट्रेट साहब के तशरीफ़ लाने पर दायर किया जायगा। अब रह गया बीती सुनाने के बारे में, उस विषय में यह कहना है कि अनुभूत का रहस्य अनुभवों में संलिप्त रहता है।"

आभा ने खीझकर कहा—"जाओ, मैं तुम्हारी बकवास में अपना सिर नहीं दुखाती। तुम्हारा अध्यात्मवाद तुम्हीं को मुबारक हो।"

मालती ने जाते हुए कहा—"जाने की इजाज़त मिल गई, अब क़सम का बंधन नहीं रहा। नमस्कार! अब बकवास करके आपका अमूल्य समय नष्ट न करूँगी।" यह कहकर वह बड़ी तेज़ी के साथ जाने लगी।

आभा ने फिर दौड़कर उसे पकड़ते हुए कहा—"मालती, मालती, आज तुम्हें क्या हो गया है। ईश्वर के लिये माफ़ करो। तुम मेरी क़सम टालकर जा रही हो। अच्छा, तुम्हें तुम्हारे 'उनकी' क़सम है, जो एक क़दम भी आगे बढ़ीं।"

मालती ने ठहरकर कहा—"अरे! तुमने तो आज क़सम दिलाने की क़सम उठाई है। कभी मेरी क़सम, कभी 'उनकी' क़सम, कभी इसकी, कभी उसकी। वाह, तुम तो इतने ही दिनों में ऐसी बदल गईं। भई, वाह! यह तो ख़ूब रही। जाऊँ, तो जाने न दें, और अगर ठहरूँ, तो जाने को कहें। यह अजीब समस्या है। इसका हल किससे पूछूँ। और तो कोई यहाँ है नहीं, और शायद कोई आवे भी नहीं, सिर्फ़ तुम्हारे 'वह' आनेवाले हैं, उन्हीं से पूछूँगी। देखूँ, 'वह' तुम्हारा पक्ष लेते हैं, या मेरा।"

आभा ने मुस्किराते हुए कहा—"तुम्हारी आँखों में जादू है, तुम्हारा पक्ष लेंगे। वह क्या, जिसके सामने तुम फ़रियाद करोगी, वही तुम्हारी ओर ढुलक जायगा। तुम्हें क्या मालूम कि 'वह' तुम्हें कितना प्यार करते हैं। क्या तुमने कभी उन्हें अपना रूमाल प्रेम-चिह्न में दिया था? ज़रूर दिया था। 'वह' रात-दिन उसी रूमाल को देख-देखकर रोते रहते हैं। एक दिन मैंने वह तुम्हारा रूमाल छीन लिया, तब से बेचारे रोते हैं कि मालती के वापस आने पर अपने रोने का प्रमाण क्या भेंट करेंगे, क्योंकि वह रूमाल उनके आँसुओं से रोज़ाना साफ़ किया जाता था। अब वह तुम्हारा रूमाल मेरे पास है। देखोगी?"

मालती ने हँसकर कहा—"बातें बनाना तो उन्होंने बहुत सिखा दिया है, और साथ ही निरपराध व्यक्तियों पर तोहमत और इलज़ाम लगा देना भी। क्यों फ़िज़ूल उन्हें बदनाम करती हो। अरे हाँ, जिस प्रकार काव्य में व्याज-स्तुति होती है, उसी प्रकार प्रेम में भी व्याज-कथन होता होगा, यानी दूसरे का नाम लेकर अपनी प्रेम-कथा कहना। वाह, आभा, तुममें चातुर्य तो बहुत आ गया है। मुझे भी अपनी शिष्या बना लो।"

आभा ने दबी हुई मुस्किराहट के साथ कहा—"यह देखो,

अपनी शिष्या होने के लिये संकेत कर रही हैं। अच्छा, मैं सहर्ष तुम्हारी शिष्या होना स्वीकार करती हूँ। अच्छा, मालती, सच कहना, तुमने चेला मूँड़ना कब से सीखा।" यह कहकर वह हँस पड़ी, उसकी दबी मुस्किराहट बंधन तोड़कर सवेग बाहर निकल पड़ी।

मालती ने हँसते हुए उत्तर दिया—"चेला मूँड़ना उस वक़्त से सीखा है, जब से तुमने यह काम छोड़ दिया, और गृहस्थिन बनकर, अपने 'उनके' साथ बैठकर राम-राम जपना सीख गईं।"

मालती और आभा की हँसी के शब्द ने उस छोटे-से हौज़ में संतरण करते हुए कमल-पुष्प में बंद भौंरे को चौंका दिया, जहाँ वे दोनो टहलती हुई आकर बैठ गई थीं। मालती ने फ़ौवारा खोल दिया। पानी की महीन-महीन बूँदें चंद्रिका के प्रकाश से अनबिधे मोती बनकर, कमल की बंद पँखुड़ियों पर गिरकर उस छोटे-से कुंड में विलीन होने लगीं।

आभा ने कहा—"शरद् ऋतु वास्तव में बड़ी मनोहर होती है। कवियों ने इसकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहा है। देखो, चंद्रमा कैसा मनोहर मालूम होता है। हालाँकि अभी ज़रा-सा है, मगर फिर भी कैसा उज्ज्वल है।"

मालती ने मंद मुस्कान-सहित पूछा—"और अगर इस समय कोई तुम्हें प्यार करनेवाला हो, तो तुम्हें यह रात और सुहावनी मालूम हो।" यह कहकर वह फिर हँस पड़ी।

आभा लज्जित हो गई।

मालती ने उसका चिबुक उठाते हुए कहा—"शरमा क्यों गईं आभा। क्या तुमने अभी तक किसी को प्यार नहीं किया? देखो, सच कहना, अगर मुझसे कोई बात छिपाई, तो मैं भी तुमसे कुछ न कहूँगी। यह सौदा तो लेन-देन का है। तुम कहोगी, तो मैं भी

कहूँगी, और अगर तुम छिपाओगी, तो मैं तुम्हें क्यों बताऊँगी। विनिमय ईमानदारी का सौदा है।"

आभा सिर झुकाकर कुछ सोचने लगी। चंद्रमा के वक्र मुख पर तिरछी हास्य-रेखा दिखाई देने लगी। मालती उत्सुकता से देखने लगी।

आभा ने कोई उत्तर नहीं दिया। मालती ने कहा—"मुझसे भी इतना परदा! क्या कोई शरमाने की बात है?"

आभा ने साहस के साथ कहा—"नहीं मालती, शरमाने की नहीं, बल्कि गौरव की बात है।"

मालती ने उत्सुकता-पूर्वक कहा—"तब तो सखी, तुम्हें ज़रूर बताना होगा।"

आभा के कपोलों पर लालिमा दौड़ने लगी। मस्तिष्क की ओर रक्त का प्रवाह तेज़ी से बहने लगा, और कोई छिपी हुई शक्ति उसका मुख खोलने के लिये उसे बाध्य करने लगी। किंतु लाज का ताला उसके ओठों पर लगा हुआ था। आभा फिर भी उत्तर न दे सकी।

मालती ने उसे अपने गले से लगाते हुए सप्रेम कहा—"क्यों सखी, मुझे क्या न बतलाओगी। जानती हो, जो प्रेम करता है, उसे प्रेम की कहानी भी अच्छी लगती है। तुम्हें मेरी नहीं, उन्हीं की, जिन्हें तुम प्यार करती हो, क़सम है, जो तुम न बतलाओ। मैं आज बिना सुने न जाऊँगी।" यह कहकर विकट उत्सुकता से उसकी ओर देखने लगी।

आभा अपने हृदय का साहस एकत्र करने लगी।

मालती ने अधीर होकर कहा—"जाओ, मुझसे न कहोगी।"

मालती के स्वर में उपालंभ और विराग की गहरी छाप थी।

आभा उठकर जाने लगी।

मालती ने उसे पकड़ते हुए पूछा—"अरे ! तुम तो चल दीं। ठहरो, जाती कहाँ हो ? आज तुम्हारे प्रेम की कहानी सुने बिना जाने न दूँगी, और ख़ुद भी न जाऊँगी।"

आभा ने मुस्किराते हुए कहा—"तुम कहती हो, जाओ, इस-लिये जाती हूँ।"

मालती ने ज़ोर से हँसकर कहा—"अच्छा ! हुज़ूर को भी लखनवी नाज़-अंदाज़ की काफ़ी मालूमात है, और यही नहीं, मश्क़ भी है।"

आभा ने कुछ झेंपते हुए कहा—"भई, क्या करूँ, तुम जब जाने को कहती हो, तो जाना ही पड़ेगा, और इस तरह वह क़सम उतर गई, जो तुमने चढ़ाई थी।"

मालती ने कुछ ज़ोर से पीठ में थप्पड़ मारकर और किसी क़दर झिझकोरकर कहा—"आपने तो मुझे भी पैदल-शह-मात खिला दी। अरे वाह ! किस अंदाज़ से अपने 'उनके' की सौगंद की याद दिलाई है, जिसे मैं अपने उतावलेपन में भूल गई थी। हाँ भई, अगर तुम्हें 'उनकी सौंह' की कुछ भी क़द्र है, तो ज़रूर कहोगी, और तुरंत कहोगी।"

आभा की लाज का ताला खुल गया। प्रसन्नता, जो अभी तक मालती के प्रभाव में आकर, किसी तरह सकुचाकर मन-ही-मन किलकारी मार रही थी, उमँगकर बाहर निकल पड़ी। आभा की सरस आँखें झूमकर नाच उठीं—भाव निकलता हुआ कुछ रुककर कह बैठा—"क्या करोगी सुनकर मालती ?"

मालती ने पूछा—"तुमने मुझसे क्यों पूछा था ?"

आभा ने कहा—"प्रेम की कहानी सुनने को जी चाहता है। मालती, प्रेम एक सर्वव्यापी शक्ति है, जिसकी नींव पर ईश्वर या भगवान् का अस्तित्व और उसका विश्वास स्थिर है। प्रेम जीवन का

अद्भुत विकास है, जिसके साथ ही ब्रह्म का वास्तविक रूप मंथर गति से इंद्रियों द्वारा देखा जाता और फिर उसमें लीन हो जाता है। इसी मिलन का नाम मोक्ष है, और इंद्रिय द्वारा दिग्दर्शन ही का नाम जीवन है।"

मालती ने हँसकर व्यंग्य स्वर में कहा—"प्रेम वेदांत सिखाता है, यह तो आज ही मालूम हुआ।"

आभा ने गंभीर होकर कहा—"मालती, वेदांत की ज्योति का नाम प्रेम है। वेदांत के तत्त्व केवल प्रेम की कहानियाँ हैं, ऋषियों के सत्य अनुभव हैं, अनुमान हैं, विचार हैं, उपदेश हैं, मार्ग-प्रदर्शक संकेत हैं, जो इश्क़ हक़ीक़ी की अंतिम सीमा की ओर ले जाते हैं, जिसमें ब्रह्म की अनुभूति है, या जो स्वयँ ब्रह्म है। वेदांत का ज्ञान आत्मा का स्वयं निदर्शन है। प्रत्येक कण, उनसे भी छोटे परमाणुओं में जीवन है। उनका तो न आदि है, और न अंत। वे सदैव थे, और सदैव रहेंगे। वे परमाणु एक दूसरे के प्रति संयुक्त होते हुए भी विलग हैं, क्योंकि यही जीवन का रूप है। वही फिर मिलने का प्रयत्न करते हैं, और यह मिलन प्रेम से होता है। अतएव प्रणय, विकास, अनुराग, भक्ति और प्रेम इश्क़ मजाज़ी के रूप में संसार में वर्तमान रहता है, और जब ब्रह्म का सर्वव्यापी ज्ञान हो जाता है, तब ऐंद्रिक भोग-विलास की वासना, जो वास्तव में जीवन होने का सर्वप्रधान लक्षण है, अपने आप उस सुख में लीन हो जाती है, जिसे वैराग्य अथवा इश्क़ हक़ीक़ी कहते हैं। भगवान् जयदेव का जीवन ज्वलंत प्रेम का अद्भुत उदाहरण है, और चैतन्य का अव्यक्त के प्रति भक्ति का। तुलसी और सूर का आधा शृंगार और आधा वैराग्य का निदर्शन है।"

मालती ने विस्मित होकर आभा की ओर देखा।

आभा कह रही थी—"मालती, मैं विवाह को दो आत्माओं का

परिचय और आपस में 'दो-पन' को मिटाकर एक होने का उपाय या मार्ग मानती हूँ। यह परिचय जब भगवान् के उन दो कणों में होता है, जो बहुत दिनों से जीवन के फेर में पड़कर न्यारे थे, तब दंपति में उतना आकर्षण नहीं होता, जितना उन दो कणों के विवाह में होता है, जो कई मर्तबे अन्य-अन्य जीवनों में भी मिल चुके हैं। यह क्या तुम्हें कभी अनुभव नहीं हुआ कि किसी वस्तु, पुरुष या स्त्री को देखकर तुम चिंता में पड़ गई हो कि मैंने इसे कहीं देखा है, परंतु ठीक से याद नहीं पड़ता। स्मृति और विस्मृति का यह अद्भुत खेल क्या है, मालती? वही भगवान् की शक्ति के किन्हीं परमाणुओं का परस्पर आकर्षण है, और शायद वे परमाणु पहले जीवन में मिल चुके हैं, इसीलिये यह स्मृति है। और, चूँकि जन्म के साथ कलेवर बदल जाता है, इसलिये विस्मृति है।"

मालती ने चकित नेत्रों से देखते हुए कहा—"कभी-कभी तो ऐसा मलूम होता है आभा! जीवन के किसी क्षण में अनायास यह भाव आ जाता है कि यह वस्तु अथवा मनुष्य कहीं देखा है।"

आभा ने तुरंत ही कहा—"बस, वही स्मृति तो यह सिद्ध करती है कि पूर्व-जन्म में हम मिल चुके और किसी हद तक परिचित रहे हैं। पूर्व-जन्म उसी प्रकार सत्य है, जैसा यह बीतता हुआ जीवन; या यों कहो कि यह जीवन पूर्व-जीवन का परिशिष्ट-मात्र है।"

मालती ने कहा—"तब क्या यह निश्चय है कि पूर्व-जन्म के बिना यह जन्म हो नहीं सकता?"

आभा ने उत्तर दिया—"हाँ, है तो कुछ ऐसी ही बात।"

मालती ने पूछा—"अच्छा, तो फिर हमें पूर्व-जन्म की बातें याद क्यों नहीं रहतीं?"

आभा ने उत्तर दिया—"पूर्व-जन्म की घटनाएँ याद रह सकती हैं,

और किसी-किसी को याद भी रहती हैं। लेकिन अव्वल तो मनुष्य उन पर विश्वास नहीं करता, क्योंकि उनकी पुष्टि नहीं होती, और दूसरे, जीवन-मरण का तार उन्हें भुला देता है, क्योंकि नए जीवन में मनुष्य इतना फँस जाता है कि उसे गत जीवन को स्मरण करने का अवसर नहीं मिलता। काश वह अवसर भी मिला, तो उसकी स्मृति को हम भ्रम कहकर निश्चिंत हो जाते हैं। जैसे स्वप्न देखने के बाद हमें उसकी स्मृति नहीं रहती, और अगर रहती है, तो हम उसे अंधकार का भ्रम समझते हैं, हालाँकि जब हम स्वप्न देखते होते हैं, तो स्वप्न की घटनाओं को सत्य समझते हैं, और उनका असर हमारी इंद्रियों तथा मन पर होता है। ठीक वही बात पूर्व-जन्म की घटनाओं के संबंध में लागू होती है।"

मालती ने चकित होते हुए कहा—"यह तो बिलकुल सत्य है आभा! तुमसे भी मैं पूर्व-जन्म में मिली होऊँगी, लेकिन याद नहीं पड़ता।"

आभा ने ज़ोर के साथ कहा—"बेशक, हम और तुम पूर्व-जन्म के मित्र हैं। यह मुमकिन है कि पूर्व-जन्म में हमारा परिचय बहुत थोड़ा हो, और इस जन्म में कुछ अधिक है। अगले जन्म में इससे भी अधिक होगा।"

मालती ने व्यग्र होकर पूछा—"तो क्या हमारा जन्म बराबर होता रहेगा, इसका कभी अंत नहीं है?"

आभा ने गंभीरता से कहा—"नहीं, हमारे जन्म का अंत नहीं है। यह तार कभी नहीं टूटता, क्योंकि इसी में ईश्वरत्व की सत्ता निहित है।"

मालती ने पूछा—"तो फिर मोक्ष क्या है?"

आभा ने हँसकर कहा—"मोक्ष का नाम ज्ञान है। जब आत्मा को ईश्वर का सर्वव्यापी ज्ञान हो जाता है, वही मोक्ष है। मोक्ष कोई

निष्कर्म या निश्चेतन अवस्था का नाम नहीं। यह माना कि ब्रह्मांड की हर हरकत, हर वस्तु, पाप-पुण्य, सब ईश्वर है, बस, तभी आत्मा को मोक्ष प्राप्त हो गया, और फिर जन्म-मरण का दुख नहीं रहता। मोक्ष लीन होने अथवा छूटने को कहते हैं। जन्म-मरण से छूटना नहीं, बल्कि जन्म-मरण के भाव से मुक्त होने को मोक्ष कहते हैं। जब शरीर के संपर्क अथवा पंचतत्त्वों की मैत्री में आत्मा अथवा ईश्वर आता है, तब उसका नाम जन्म है, और जब उनसे विलग होकर उस सर्वव्यापी एक में लीन हो जाता है, तब उसका नाम मृत्यु या मोक्ष है। आत्मा मुक्त पहले भी था, और बाद में भी है, केवल बीच में, जिसे शारीरिक जीवन कहते हैं, उसका मोह या तम-रूप है। ज्ञान उत्पन्न होने से यह द्वंद्व नाश हो जाता है, और इस शारीरिक संबंध से भी हमें वह आनंद प्राप्त होता है, जिसे ब्रह्मानंद कहते हैं। बस, यही संसार का रहस्य है।"

मालती ने कहा—"आभा, तुम्हारी दलीलों का मैं उत्तर तो नहीं दे सकती, परंतु इसमें कुछ सत्यता अवश्य मालूम होती है। मैंने कभी इतना गहरा विचार नहीं किया, और न इसके चक्कर में पड़ना चाहती हूँ, परंतु इतना ज़रूर है कि तुम्हारी बातें समझ में आती हैं, और उन पर विश्वास करने को जी चाहता है। तुम इतनी गाथा तो गा गईं, लेकिन अभी तक तुमने यह नहीं बतलाया कि तुम्हारे पूर्व-जन्म का पति कौन है, और इस जन्म में तुमने उन्हें कहा देखा? देखा है, या नहीं? और अगर वह यहाँ है, तो तुम्हारा विवाह उनके साथ इस जन्म में होगा या नहीं? दुनिया-भर की फ़िलॉसफ़ी तो बक गईं, लेकिन असली बात तो बतलाई ही नहीं।"

आभा ने मुस्कान-सहित पूछा—"क्या अब भी तुम्हारा जी नहीं भरा? अब क्या सुनना चाहती हो?"

मालती ने एक हल्की चपत लगाते हुए कहा—"फ़िज़ूल की बातें

बक-बककर तो मेरा दिमाग़ चाट गई, लेकिन अपना भेद बताने में आनाकानी करती हो।"

आभा ने उसके मुख को दोनों हाथों से पकड़कर और उसकी आँखों में अपनी आँखे मिलाते हुए पूछा—"तो प्यारी सखी, क्या सचमुच बता दूँ? अच्छा, इस बात की प्रतिज्ञा करो कि तुम मेरा मज़ाक़ नहीं उड़ाओगी, और किसी से नहीं कहोगी।"

मालती ने तुरंत ही प्रतिज्ञा की।

आभा ने गंभीर होकर उसके कान के पास जाकर कहा—"तुमको।"

मालती चौंक पड़ी और आभा हँस पड़ी। मालती ने सक्रोध कहा—"तुम्हें तो हमेशा मज़ाक़ सूझता है। न-मालूम कबसे बिनती कर रही हूँ, नाक रगड़ रही हूँ, लेकिन जनाब के मिजाज़ सातवें आसमान पर चढ़े जाते हैं। ऐसा डरती हैं, मानो कोई तुम्हारे प्रेमी को छीन लेगा, या अपना प्रेमी बना लेगा।"

मालती ने अभिमान से अपना मुख फिरा लिया।

आभा ने उसे मनाते हुए कहा—"अच्छा, ग़ुस्सा मत हो। सब हाल बता दूँगी। असली बात यह है कि अभी प्रेम हुआ ही नहीं, बतलाऊँ क्या। हम हिंदू हैं, और हिंदू-समाज में विवाह के बाद प्रेम होता है, इसलिये अविवाहित हिंदू-कुमारी को विवाह के पहले प्रेम करना निषिद्ध है। जब विवाह होगा, तब प्रेम भी होगा।"

मालती ने कहा—"तो क्या अब तक तुम मज़ाक़ ही करती रहीं? मुझे केवल व्यर्थ की भूलभुलैया में डाल रक्खा था। अच्छा, बताओ, तुम्हारे विवाह की बातचीत कहाँ हो रही है?"

आभा ने कहा—"मुझे क्या मालूम, पापा कहाँ-कहाँ बातचीत कर रहे हैं।"

मालती ने कहा—"अरे, सुनती तो होगी। भला, ऐसी भी कोई बात है कि घर में छिपी रहे। नवयुवक और नवयुवतियाँ दोनों ही छिप-छिपकर अपने विवाह की बातचीत सुनना खूब जानते हैं। तुम्हें सब मालूम है, लेकिन जान-बूझकर नहीं कहतीं।"

आभा ने कहा—"अच्छा, कमरे में चलो; आओ, वहीं बैठें। अब यहाँ कुछ सरदी मालूम होती है। वहीं सब बातें बतलाऊँगी।"

मालती ने अभिमान-पूर्वक कहा—"नहीं, अब मैं कहीं न जाऊँगी। अब ज़्यादा खुशामद मुझे नहीं आती। मेरा कोई ज़ोर तो है नहीं, जो तुमसे कहला लूँ, और न तुम्हें ही कोई मजबूरी है कि तुम कहो ही। अब घर जाऊँगी। रात भी ज़्यादा हो गई।"

आभा ने विनय के साथ सप्रेम कहा—"सत्य ही मालती, वहाँ कमरे में बैठकर सब हाल कहूँगी। चलो, वहाँ थोड़ी ही देर बैठना।"

मालती ने कहा—"अगर सब कहने की प्रतिज्ञा करो, तो मैं चलूँ, नहीं तो नहीं।"

आभा ने प्रतिज्ञा की। मालती आभा के साथ चली गई।

(६)

आभा ने वह रूमाल मालती के सामने रखते हुए, जिसे कई दिन पहले उसने भारतेंदु से पाया था, पूछा—"कहो, इस रूमाल को पहचानती हो ?"

मालती ने उसे उलटते-पलटते कहा—"इसमें मेरा नाम तो ज़रूर लिखा है, लेकिन कह नहीं सकती कि यह मेरा है। ऐसे रूमाल तो सैकड़ों मेरे पास हैं, और बाज़ार में मिलते हैं। याद नहीं पड़ता।"

आभा ने मुस्किराती हुई आँखों से संतुष्ट होते हुए कहा—"अच्छा, किसे दिया था, यह तो याद पड़ता है ?"

मालती ने कहा—"यह भी याद नहीं पड़ता कि मैंने अपना रूमाल किसी को दिया था। हाँ, धोबियों को ज़रूर धोने के लिये देती हूँ। प्रेम-चिह्न करके किसी को देना तो याद नहीं पड़ता।"

आभा ने हँसकर कहा—"अब क्यों छिपाती हो, उन्होंने मुझसे तुम्हारे प्रेम का सब हाल कह दिया है। अब तुम्हारा छिपाना वृथा है।"

मालती ने खीझकर कहा—"उलटा चोर कोतवाल को चोर बनावे और डाँटे। मेरा रूमाल तो तुम्हारे पास निकला, इसके बजाय कि मैं कुछ पूछ-ताछ करूँ, तुम उलटे मुझे आँख दिखाकर पूछती हो कि किसे दिया था। कैसा उलटा ज़माना है !"

आभा खिलखिलाकर हँस पड़ी।

थोड़ी देर हँसने के बाद कहा—"किसी को दिया ज़रूर होगा, लेकिन उसका नाम बतलाते हुए डरती हो।"

मालती ने और खीझकर कहा—"अच्छा, नहीं बतलाती। डर मालूम होता है कि कहीं तुम उसे छीन न लो।"

आभा ने मृदु हँसी से कहा—"शायद तुम्हारा यह डर सत्य ही है।"

मालती चक्कर में पड़ गई। वह कुछ सोचने लगी।

थोड़ी देर बाद कहा—"अच्छा, बतलाओ, तुमने इसे किससे पाया?"

आभा ने उत्तर दिया—"अगर यही कह दूँ, तो फिर मज़ा क्या आएगा?"

मालती ने सक्रोध कहा—"भाड़ में जाय तुम्हारा मज़ा।"

आभा ने कहा—"पेट में चूहे कूदने लगे। बस, इतने में घबरा गईं।"

मालती ने हँसने की चेष्टा करते हुए कहा—"इसमें घबराने की कौन बात। कुछ मैंने चोरी तो की नहीं, जो घबरा जाऊँ।"

आभा ने थोड़ी देर बाद एक काग़ज़ पर भारतेंदु का नाम लिखकर उसे दिखलाते हुए पूछा—"इस नाम के पुरुष को क्या जानती हो?"

मालती ने उत्तर दिया—हाँ, इस नाम के कई एक पुरुषों को जानती हूँ।"

आभा ने पूछा—"अच्छा, बताओ, किस-किसको जानती हो?"

मालती ने कहा—"हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि, प्रथम नाटककार और लेखक हरिश्चंद्र ही एक हैं, जिनका उपनाम भारतेंदु था, और शायद इसी नाम का एक लड़का भी हमारे साथ एम्० ए० में पढ़ता था, जिसकी प्रशंसा हरएक प्रोफ़ेसर, और ख़ासकर तुम्हारे पापा, बहुत करते थे। वह एम्० ए० में प्रथम हुआ था, और सुनने में आया था कि उसने रेकार्ड बीट किया है। और भी

कई व्यक्तियों को जानती होऊँगी, लेकिन इस वक्त याद नहीं आता।"

आभा के कपोल लाल होने लगे।

उसने कहा—"अच्छा, जो व्यक्ति इस नाम का हमारे साथ पढ़ता था, क्या उसे तुम अच्छी तरह जानती हो?"

मालती ने उत्तर दिया—"अच्छी तरह क्या, केवल नाम और शकल से परिचित हूँ। इससे ज़्यादा कुछ नहीं जानती। वह तो अजब बुद्धू लड़का था, न किसी से बोलता था, न हँसता था। रात-दिन उसे किताबों में उलझा ही देखती थी। अवकाश के घंटों में हज़रत लायब्रेरी में सदैव दिखाई पड़ते—एक कोने में बैठे कोई पुस्तक पढ़ने में निमग्न हैं। ऐसा सुनने में आता था कि लायब्रेरी की कोई पुस्तक उससे नहीं बची, चाहे वह किसी विषय की हो। रास्ते में कभी नमस्कार हो गया, तो यही बहुत था। अब भी तो वह शायद डॉक्टरेट के लिये कोशिश कर रहा है।"

आभा ने अपने मन की प्रसन्नता छिपाते हुए कहा—"कभी उसके पिता के बारे में सुना है?"

मालती ने कहा—"मेरे ससुराल से लखनऊ आने के पहले शायद उसके पिता आए थे, और उनके स्वागत में एक प्रीति-भोज क़ैसरबाग़ में हुआ था। मेरा छोटा भाई नंदलाल, जो आजकल युनिवर्सिटी में पढ़ता है, कह रहा था कि तुम्हारे क्लासफ़ेलो भारतेंदु के पिता ने लखनऊ-विश्वविद्यालय को दस लाख रुपया दान किया है, जिसके उपलक्ष में क़ैसरबाग़ में 'ऐटहोम' हुआ था, और उसमें पिताजी भी निमंत्रित थे। क्यों, इन बातों से तुम्हारा क्या मतलब? देखती हूँ, फिर इन्हीं बातों में आधी रात बीत जायगी, और यों ही बहलाकर मुझे बैरंग वापस भेजोगी।"

आभा ने मुस्किराकर रक्ताभ कपोलों से कहा—"कह तो रही हूँ, और कैसे कहूँ।"

मालती की आँखें सहसा चमक उठीं। तड़ित्-वेग से एक विचार उसके मस्तिष्क में प्रवेश कर गया। वह खिल पड़ी। उसने सप्रेम आभा को गले लगाते हुए उसका कपोल चूम लिया, और मुख उठाकर कपोलों पर उँगलियों से मारते हुए कहा—"अरे, तुम तो ग़ज़ब कर रही हो! साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहा। इतना घुमा-फिराकर पहेली-सी बुझा रही थीं। वाह री आभा! तुम्हारी माया भी ज़बरदस्त है। उनका नाम मुँह से नहीं कहा, लिखकर बत-लाया। अभी से यह भाव कि पति का नाम मुँह से उच्चारण न करोगी! शादी नहीं हुई, और पति-भक्ति होने लगी। वाह भाई, वाह! तुमने तो हम सबों के कान काट लिए।"

आभा ने उसका मुख दोनो हाथों से ढकते हुए कहा—"तुम बनाने लगी न। अभी तुमने बाहर कहा था कि मैं मज़ाक़ नहीं उड़ाऊँगी, और फिर इतनी जल्दी भूल गई।"

आभा का मुख लाल था, और हृदय बड़े ज़ोर से धड़क रहा था।

मालती ने मुख छुड़ाते हुए कहा—"अच्छा, मज़ाक़ न उड़ाऊँगी, एक लफ़्ज़ भी न कहूँगी।"

आभा ने उसका मुख छोड़ दिया।

आभा उठकर जाने लगी।

मालती ने उसे पकड़ते हुए कहा—"अभी कहाँ जाओगी। अभी तो सिर्फ़ नाम ही बताया है, वह भी संकेत से। अब सारा क़िस्सा अपने प्रेम का सुनाओ।"

आभा ने बैठते हुए कहा—"इससे ज़्यादा कुछ नहीं। और क्या बतलाऊँ?"

मालती ने परिहास-भरी आँखों से देखते हुए कहा—"यह बतलाओ कि प्रेम कैसे हुआ। कब हुआ? वह क्या तुम्हें चाहते हैं? कितना चाहते हैं? सब बातें बतलाओ।"

आभा ने अपने नेत्र नीचे करते हुए कहा—"जब यह सब कुछ है ही नहीं, तो क्या बतलाऊँ? हमारा कभी प्रेम हुआ ही नहीं। और, अभी प्रेम करने की नौबत कहाँ आई। कह तो दिया, हिंदू-घरों में प्रेम विवाह के बाद होता है।"

मालती ने दुबारा चकित होते हुए कहा—"अच्छा, तो कहो, शादी की बातचीत हुई है। उफ़्! मैं तो समझ रही थी कि तुमने उनसे प्रेम किया।"

आभा के कपोल लाल हो गए। उसने कुछ गर्व के साथ कहा—"हिंदू-कुमारियाँ अविहित प्रेम नहीं करतीं, तब मैं कैसे करूँगी मालती।"

मालती ने संकुचित होकर कहा—"हाँ-हाँ, मैं जानती हूँ। तुम्हारी धार्मिक बुद्धि का मुझे भली भाँति ज्ञान है। अच्छा, यह तो बताओ, विवाह की बातचीत पक्की हो गई है, या सिर्फ़ शुरू ही हुई है?"

आभा ने सिर झुकाकर कहा—"क़रीब-क़रीब तय हो गया है। पापा ने उनके पिता से सब कुछ तय कर लिया है। वह अभी एक ज़रूरी काम से दक्षिण-अमेरिका गए हैं, जहाँ उनकी खानें हैं, वापस आने पर शायद—"

मालती ने आभा को आगे कहने न दिया। उसकी बात उसके मुँह से निकालते हुए कहा—"वापस आने पर विवाह करेंगे। तब तो सब ठीक हो गया है। अब बाक़ी क्या है? सिर्फ़ इतना ही कि मंडप में वेदी के चारो ओर घूमना और आपस में मुआहिदा होना। आभा, तुम इतने गहरे में थीं, तुम्हारी शकल देखकर कौन कहेगा?"

फिर थोड़ी देर बाद कहा—"अच्छा भई, मुझे माफ़ करो। अभी-अभी तुम्हारे भावी पति महाशय को 'बुद्धू' कह दिया है, इसका कुछ ख़याल न करना। मैंने उन्हें फ़िलासफ़रों के नाते कहा था।

उस समय यह न जानती थी कि वह हमारे इतने निकट हैं, और उनका सम्मान और आदर करना पड़ेगा।"

आभा ने फिर उसका मुँह दबाते हुए कहा—"फिर तुम बनाने लगीं। मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ, मालती, मुझे बनाओ नहीं।"

मालती ने उसे पकड़ते हुए कहा—"अरे, तुम्हें क्या हो गया है? तुम तो उनका नाम लेतीं नहीं, और मैं उन्हें गालियाँ दूँ, अपमान करूँ। यह तो इंसानियत के बाहर की बात है। नहीं, मैं हँसी नहीं करती। सचमुच, आभा, मुझे क्षमा करो।"

आभा के कपोल लाल हो रहे थे। उसने कहा—"तुम्हें क्या हो गया है। इसमें क्या कोई शक है कि वह हमारे सहपाठी थे। सहपाठी से हमेशा मज़ाक़ होता है, चाहे रिश्ते में वह कोई हों, और उम्र में कितना ही अंतर हो। मनुष्य जैसा होता है, उसे वही कहा जाता है।"

मालती ने कुछ झेंपते हुए कहा—"नहीं, अगर वह सचमुच बुद्धू होते, तो मैं शब्द वापस न लेती, लेकिन दर असल वह हैं नहीं। हाँ, लड़कियों के प्रति वह सदा उदासीन रहे, इसी से कहा था।"

किसी स्त्री के सामने जब कोई यह कहता है कि उसका पति अन्य स्त्रियों के प्रति उदासीन रहता है, या उनकी ओर ध्यान नहीं देता, तो उस स्त्री का हृदय आनंद से मत्त हो जाता है। प्रेम कितना स्वार्थी है!

मालती की शिकायत से आभा को कष्ट नहीं हुआ, बल्कि वह हर्ष में विभोर हो गई।

मालती ने कहा—"यह संबंध तो अच्छा है, आभा, मैं तुम्हें हृदय से बधाई देती हूँ!"

आभा के कान, आँख और कपोल, सब उग्र रक्त-संचालन से लाल हुए जा रहे थे। उसने मृदुल स्वर में, बहुत ही आहिस्ता से, कहा—"धन्यवाद!"

मालती ने प्रसन्नता का भाव मुख पर लाते हुए कहा—"नहीं, हर तरह से अच्छा है। भई, माफ़ करना, मैं तो उनका नाम लूँगी। भारतेंदुजी देखने में सुश्री, मनोहर, बलिष्ठ युवक हैं, प्रतिभा में अग्रगण्य हैं, विद्वान् भी हैं, और सबसे बड़ी बात तो यह कि वह सच्चरित्र युवक हैं। जिसके पिता ने केवल दस लाख का एकमुश्त दान दिया है, उसके धन का क्या वार-पार! नंदलाल तो यह भी कहता था कि उनके सोने-चाँदी की कई खाने हैं, जिनके वह एकमात्र मालिक हैं।"

आभा ने सिर झुकाकर कहा—"अँगरेज़ी में एक कहावत है—'A goodly apple rotten at heart' (ऊपर से मनोहर या सुदृश्य सेब अंदर से सड़ा होता है।) इसलिये मालती, अभी क्या कहा जा सकता है। मनुष्य और सोना कसने पर मालूम होता है।"

मालती ने अपने मन का भाव दबाते हुए कहा—"नहीं आभा, मैं कह सकती हूँ कि वह एक आदर्श पति होंगे। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'।"

आभा ने कहा—"देखो।"

मालती ने कहा—"नहीं, सत्य ही होगा। आभा, ईश्वर करें, तुम सुखी हो। यह जानकर कि मेरी सखी सुखी है, मुझे अनुपम संतोष और आनंद होगा।"

आभा ने उठते हुए कहा—"अच्छा, अब तो सब बतला दिया कि अभी और कुछ कहना पड़ेगा? आज तुम यहीं खाना खाकर जाना। जाऊँ, महराजिन से यहीं खाना देने को कह आऊँ।"

मालती ने उठते हुए कहा—"नहीं, आभा, किसी दूसरे दिन खाऊँगी। रात बहुत हो गई है, अब जाऊँगी। क्या तुम सिर्फ़ रोटी-दाल खिलाकर शादी तय होने की दावत से छुटकारा पाना चाहती

हो ? ऐसा नहीं होने का। मैं एक अच्छी दावत लूँगी, इतने सस्ते में न छोड़ूँगी।"

आभा ने हँसकर कहा—"मैं इनकार कब करती हूँ। जैसी दावत कहोगी, करूँगी। लेकिन आज तो तुम्हें यहीं खाकर जाना होगा। मैं फ़ोन से लेडी साहबा से कहे देती हूँ कि मालती मेरे यहाँ हैं, और भोजन करके आवेंगी। आप लोग उनका इंतिज़ार न करें।"

मालती ने बहुत प्रकार से आपत्ति की, मगर आभा ने कुछ नहीं सुना। वह सर रामकृष्ण को फ़ोन करने चली गई।

उस दिन दोनो सखियों ने साथ ही भोजन किया।

---

(७)

मालती उस रात को सुखी होकर नहीं लौटी। आभा के विवाह-संवाद से उसे प्रसन्नता नहीं हुई। भारतेंदु-जैसे व्यक्ति के साथ उसका विवाह होते देखकर ईर्ष्या के कीटाणु उसके हृदय में घुसकर अशांति पैदा करने लगे। उसका सौभाग्य देखकर उसे कुछ भी हर्ष नहीं हुआ। वह अपने कमरे में जाकर, कपड़े बदल, अशांति का पहाड़ उठाए, सोने का प्रयत्न करने लगी। लेकिन ज्यों-ज्यों वह नींद बुलाती, त्यों-त्यों वह उससे दूर भागती। वह एक अजीब उधेड़-बुन में फँस गई। वह सोचने लगी—"आभा आज सौभाग्य के उच्च शिखर पर चढ़ रही है। उसकी आँखों में तेज है, हृदय में उत्साह है, मन में उमंग है, और भुजाओं में फड़कन है। वह देखती है, उसके सदृश भाग्यवान् बहुत कम हैं। भारतेंदु-जैसा नवयुवक जिसका पति होनेवाला हो, उसे प्रसन्नता होगी ही, इसमें भी कुछ कहना है।

"मैं भी एक दिन इसी तरह प्रसन्न थी। मेरे मन में भी उमंगें थीं, उत्साह था, सब कुछ था। अभी बहुत दिन नहीं हुए, मुश्किल से छ महीने बीते हैं, मैं भी इसी तरह अपने आनंद में विभोर थी। न-मालूम कितने हवाई क़िले बना रक्खे थे, कौन-कौन अरमान मेरे मन में थे, कैसे-कैसे बाँधनू अपने मन में बाँध रही थी; वह उमंगों की एक दुनिया ही निराली थी, जिसमें मैं विचर रही थी। परंतु आज क्या है, कुछ नहीं। मेरी हसरतें रो रही हैं, जज़बात दिल के दिल में रह गए हैं। उमंगों की एक मुश्त-भर ख़ाक हो गई है।

"मेरे पास सुखी होने के लिये कौन वस्तु की कमी है। कभी

किसी वस्तु की नहीं, लेकिन फिर भी मैं दुखी हूँ। पिता हैं, माता हैं, भाई है, परिवार है, इज़्ज़त है, धन है, सब कुछ मायके में है, और ससुराल में भी इसी तरह सब कुछ है—पति हैं, ननदें हैं, सास हैं, ससुर हैं, मान है, प्रतिष्ठा है और धन है। बाह्य वस्तुएँ तो सभी हैं, मगर फिर भी मुझे शांति नहीं, सुख नहीं, सोहाग नहीं, आशाएँ नहीं। पति पढ़े-लिखे हैं, विद्वान् हैं, बड़े ही शांत हैं, स्वभाव में देवता के तुल्य हैं, विद्वत्ता में स्वामिकार्त्तिक के समान हैं, रूप में अश्विनीकुमारों की भाँति हैं, मगर पुरुषत्व में स्त्री के समान! कितना भयानक रहस्य है।

"मैं अपना दुख किससे कहूँ। कहते शर्म आती है। जब कोई सखी पति के प्रेम की बातें पूछती है, तो लज्जा से मुँह छिपाना पड़ता है, दो-एक झूठ बातें कहकर टालना पड़ता है। अगर कोई बहुत पीछे पड़ती है, तो एक झूठा प्रेम-संसार खड़ा करना पड़ता है। आह! हृदय से भी छल करना पड़ता है। यह छलमय जीवन किस तरह बीतेगा, भगवान् जाने। इस झूठ को हृदय में दाबकर रखना पड़ेगा—जीवन के अंत तक रखना पड़ेगा। यह कैसी विडंबना है! उफ़्! यह प्रवंचना का भार कब तक सहना होगा। अभी से जीवन को यह भार असह्य हो रहा है, आगे कैसे निर्वाह होगा।

"उन्हें तो अपनी कमी मालूम थी—अपनी असलियत उनसे छिपी न थी, और न मेरे ससुरजी से छिपी थी, फिर उन्होंने मेरा जीवन क्यों नष्ट किया। क्या उन्हें यह विचार न हुआ कि व्यर्थ विवाह करके एक बेचारी स्त्री का जीवन क्यों बरबाद करें। कहते हैं, संसार को यह शर्म का हाल न मालूम हो, इसलिये विवाह किया है। अपनी इज़्ज़त-आबरू की वेदी पर मेरा बलिदान किया है! अगर यही था, तो कुढ़ा-कुढ़ाकर मारने से तो एकदम ही मार डालना अच्छा था, ज़रा-सी तड़प के बाद शांति तो मिलती। यहाँ

तो हर वक्त घोर अशांति है—भयानक पीड़ा है। हर घड़ी कुढ़न है। यह सब कुछ है, मगर चिल्ला नहीं सकती, आह तक नहीं कर सकती, किसी से कह नहीं सकती। भगवान् का कैसा अद्भुत न्याय है!

"दुनिया मुझे सधवा जानती है। दूसरों की बात जाने दो, अपने माता-पिता भी यह भेद नहीं जानते। वे तो मुझे पूर्ण सुखी समझते हैं, लेकिन उन्हें क्या मालूम कि मैं विधवा से भी गई-बीती हूँ। विधवा का जीवन इससे कहीं अच्छा है। उसे यह तो विश्वास हो जाता है कि मेरे पति नहीं है, लेकिन मैं तो सधवा होते विधवा हूँ। उस पति का परिचय देना पड़ता है, जो वास्तव में मेरा पति नहीं, बल्कि एक स्त्री-मित्र है। विधवा को छल, प्रवंचना, झूठ, दग़ाबाज़ी का भार तो वहन नहीं करना पड़ता। मुझे कपट की दुनिया में रहना है, जहाँ हर समय मिथ्या का ठाठ लगाकर रखना पड़ेगा। विधवा स्वतंत्र तो है, उसके ऊपर कोई किसी तरह का उत्तरदायित्व तो नहीं। परंतु मैं प्रतिज्ञा में बँधी हूँ, और उनकी मान-प्रतिष्ठा का भार मेरे ऊपर है। विधवा का तो पुनर्विवाह हो सकता है, परंतु मेरा विवाह किसी तरह नहीं हो सकता, क्योंकि मैं हिंदू हूँ, और हिंदू-समाज में पैदा हुई हूँ।

"हिंदू-समाज को लोग संसार का सिरमौर समाज कहते हैं, परंतु मेरी समझ में यह दुनिया का सबसे घृणित समाज है। इसमें जितना अत्याचार होता है, उतना कहीं, किसी समाज की ओट में नहीं होता। अछूत और स्त्रियाँ इस समाज में ग़ुलाम से भी बदतर हैं। अछूतों की दशा तो फिर भी किसी क़दर अच्छी है, परंतु सवर्ण उच्च हिंदू-समाज में स्त्रियाँ महज़ पैर की जूती, नहीं, उससे भी हीन हैं। उनके जज़बात का, उनकी उमंगों का, उनके अस्तित्व का कोई ख़याल ही नहीं किया गया। वे पुरुषों के व्यवहार के निमित्त

ही रची गई मालूम होती हैं। वे पुरुषों की ग़ुलाम तो हैं ही, और उनकी इज़्ज़त-आबरू बचाने के लिये बलिदान की पशु भी। इस समाज के किसी भाग में देख लो, स्त्रियों के कोई अधिकार नहीं रक्खे गए। और, जिस स्त्री के संतान नहीं, उसका तो जीवन एक ख़रीदे हुए पशु से भी गया-बीता है। पशुओं को भरपेट न सही, आधा पेट खाने को तो मिलता है, लेकिन स्त्री को वह भी नहीं। पति के पास लाखों रुपयों की जायदाद है—अगर वह कहीं मर गया, तो उसकी ग़ैरमनक़ूला जायदाद तो पति के भाई-बंधु, जो सात पुश्तों में होंगे, ले जायँगे, और वह अभागिन स्त्री दाने-दाने को मोहताज होकर मरेगी। यह है हिंदू-समाज का क़ानून! पति नपुंसक है, पुरुषत्व से हीन है, उसे कोई अधिकार विवाह करने का नहीं। परंतु वह विवाह कर सकता है, हिंदू-समाज उसे आज्ञा देता है। यही नहीं, मान-प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखने के लिये उसे विवाह करने को बाध्य करता है। परंतु स्त्री की क्या स्थिति है। उस अभागिनी को तलाक़ देने का कोई अधिकार नहीं। कुढ़-कुढ़कर मरने में ही उसका कल्याण है। अपनी फ़रियाद सुनाकर कोई निष्कृति का मार्ग नहीं निकाल सकती। यह है हिंदू-समाज में स्त्रियों का स्थान!

"मैं क्या करूँ, यह आज मैं छ महीने से सोच रही हूँ, लेकिन कोई मार्ग दिखाई नहीं देता। अगर किसी से कुछ कहती हूँ, तो उनका, उनके पिता की इज़्ज़त-आबरू पर पानी फिरता है, और मेरे माता-पिता का सिर नीचा होता है। मुझे भी लज्जित होना पड़ता है। यह कैसी विडंबना है। अगर किसी से न कहूँ, तो यह भार उठाए हुए चलना मुश्किल मालूम पड़ता है।

"इस अभागे हिंदू-समाज को क्या शाप दूँ। मेरी-जैसी अगणित अभागिनी बहनों के न-मालूम कितने शाप इस हिंदू-समाज पर हैं,

लेकिन इसका तो बाल बाँका नहीं होता। यह उसी तरह जीवित है, और उसी तरह मनमाना अत्याचार स्त्रियों पर करता है। एक मेरे अकेले के शाप से कुछ न होगा। इसका कुछ नहीं बिगड़ता। स्त्री-जाति की निष्कृति उसी दिन होगी, जिस दिन इसका नाश होगा।

"मैं इस समाज का नाश करूँगी, इसकी जड़ खोदकर मानूँगी। मैं वह आग लगाऊँगी, जिसमें हिंदू-समाज का पुराना पोथा, जिसके बल पर वह हमारा सत्यानास करता है, जलकर राख हो जाय। उसका क़ानून, जिसके द्वारा उसने हमें भिखारिनी बना रक्खा है, नष्ट कर दूँगी। उसका सामाजिक व्यवहार, जिसकी रस्सियों से वह हमारे लिये फाँसी का फंदा रचता है, मिट्टी में मिला दूँगी। यह युग स्त्रियों का है, इसमें पुरुषों की प्रधानता न रहेगी। स्त्रियों के अधिकार अब वापस देने पड़ेंगे। अगर हिंदू-समाज हमारे अधिकार हमें नहीं देता, तो हम इसे कुचलते हुए तनिक भी नहीं हिचकिचाएँगी। हमारी जाति में वह बल है कि हिंदू-समाज की लाड़ली पुरुष-जाति को नाकों चने चबवा दे। केवल हमें अपने बल का ज्ञान नहीं—अपने अधिकारों की मालूमात नहीं। मैं इन्हें बताने के लिये घर-घर फिरूँगी, और झोपड़ी-झोपड़ी में जाकर पुरुषों के ख़िलाफ़ बग़ावत का मंत्र फूकूँगी। यदि हिंदू-समाज की स्त्रियाँ हमारे साथ एकत्र होकर अपने अधिकारों की आवाज़ ऊँची करेंगी, तो कितने दिनों तक हिंदू-समाज जीवित रहेगा, और हमारे अधिकारों की उपेक्षा करेगा।

"हम लोग यह अत्याचार क्यों सहें। हमें क्या ईश्वर ने इस संसार में नहीं पैदा किया है, क्या इस संसार की वायु, अग्नि, प्रकाश पर हमारा वह स्वत्व नहीं, जो पुरुषों को प्राप्त है। हमीं तो पुरुषों की उत्पत्ति करनेवाली हैं। यह देखो भाग्य का वैचित्र्य, पुरुषों को हम पैदा करती हैं, और वही पुरुष बड़ा होकर हम पर

अत्याचार करता है ! भगवान् की दृष्टि में कैसा अद्भुत न्याय है ! पुरुष-जाति की नमकहलाली भी सराहनीय है। पुरुष जिस डाल पर बैठा है, वही डाल काट रहा है। क्या उसे नहीं मालूम होता कि इस प्रकार कब तक उसकी रक्षा होगी। पुरुष तो समाज का बल पाकर मदांध हो रहा है—उसे कैसे दिखाई पड़ेगा।

"देखो, पुरुष-जाति में कितनी एकता है। जहाँ एक पुरुष के अधिकार पर कुछ व्याघात होता है, फ़ौरन् उसके शास्त्र और उनके दिग्गज आचार्य अपनी चोटी और डंडा सँभालते हुए दौड़ पड़ते हैं। हमें खरी-खोटी तो सुनाते ही हैं, धर्म का नाम लेकर सरकार तक से भिड़ जाते हैं। हमारे गर्भ से तत्काल का उत्पन्न हुआ पुरुष-बालक उनकी हाँ में हाँ मिलाने लगता है। हालाँकि वह अपनी मा का दूध पीता है, लेकिन उस दूध की जगह तलवार चलाते रुकता नहीं। उसका तनिक भी हाथ नहीं काँपता। वह उस वक़्त भूल जाता है कि मेरा जीवन इसी दूध पर है। वह दूध को अपना अधिकार कहकर लेता है, दया-भाव से नहीं। उस हालत में भी वह हमारे ऊपर शासन करता है। किंतु यह उसे नहीं मालूम कि वह दिन भी शीघ्र आ रहा है, जब उसकी माता उसे दूध न पिलाएगी, और दूध की दो बूँदें डालने के पहले उसकी गरदन मरोड़ देगी। जब स्त्रियाँ ऐसा करने के लिये कटिबद्ध होंगी, और करेंगी, तब उनका कल्याण होगा, उनके स्वत्व उन्हें वापस मिलेंगे। समाज में उनके लिये भी स्थान होगा। वे भी धन और भूमि की अधिकारिणी होंगी। विवाह-विच्छेद, विधवा-विवाह आदि सभी आवश्यक अधिकार मिलेंगे। संसार के इतिहास में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जहाँ अधिकार माँगने से मिल गए हों। वे तो तभी मिलते हैं, जब उनके लिये अपना और अपने शत्रुओं का ख़ून बहाया जाता है।

"मैं यह पूछती हूँ कि उन्हें क्या अधिकार था कि विवाह करें, जब वह उसके लिये बिलकुल अयोग्य थे। उन्हें मेरा जीवन इस प्रकार नष्ट करने का क्या अधिकार था। बड़े भारी ताल्लुक़ेदार हैं, राज्य के एकमात्र उत्तराधिकारी हैं। अगर वह विवाह नहीं करेंगे, तो उनका नाम रक्खा जायगा, और उनके पिता की इज़्ज़त ख़ाक में मिल जायगी। ख़ाक में क्यों मिल जायगी, क्या कोई नपुंसक नहीं होता। भला, अभी उनकी कौन नामवरी हो गई। अगर मैं आज एक सभा में खड़ी होकर उनका और उनके पिता का भंडाफोड़ करूँ, तो वह क्या उत्तर देंगे, और उनकी कैसी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। क्या संसार उन्हें देखकर उन पर थूकेगा नहीं। मेरी आत्मा जल रही है; मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता। चाहे जो कुछ हो, अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दूँगी, लेकिन इस अत्याचार का बदला ज़रूर लूँगी।

"देखो, किस तरह मुझसे प्रतिज्ञा कराई। क्या सफ़ाई से कि ज़रा भी शक न हो। विवाह के बाद जब मैं कुल—गुरु का पूजन करने गई, तब उनके पिताजी ने बड़े ही मधुर शब्दों में कहा, यह तुम्हारा घर है, और इस राज्य की स्वामिनी तुम होगी। तुम्हारे ऊपर बहुत-से उत्तरदायित्व हैं। यहाँ रहने पर तुम्हें ऐसी बातें मालूम होंगी, जिन्हें तुम संसार में प्रकाशित नहीं कर सकोगी, क्योंकि इससे तुम्हारी, तुम्हारे स्वामी को और तुम्हारे कुल की, सबकी प्रतिष्ठा में बल आ सकता है। हमारे वंश में यह नियम परंपरा से चला आता है कि इस घर में प्रवेश करने के दिन कुल-देवता और ईश्वर के सम्मुख, उन्हें साक्षी देकर, प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि हम इस घर का भेद कहीं भी किसी के सामने, और कैसा भी समय पड़ने पर, लालच से, फुसलाने से, या अपनी तबीयत से, नहीं कहेंगी, और न लिखकर, न इशारों से बतलाएँगी। इसलिये तुम प्रतिज्ञा करो। मैं क्या जानती थी कि उस घर में यह भेद छिपा हुआ है, जो मेरी जान

का ग्राहक हो जायगा। मैंने विचार किया कि प्रतिष्ठित, प्राचीन राजवंश है, कोई गुप्त भेद होगा। मैं उस वक्त हवाई क़िलों में घूम रही थी, कल्पनाओं के सुखमय संसार में स्वच्छंद भ्रमण कर रही थी, मेरे सामने मेरा बनाया हुआ सोने का संसार था—मैंने सहज स्वभाव से प्रतिज्ञा कर ली। मुझे अभी तक याद पड़ता है कि मेरी हलफ़ समाप्त होते ही उस वृद्ध के मुख पर क्षण-भर के लिये एक व्यंग्य की हँसी दिखाई दी थी। मेरी सौगंद समाप्त होते ही उसी वृद्ध ने फिर कहा—'देखो, तुमने अपनी इच्छा से प्रतिज्ञा की है, इसे निबाहना भी पड़ेगा। जीवन देकर निबाहना पड़ेगा। अगर कभी इससे विचलित होगी, तो हमारे कुल-देवता और ईश्वर का कोप तो तुम्हें भस्म करेगा ही, मगर उसके पहले हम लोग ही तुम्हारे जान के ग्राहक बन जायँगे, और तुम्हें बिना किसी सोच-विचार के इस संसार से उठा देंगे। कोई न जानेगा, और न किसी को ज़रा भी मालूम होगा। इसलिये अगर अपना कल्याण चाहती हो, तो यहाँ का कोई भेद किसी से भी, यहाँ तक कि अपने माता-पिता और मित्रों से भी प्रकाशित न करना।' यह धमकी देकर वह चले गए। मैं भय से सिहर उठी। मेरे सोने के हवाई क़िले एक फूत्कार में नष्ट हो गए। उसी रात को पतिदेव से वह भयानक भेद मालूम हुआ। अपना कपाल पीटकर रह गई।

"मेरे जीवन का सुहाग तो नष्ट हो गया, लेकिन अब करना क्या उचित है? यही प्रश्न मेरे सामने सदैव रहता है, किंतु उत्तर ढूँढ़े नहीं मिलता। मेरी दूसरी सखियाँ अपने-अपने सुहाग में विभोर हैं, उनके मन उमंगों की चौकड़ी भर रहे हैं। आभा को ही लो, वह कितनी सुखी है। उसका आनंद उसके मन के बाहर निकला पड़ता है, उसके मन की आशाएँ एक सुनहला जाल गूँथ

रही हैं, वह पुनर्जन्म के प्रेम में पड़ी हुई है, पुरानी स्मृतियों की गुत्थी सुलझा रही है, वेदांत और अध्यात्मवाद का पाठ पढ़ तथा पढ़ा रही है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास करती है, और वह विश्वास दिन-पर-दिन दृढ़ होता जाता है, क्योंकि उसका जीवन सुखी है। मेरे लिये न तो ईश्वर है, न कोई पूर्व-जन्म, और न वेदांत तथा अध्यात्मवाद। मैं इनमें से किसी पर विश्वास नहीं करती, और न विश्वास करने को मन ही चाहता है। ये बातें केवल कपोल-कल्पना हैं, निष्कर्मों के मन-बहलाव की बातें हैं, और बैठे-ठाले का धंधा है। ये सब असत्य हैं, जिनका न सिर है, और न पैर। मैं इनके फेर में पड़कर अपने जीवन को असफल न करूँगी। मैं इस संसार में कोई गुरुतर कार्य-संपादन के लिये अवतीर्ण हुई हूँ। मैं अपनी परिस्थितियों से लड़ूँगी, और देखूँगी कि कितनी सफलता मिलती है।

"कैसी भयानक रात्रि है। संसार निद्रा में मग्न है। मेरी-जैसी युवतियाँ कैसे आनंद में मग्न, अपने प्रियतमों के वक्ष पर सिर रक्खे सो रही होंगी। जिनके पति नहीं हैं, वे निराशा को हृदय लगाए निश्चिंत सो रही होंगी। मेरी-जैसी अवस्था में तड़पती कितनी होंगी। यह तड़पन कभी कम नहीं होती। न मेरे लिये दिन है, न रात्रि। सब जगह एक भाव है, एक रूप है। इस वेदना से कभी क्षण-भर छुट्टी नहीं मिलती। रात-भर लेटी हुई आकाश के तारे गिना करूँ, तो कोई यह भी कहनेवाला नहीं कि चलो, सोओ चलकर। यह निमंत्रण देनेवाला कोई नहीं। हाय रे, मेरा भाग्य!

"उनका इसमें क्या क़सूर। नहीं, उन्हीं का सारा दोष है। क्या उनमें यह साहस न था कि वह विवाह करने से इनकार कर देते। उन्हें क्या नहीं मालूम था कि इस विवाह का यह अंत होगा।

अपनी लाज बचाने के लिये दूसरे का सत्यानास करना कितनी बड़ी स्वार्थपरता है। वह कहते हैं, उन्होंने पिता के दबाव में आकर यह विवाह किया है। इसमें कितनी सत्यता है। झूठ, बिलकुल झूठ। सिर्फ़ मुझे बहलाने का बहाना है, अपनी सफ़ाई की दलील है। मेरे नाश के वही अकेले उत्तरदायी हैं, और उन्हें ही सारा पाप-वहन करना पड़ेगा। मैं इसका भीषण बदला लूँगी। अनूपगढ़-राज्य-वंश की सारी शान धूल में मिला दूँगी। मैं मौत से नहीं डरती, मौत तो इससे हज़ार दर्जे अच्छी है। इस ज़माने में किसी को मार डालना कुछ हँसी-खेल नहीं। इसके अलावा मेरे पिता भी तो संपन्न व्यक्ति हैं, उनके हाथ में शक्ति है, और हुक्कामों से घनिष्ठता है। मेरे पीछे बल है, मेरे ऊपर हाथ डालने में दो बार सोचना पड़ेगा। मैं उस प्रतिज्ञा की कुछ क़द्र नहीं करती। धोखे में की गई प्रतिज्ञा का कोई असर नहीं रहता। मैं उसके बंधन में अब तक फँसी थी, यह भूल की, अब सब भेद खोल दूँगी। उनकी काली करतूतों के कारनामे मैं जिस समय खुली कचहरी में रक्खूँगी, तब उन्हें मालूम होगा।"

मालती सोचते-सोचते उत्तेजित हो गई। वह पलँग से उठकर कमरे में घूमने लगी। एक खिड़की का परदा हटा दिया, और उसे खोलकर बाहर देखने लगी। बाहर निविड़ अंधकार छाया हुआ था। प्रकृति नीरव और निष्पंद शयन कर रही थी। खिड़की के सामने पूर्व दिशा थी। सुदूर पूर्व में आर्द्रा अपने रजत-केशों को फैलाए गगन के मध्य भाग में आकर नृत्य करने के लिये आतुर हो रही थी—उसके आगे-आगे मृगशिर कुछ वक्र होकर भागे चले आ रहे थे। मालती के नेत्र आर्द्रा का सौंदर्य देखने के लिये ठहर गए। उसके मन को कुछ शांति मिली। वह ध्यान से उसे देखने लगी। ऑक्टोबर-मास की सुशीतल वायु मंद-मंद हिलोरों से

संसार को थपकियाँ देकर सुला रही थी। मालती की भी आँखें झिपने लगीं। उसने खिड़की बंद कर दी, और फिर लेटकर सोने का यत्न करने लगी। अवसाद से क्लांत होकर वह सो गई।

मालती के पिता सर रामकृष्ण लखनऊ के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वह गवर्नर की कौंसिल में होम-मेंबर थे। उनका चारो ओर मान था, और सरकारी अफ़सरों में भी वह अपनी ईमानदारी, वफ़ादारी और राजभक्ति के लिये प्रसिद्ध थे। सरकार का उन पर पूर्ण विश्वास था, और यह सुना जाता था कि वह शीघ्र ही प्रांत के गवर्नर बना दिए जायँगे। वह छ फ़ीट लंबे और अंगों से हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति थे। हालाँकि उनकी आयु ढल रही थी, और थोड़े ही दिन पहले ५२वीं वर्ष-गाँठ बड़ी धूमधाम से मनाई गई थी, परंतु वह पूर्ण रूप से स्वस्थ थे। उन्हें देखने से यही मालूम होता था कि अभी मुश्किल से चालीस वर्ष गुज़रे होंगे। उन्हें व्यायाम से प्रेम था, और अभी तक नियमित रूप से अनेक प्रकार के व्यायाम करते थे। व्यायाम के अतिरिक्त उन्हें सब प्रकार के खेलों का भी शौक़ था। उन्होंने अपनी आमदनी का न-मालूम कितना रुपया टूर्नामेंट वग़ैरा कराने में ख़र्च किया था। उन्हें घोड़े की सवारी का भी शौक़ था, और घुड़दौड़ में घोड़े दौड़ाने का भी। वह टेनिस और 'गाल्फ़' के अच्छे खिलाड़ी थे; हँसमुख और सदैव प्रसन्न रहनेवाले मनुष्य थे। उनके स्वभाव से छोटे-बड़े सब प्रसन्न रहते थे, और जो भी उनके संपर्क में आता, उसकी भक्ति के वह पात्र हो जाते थे। वह दान देने में भी मुक्त-हस्त थे। कितनी ही संस्थाएँ केवल उन्हीं के दान के सहारे चलती थीं। वह अवध के ताल्लुक़ेदार थे। उनके पितामह वंश-परंपरा से लखनऊ के नवाबों के यहाँ प्रतिष्ठित पदों पर काम करते चले आते थे, और उन्होंने बड़ी जागीर के साथ-साथ

असंख्य धन भी पैदा किया था, जिसका एक बहुत बड़ा अंश अब भी उनके पास सुरक्षित था। उनके पूर्वज लखनऊ में रहते थे। नवाबी ख़त्म होने के बाद जब अवध-प्रांत अँगरेज़ों के ज़ेर-हुकूमत आया, तो भी इनके वंश का सौभाग्य-सूर्य अस्त नहीं हुआ, बल्कि उसमें दोपहर की-सी प्रखरता आ गई थी। इनके पिता राजा प्राण-कृष्ण की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी, और अँगरेज़ सरकार ने उन्हें राजा का ख़िताब दिया था। राजा प्राणकृष्ण समय के साथ बदलनेवाले व्यक्ति थे। उन्होंने रामकृष्ण को पढ़ने के लिये इँगलैंड भेज दिया। इँगलैंड से वापस आने पर रामकृष्ण ने सरकारी नौकरी में प्रवेश किया, और धीरे-धीरे उन्नति करते-करते इस समय होम-मेंबर के पद पर आसीन थे। सफलता उन पर अपनी कृपा अविराम रूप से बरसा रही थी।

सर रामकृष्ण एक बृहत्परिवार के स्वामी थे। उनके दो पुत्र जीवन-कृष्ण और नंदलाल थे। जीवनकृष्ण इन दिनों इँगलैंड गए हुए थे, और नंदलाल स्थानीय युनिवर्सिटी में पढ़ते थे। मालती जीवनकृष्ण से छोटी थी। नंदलाल से भी छोटी दो कन्याएँ थीं, जिनका विवाह अभी तक नहीं हुआ था, और ईसाबेल कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करती थीं। एक का नाम कांति और सबसे कनिष्ठ का नाम कामिनी था। मालती की मा, लेडी चंद्रप्रभा, एक ताल्लुक़े-दार की लड़की थीं, लेकिन पुराने ख़याल की। सर रामकृष्ण ने उन्हें माँज-माँजकर उस पुरानी क़लई को दूर करने का बहुतेरा प्रयत्न किया, परंतु वह मुरादाबादी क़लई की तरह किसी तरह न छूटी। इतने परिश्रम का यह फल ज़रूर हुआ कि उनकी कट्टरता किसी क़दर कम हो गई, परंतु विचारों से पुरानापन दूर नहीं हुआ था। वह एक आदर्श हिंदू-रमणी थीं, और हिंदू-देवी-देवताओं पर उनकी अटल भक्ति थी, तथा अचल विश्वास था।

मालती के पिता ने उन्हें शिक्षित करने का बहुत प्रयत्न किया, मगर उन्होंने पश्चिमीय शिक्षा के प्रति कभी अनुराग प्रदर्शन नहीं किया। वह पुरुषों के बीच में जाना और उनमें निस्संकोच उठना-बैठना पसंद नहीं करती थीं। किसी निमंत्रण, ऐट्-होम, प्रीति-भोज या गार्डेन-पार्टी तथा सरकारी भोज में सर रामकृष्ण को अकेले जाना पड़ता था, यद्यपि निमंत्रण-पत्र में नाम उनका पहले हुआ करता था। इसके लिये सर रामकृष्ण को कई बार लज्जित होना पड़ा, परंतु लेडी चंद्रप्रभा किसी तरह उनके अनुशासन, उनकी अनुनय-विनय के अधीन नहीं हुईं। उनका विश्वास था कि स्त्रियों की दुनिया एक अलग दुनिया है, जिसमें पुरुषों का काम नहीं, और पुरुषों के समाज में स्त्रियों की कोई ज़रूरत नहीं। घर के मामलात में वह सर रामकृष्ण का हस्तक्षेप किसी प्रकार सहन न करती थीं, और न उनके बाहरी काम में कोई दख़ल देती थीं। सर रामकृष्ण भी गृहस्थी के जंजालों से दूर रहना पसंद करते थे। लेडी चंद्रप्रभा घर का शासन अकेले सँभालकर दक्षता से चला रही थीं।

लेडी चंद्रप्रभा को अपने जीवन का आदि-काल अपनी सास के नियंत्रण में व्यतीत करना पड़ा था, जो अपने समय की एक होशियार और तजुर्बेकार गृहिणी थीं। उन्होंने उन्हें इस प्रकार शिक्षित किया था, जिससे वह स्वतंत्रता से घर का इंतिज़ाम कर लें। उस ज़माने में इनकी सास के आगे किसी को बोलने या प्रतिरोध करने की क्षमता न थी। सर रामकृष्ण ने उस ज़माने में भी अनेक प्रकार से उनको अँगरेज़ी पढ़ाने की कोशिश की, परंतु उनकी मा के आगे उनकी एक न चली। इँगलैंड से लौटने के बाद भी वह अपनी मा के शासन के बाहर न हो सके। उनका ऐसा रोब ग़ालिब था कि उनकी एक तिरछी चितवन से सर रामकृष्ण सिहरकर चुप

हो जाते। उन्हें साहस न हुआ कि उसके विरोध में अपनी आवाज़ ऊँची उठाएँ। वह चुपचाप सहन करने लगे। लेडी चंद्रप्रभा उनके पीछे क़दम-बक़दम चल रही थीं। सास-ससुर की शक्ति पीछे होने से वह उनसे भयभीत न होती थीं, और कभी-कभी किसी विरोध करनेवाली बात में उनका स्पष्ट रूप से विरोध भी करती थीं। सर रामकृष्ण धीरे-धीरे उनके स्वभाव के इतने आदी हो गए थे कि वह लेडी चंद्रप्रभा के किसी काम में प्रतिरोध न करते थे। उन्होंने उन्हें बिलकुल उन्हीं की इच्छा पर छोड़ दिया था। इतना विरोध होते हुए भी दोनो में अद्भुत प्रेम था। दोनो एक दूसरे से असंतुष्ट होते हुए संतुष्ट और विरोधी होते हुए प्रेमी थे। उनके जीवन में कलह भी था, मगर वह कलह नहीं, जिससे मनोमालिन्य बढ़े। दोनो बहुत जल्द अपनी हार स्वीकार कर लेते और एक दूसरे के साथ मिलने के लिये आतुर रहते थे।

लेडी चंद्रप्रभा की भी ढलती अवस्था थी, किंतु शरीर से वह अब भी हृष्ट-पुष्ट थीं। उन्होंने मालती आदि को शिक्षित करने में कोई दोष नहीं समझा, क्योंकि वह बदलते हुए ज़माने को देख और समझ रही थीं। उनके आचरणों पर उनकी सतर्क दृष्टि सदैव रहती थी। वह अपनी संतान को बेहद प्यार करती थीं, मगर उन पर शासन भी रखती थीं। उनके लड़के सर रामकृष्ण से तो न डरते थे, लेकिन उनसे अवश्य भय करते थे। अगर किसी को थोड़ी-बहुत आज़ादी प्राप्त थी, तो केवल मालती को। मालती के प्रति उन्हें अगाध विश्वास और किसी क़दर दूसरों की अपेक्षा कुछ अधिक प्रेम था। मालती उनकी सास को भी बहुत प्यारी थी, और जब वह मृत्यु-शय्या पर थीं, तब मालती के लिये उन्होंने ख़ास तौर पर सिफ़ारिश की थी। लेडी चंद्रप्रभा अपनी सास को किसी देवी से कम न समझती थीं, और उन पर वैसी ही भक्ति करती थीं। उन्होंने

मालती को उस दिन से कुछ भी भला-बुरा नहीं कहा, उसका पालन-पोषण इस भाँति किया, जैसे कोई सहृदय स्त्री एक मातृ-हीन बालिका का करती है।

सर रामकृष्ण स्त्रियों की स्वाधीनता के समर्थक थे, और लेडी चंद्रप्रभा उसकी विरोधिनी। वह अपनी बालिकाओं को अपने साथ ले जाना और समाज में निस्संकोच प्रवेश कराना चाहते थे, परंतु लेडी चंद्रप्रभा को यह पसंद न था। इस विषय को लेकर पति-पत्नी में कभी-कभी झगड़ा हो जाता, अंत में उन्हें ही अपनी टेक छोड़नी पड़ती। केवल मालती को अवश्य परिमित स्वतंत्रता प्राप्त थी। सर रामकृष्ण भी मालती पर विशेष स्नेह रखते थे। मालती के संबंध में जब कोई आपत्ति उनकी ओर से नहीं देखी, तो उन्होंने कुछ-कुछ पश्चिमीय रंग उस पर चढ़ाना शुरू किया।

मालती एक प्रतिभा-संपन्न बालिका थी। नवयौवन के साथ-साथ उसकी सर्वोन्मुखी प्रतिभा नवयुवकों की मंडली में कुछ खलबली डाल देती थी। युवकों को आकर्षित कर उनसे खेल खेलने में उसे घृणा थी, और उन्हें कभी उत्साहित न करती थी। वह उनसे हमेशा दूर रहती, और खुलती सिर्फ़ समवयस्क सहेलियों में। उसका जीवन शृंगारमय था, लेकिन उसमें एक संकोच था। आभा के साथ उसकी पटती थी। दोनो में एक दिन सहसा प्रेम हो गया था। आभा अपनी कक्षा में बैठी कुछ सोच रही थी। ईसाबेल-थाबर्न-कॉलेज उसी दिन खुला था। पहली अगस्त थी, और सन् १९२४ का वर्ष था। आभा भी उसी दिन कॉलेज में भरती हुई थी। उसकी किसी से जान-पहचान न थी। उसके लिये वह एक नई दुनिया थी। घर से निकलकर वह एक नवीन संसार में आई थी, जहाँ जीवन का स्रोत नई उमंगों की क्यारियों को सींचता हुआ, गुदगुदी, आकर्षण, प्रेम के पौदे लगाता हुआ मंद-मंद बहा जाता था। चतुर्दिक

एक चहल-पहल थी, उमंगों की शैतानी थी, हँसी, दिल खोल हँसी की बौछारें थीं, खिलखिलाहट की झंकार थी, नवयौवन के गीत थे, आशाओं की किलकारियाँ थीं, शृंगार का विकास था। आभा चकित-सी, विस्मित आँखों से, मुग्ध होकर वह दृश्य देख रही थी। वह सबसे पीछे की अंतिम सीट पर बैठी थी। उसके बग़ल में केवल एक जगह ख़ाली थी। मालती भी उस दिन कॉलेज आई थी। इसके पहले उसे स्कूल-जीवन का कुछ अनुभव था। वह क्लास में कोई परिचित ढूँढ़ने के लिये घूम रही थी। उसने आभा को देखा। किसी अदृश्य शक्ति ने उसे उसकी ओर ढकेल दिया। वह आभा के पास आकर खड़ी हो गई, और सहसा पूछ बैठी—"क्या आपका नाम आभा है?"

आभा चौंकी, और कौतूहल-भरी आँखों से उसकी ओर देखने लगी। उसने सिर हिलाकर सूचित किया कि हाँ, मेरा नाम आभा है।

मालती उसके पास बैठ गई।

बस, यह उनकी मित्रता का सूत्रपात था। यह मित्रता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। काव्य, साहित्य, संगीत से दोनो को प्रेम था। संसार के कवियों और लेखकों की पुस्तकें पढ़ना, उन पर बहस करना उनका दैनिक कार्य था। समाज, देश, राजनीति आदि विषय भी रोज़ाना कार्य-क्रम से ख़ाली नहीं जाते थे। सात्त्विक प्रेम-छत्र के नीचे भगवान् के दो कण आपस में मिलकर एक दूसरे को पहचानने का प्रयत्न कर रहे थे। विवाद करने में दोनो चतुर थीं, और बात-बात में लड़ पड़ती थीं, लेकिन कभी कोई बुरा न मानती। एक को दूसरे की इतनी आवश्यकता थी कि वे दोनो अलग न रह सकती थीं। यदि कारण-वश अलग रहना भी पड़ता, तो दोनो मिलने के लिये सदैव आतुर रहतीं। मित्रता फल-फूल रही थी।

मालती के विवाह का प्रश्न ऐसा था, जिस पर सर रामकृष्ण और लेडी चंद्रप्रभा में गहरा मतभेद था। पति की इच्छा थी कि मालती का विवाह किसी उच्च शिक्षा-प्राप्त नवयुवक से करें, चाहे वह धन-हीन ही क्यों न हो। मालती के लिये वह काफ़ी गुज़ारा निकाल देंगे। इसके विपरीत पत्नी की यह इच्छा थी कि विद्या के साथ धन, और ख़ासकर ग़ैरमनक़ूला जायदाद, जो किसी बड़ी जागीर से कम न हो, होना अति आवश्यक है। आख़िर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते दोनो के मतानुसार अनूपगढ़ के राजा सूरजबख़्शसिंह के एकमात्र पुत्र कामेश्वरप्रसादसिंह मिले। मालती का भाग्य-सूत्र उनके साथ बाँध दिया गया।

अनूपगढ़ अवध के अौवल दर्जे की जागीरों में एक प्रतिष्ठित जागीर थी। इस राज्य के प्रथम व्यक्ति नवाबों की फ़ौज के सेनापति थे, साधारण बैस-ठाकुरों के वंश में पैदा होकर अपने शौर्य, साहस और पराक्रम से उस पद पर पहुँच गए थे। और, जब रुहेलों से मोरचा लिया, तो इनाम में यह जागीर मिली थी। उन्होंने अपने बल से चतुर्दिक् जागीरों की बहुत-सी भूमि दबा ली थी, जो ग़दर के ज़माने में बहुत ज़्यादा बढ़ गई थी, अँगरेज़ी राज्य होने पर वैसी ही बहाल रक्खी गई। राजा सूरजबख़्शसिंह भी पराक्रमी पुरुष थे, परंतु पराक्रम के दिन चले जाने से मैदानों में न घूमकर महल के दरीख़ानों से बाहर बहुत कम निकलते थे। कभी किसी साहब के आने पर उनके साथ शेर, तेंदुआ, चिड़ियाँ, मुर्ग़ाबियाँ मार लिया करते थे। और, अगर बहुत मन घबराया, तो गंगा में बजरे पर सैर कर आते थे।

राजा सूरजबख़्शसिंह भी बदलते हुए ज़माने को निरख रहे थे। उन्होंने कामेश्वरप्रसादसिंह को सुशिक्षित करने का प्रयत्न किया, और उन्हें सफलता भी मिली। कामेश्वरप्रसादसिंह किसी तरह

एम्० ए० पास हो गए। उनका शिक्षा-काल इतनी सफलता से नहीं बीता, जितना दूसरे छात्रों का बीतता है। वह सरल स्वभाव के शर्मीले व्यक्ति थे। वह सदैव मौन ही रहा करते। आवश्यकता पड़ने पर दो-चार शब्द बोलकर फिर ख़ामोश हो जाते। उन्होंने सहन-शक्ति प्रचुर मात्रा में पाई थी, और उसका उपयोग भी करना ख़ूब जानते थे।

वह जन्म से पुरुषत्व-हीन नहीं थे, यह दुर्घटना तो एक दिन अनायास घटित हो गई। कब, यह उन्हें नहीं मालूम हो सका। इसका भेद मालती के साथ विवाह तय हो जाने पर जिस दिन उनका तिलक आनेवाला था, उस दिन उन पर खुला। वह आशंका से मृतप्राय हो गए। कई कारणों से अपने माता-पिता को यह भेद नहीं बतलाया। परंतु ज्यों-ज्यों विवाह की तिथि निकट आती थी, उनकी विकलता बढ़ती जाती। आख़िर एक दिन उन्होंने साहस कर राजा सूरजबख़्शसिंह को पत्र द्वारा अपना सारा हाल ज़ाहिर कर दिया। राजा साहब पर भी वज्रपात हुआ। वह किसी प्रकार विवाह-संबंध स्थगित करने के लिये तैयार न थे, क्योंकि इसमें उनका सिर नीचा होता था। आख़िर किसी-न-किसी तरह मालती के साथ विवाह संपन्न हो गया।

मालती को मजबूरन् छ महीने तक अनूपगढ़ रहना पड़ा। उसके दिन ठीक उस प्रकार व्यतीत होते थे, जैसे जेल में क़ैदियों के। वह अपने मायके आने के लिये तड़प रही थी, परंतु राजा सूरजबख़्शसिंह उसको आने की आज्ञा नहीं देते थे। जब मालती ने दूसरी बार भेद न खोलने की प्रतिज्ञा की, तब किसी भाँति आने का हुक्म मिला था।

मालती जिस समय अनूपगढ़ के राजमहल से बाहर निकली, उसने वह विषमय दृष्टि उन पर डाली, जिसमें घृणा, क्षोभ और क्रोध

के भाव संलिप्त थे। उस कातरता की एक क्षीण रेखा भी न थी, जो नवयौवन की उमंगों से ओत-प्रोत नववधू में होती है, जब वह अपने प्रियतम के पास से विदा होकर अपनी बाल्य-सहेलियों में जाती है।

मालती जेल से छूटे हुए क़ैदी की भाँति उल्लास-तरंगों में उद्वेलित चली गई।

---

(९)

एक लिफ़ाफ़ा लिए हुए आभा ने मालती के कमरे में प्रवेश किया। मालती के सामने एक पुस्तक खुली रक्खी थी, और वह उसमें लीन थी। आभा के आते ही उसने सिर उठाकर देखा, और उसका स्वागत करने के लिये उठ खड़ी हुई।

आभा ने उसे दूर से लिफ़ाफ़ा दिखाकर, फिर अपने ब्लाउज़ में छिपाते हुए कहा—"अगर कुछ मुँह मीठा करने को कहो, तो······"

मालती का चेहरा वह लिफ़ाफ़ा देखकर क्षण-भर के लिये उतर गया। उसने वह भाव उसी क्षण छिपाकर मुस्किराते हुए कहा—"रहने दीजिए, आप ही को वह मुबारक हो।"

आभा ने मुस्किराती आँखों से कहा—"अब तो यह कहोगी। जब मुँह मीठा कराने का वक़्त आया, तो काचे काटकर निकलने लगीं। ऐसा मालूम होता है, जैसे किसी अनजान का पत्र है। ज़रा झाँककर अपने दिल का हाल तो देखो, वहाँ कैसी बीत रही है।"

मालती ने हँसकर कहा—"उसमें कौन-सी बड़ी बात है। किसी मित्र का पत्र होगा।"

मालती के स्वर में छिपा हुआ व्यंग्य था।

आभा ने कुरसी पर बैठते हुए कहा—"अब तो यही कहा जायगा। अभी मित्र कहा है, थोड़ी देर में कहना, किसी परिचित का है।"

मालती ने उत्तर दिया—"अरे भई, तुम मत देना। अपने पास ही रख लो। मुझे उसके देखने की कोई इच्छा नहीं।"

आभा ने सहास्य कहा—"वाह, आज बड़े गहरे पानी में हैं। उनसे ऐसी बेपरवा हो गईं कि यह पत्र देखने तक की इच्छा नहीं।"

यह कहकर वह मालती को लिफ़ाफ़ा दिखाकर पुनः अपने ब्लाउज़ में रखने लगी। इसी दर्म्यान मालती ने किताब उठाकर मेज़ पर फेंकी। आभा का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। मालती ने सहसा उसके हाथ से पत्र छीन लिया। मालती वेग से हँस पड़ी, और आभा शर्मा गई। उसके कपोल-युगल लाल हो गए। मालती ने वह पत्र तुरंत अपने ब्लाउज़ में छिपा लिया।

थोड़ी देर हँसने के बाद मालती ने कहा—"हुज़ूर की यह कम-तरीन बंदी निहायत अदब से आदाब बजा लाती है। अब तो शीरीनी का दावा ख़ारिज हुआ।"

वह फिर हँस पड़ी।

आभा ने हँसने की चेष्टा करते हुए कहा—"यह तो धोखा है, डाका है।"

मालती ने हँसी बंद करते हुए कहा—"धोखा कैसा! अगर कौशल का नाम धोखा है, तो संसार धोखेबाज़ों से भरा हुआ मिलेगा। दूसरे का माल छीनना डाका है, न कि अपना माल, जो किसी चोर के हाथ में पड़ गया हो।"

मालती उठकर जाने लगी।

आभा ने उसे पकड़ते हुए कहा—"मैं तुम्हें जाने न दूँगी। वह पत्र तो मुझे दिखाना पड़ेगा। आज बड़े भाग्य से यह मेरे हाथ लगा, मैं इसे ज़रूर पढ़ूँगी।"

मालती ने अपने को छुड़ाते हुए कहा—"आभा, यह कभी नहीं हो सकता। हाँ, अगर यह तुम्हारे पास होता, तो तुम पढ़ लेतीं, या पढ़कर अपने दूसरे प्रेम-पत्रों के साथ रख लेतीं, तो मुझे कोई उज़्र न था। किंतु अब मैं अपनी वस्तु तुम्हें क्यों दूँ?"

आभा ने कहा—"यह पत्र मेरे हाथ में ज़रूर था, लेकिन मैं इसकी मालकिन नहीं थी। उस वक्त भी यह तुम्हारी वस्तु थी, और इस वक्त भी तुम्हारी है, मगर मैं देखूँगी ज़रूर।"

मालती ने कुरसी पर बैठते हुए कहा—"यह भी कोई ज़बरदस्ती है। दोनों हाथ लड्डू। राजा साहब के कुँवर पैदा हुआ। कारिंदों ने रैयत से पूछा—'क्यों, कुँवर पैदा होने से राज़ी कि बेराज़ी?' किसी ने जवाब दिया—'राज़ी', तो कारिंदों ने कहा—'तो लाओ, नज़र दो।' अगर किसी ने कहा—'मैं तो बेराज़ी हूँ।' तो कारिंदों ने कहा—'फिर जुर्माना लाओ।' ग़र्ज़ कि रियाया को हर हालत में कुँवर के पैदा होने से सरकारी ख़ज़ाने में रुपया देना पड़ता है। उसी तरह हुज़ूर भी फ़रमा रही हैं कि चाहे जो कुछ हो, पत्र तो मैं पढ़ूँगी ही। अगर पढ़ने की इच्छा थी, तो न दिया होता। मैं कुछ आपसे भीख माँगने तो गई न थी।"

आभा ने लजाते हुए कहा—"क्या बताऊँ, ज़रा-सी ग़लती हो गई। मैं तुम्हारे कौशल में फँस गई। तुमने उधर किताब फेंकी, जहाँ ज़रा-सा ध्यान चूका कि तुमने चील की तरह झपटकर छीन लिया। यह कोई न्याय तो नहीं है।"

मालती ने शैतानी-भरी आँखों से मुस्किराते हुए कहा—"बहुत ठीक, हारा हाकिम ज़मानत माँगता है। जब कोई बात हाथ से बेहाथ हो जाती है, तब न्याय की दुहाई मचती है।"

आभा ने फ़ौरन् कहा—"ज़बरदस्त का न्याय भी अच्छा होता है—मारे और रोने न दे।"

मालती ने प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखते हुए कहा—"इसमें ज़बर-दस्ती की क्या बात। किसी से पूछो, तो वह इसमें तुम्हें ही सरा-सर झूठा और ज़बरदस्त कहेगा।"

आभा ने कहा—"अपने पक्ष का समर्थन करना सब जानते हैं।"

मालती ने उठते हुए कहा—"अच्छा, तुम्हारा चेहरा न फीका पड़े। तुम्हारे खाने के लिये कुछ ले आऊँ?"

आभा ने कहा—"नहीं, मैं तुम्हारी दया की मिठाई खाना नहीं चाहती।"

उसके स्वर में हार जाने के दुख का आभास था।

मालती ने अपने ब्लाउज़ से वह पत्र निकालते हुए कहा—"गुस्सा न हो, अगर तुम्हारी इच्छा पढ़ने की है, तो पढ़ लो।"

कहते-कहते उसका मुख उतर गया। आह्लाद का स्रोत एकदम स्तब्ध हो गया।

आभा ने पत्र लौटाते हुए कहा—"मैं किसी की दया नहीं चाहती। अब मैं यह पत्र हरगिज़ नहीं पढ़ सकती। अब कोई दूसरा ही पढ़ूँगी।"

मालती ने लापरवाही के साथ वह पत्र मेज़ पर फेंक दिया।

आभा ने कुछ चिढ़कर कहा—"मालती, उस पत्र का इतना अपमान तो ठीक नहीं।"

उसके स्वर में कुछ तिरस्कार था।

मालती ने क्षण-भर उसकी ओर देखा, और फिर कमरे के बाहर चली गई।

आभा सोचने लगी। इसके बाद उसने उस कमरे का दूसरा द्वार, जो उसकी ओर बंद था, खोल दिया, और चुपचाप अपनी जगह पर आकर बैठ गई।

थोड़ी देर बाद मालती एक तश्तरी में मिठाई लिए आई। आभा ने देखा, वह किसी भाव को दमन करने की कोशिश कर रही है। उसके नेत्र कुछ लाल हो गए हैं, और वक्षःस्थल बार-बार उठता और गिरता है। ओष्ठ फड़क रहे हैं, और भृकुटियाँ कुछ चढ़ी हुई हैं।

आभा कुछ सहम गई। क्या उससे कुछ अपराध हो गया है? वह इसी विचार में पड़ गई।

मालती ने तश्तरी मेज़ पर रखते हुए कहा—"लीजिए, आपकी पूजा आ गई।"

आभा का उत्साह भी कम हो गया था। उसने कहा—"जी नहीं, मैं कुछ भूखी तो हूँ नहीं, जो खाऊँ।"

मालती ने बैठते हुए कहा—"देखो, अभी-अभी तो इसके लिये आकाश-पाताल एक किए थीं, और जब लाकर श्रीचरणों में रख दिया, तो नख़रे दिखलाने लगीं।"

आभा ने पूछा—"पहले यह बतलाओ, तुमने उस पत्र का क्यों अपमान किया? अगर मेरे पूछने से तुम्हें कुछ कष्ट हुआ, तो मैं माफ़ी चाहती हूँ। इतना तुम्हें मुझ पर विश्वास करना पड़ेगा कि मैंने उसे खोलकर नहीं पढ़ा। तुम उसमें डाक-मुहर देख लो, तुम्हें आज की तारीख़ और समय छपा हुआ मिलेगा। अगर फ़र्क़ निकल आवे, तो बेशक मैं क़ुसूरवार हूँ। आज, जब मैं तुम्हारे पास आ रही थी, तब दरवाज़े पर डाकिया मिल गया, जो इसे तुम्हारे लेटरबक्स में डालने जा रहा था। मैंने उसे रोककर यह पत्र ले लिया, और सीधे तुम्हारे कमरे में ख़ुशख़बरी देने चली आई। मुझसे तुम चाहे जिसकी क़सम ले लो, मैंने तुम्हारा ख़त नहीं पढ़ा।"

मालती ने आश्चर्य से उसकी ओर देखते हुए कहा—"तुम्हारी बातों का मतलब मैंने बिलकुल नहीं समझा। तुम किस बात की सफ़ाई दे रही हो, पत्र पढ़ने के बारे में? मैं तो कुछ पूछती नहीं, और न तुम्हारा अविश्वास ही करती हूँ। पत्र पढ़ लिया या नहीं पढ़ा, इसमें मेरी कुछ हानि या लाभ नहीं है। तुमसे सिर्फ़ एक बात के अतिरिक्त कोई दूसरी बात छिपाई भी नहीं। पत्र में रक्खा क्या है? मैंने तो तुमसे कह दिया है, यह पत्र एक मित्र का है। उसे तुम शौक़

से पढ़ सकती हो। न पहले मना करती थी, और न अब मना करती हूँ। लो, पढ़ो।"

यह कहते हुए मालती ने वह लिफ़ाफ़ा खोल डाला, और पत्र निकालकर आभा की ओर बढ़ा दिया।

आभा ने वह पत्र मालती को लौटाते हुए कहा—"लीजिए, अब पढ़ने की उमंग नहीं रही। छूने से तो उसे सौत के लड़के की तरह फेंक दिया, और अगर कहीं पढ़ लूँगी, तो जला ही दोगी।"

मालती ने मुस्किराकर कहा—"हुज़ूर के ग़ुस्से का कारण अब समझ में आया। इसे मेज़ पर रख देने से आप आग-बबूला हो गईं। अब से भई, अक़्ल आई। अब सब पत्रों को सिर पर बाँधा करूँगी। कहीं भी न रक्खूँगी।"

यह कहकर उसने पत्र अपने सिर पर रख लिया। आभा और मालती दोनो हँसने लगीं।

मालती ने मिठाई उठाकर आभा को खिलाते हुए कहा—"चाहे जो हो, मिठाई तो तुम्हें खाना ही पड़ेगी।"

आभा ने कहा—"मिठाई मैं इस शर्त पर खाऊँगी, जब तुम हाथ जोड़कर यह पत्र अपने सामने रखकर माफ़ी माँगो।"

मालती ने झिड़ककर कहा—"मिठाई खाओ, चाहे न खाओ, यह तो मुझसे नहीं होने का।"

आभा ने तश्तरी अपने सामने से हटाते हुए कहा—"तो मैं भी नहीं खाती।"

मालती ने कहा—"मैंने क्या क़ुसूर किया है, जो माफ़ी माँगूँ ?"

आभा ने गंभीरता से कहा—"अपने देवता का प्रेम-संदेश इस तरह ठुकरा देना कुछ कम अपमान की बात है ?"

मालती का चेहरा स्वतः फीका पड़ गया।

उसने मनोवेग सँभालते हुए, कुछ मुस्किराहट से कहा—"बड़े देवता ! ऐसे ही होते, तो क्या बात थी।"

उसके स्वर में तीव्र व्यंग्य की झंकार थी।

आभा वह व्यंग्य-ध्वनि सुनकर कुछ सोच में पड़ गई।

मालती ने कहा—"खाती हो या नहीं ? अगर सीधी तरह न खाओगी, तो याद रखना, बल से काम लेना पड़ेगा। मैं बल-प्रयोग करना भी जानती हूँ, क्षत्रिय की लड़की हूँ।"

आभा ने पूछा—"क्या बात है मालती। मेरी समझ में कुछ नहीं आता।"

मालती ने उत्तर दिया—"समझने की बात क्या है, जो समझ में आवे। तुम व्यर्थ में तिल का ताड़ बना रही हो। अब तुमसे कौन जीतेगा।"

आभा ने कहा—"यह तो मैं कह सकती हूँ, तुम्हें उतनी प्रसन्नता नहीं हुई, जितनी होना वाजिब था। मैं स्वयं चकित हूँ।"

मालती ने कहा—"चकित होने की क्या बात है ? पत्र आया है, तो इसमें प्रसन्नता की क्या बात है। अब रह गई उसके अपमान की बात, तो मैंने अपनी जान में कोई अपमान तो नहीं किया। हाँ, यहाँ से मेज़ पर ज़रूर फेक दिया। अब तुम कहती हो कि मुझे प्रसन्नता नहीं हुई, तो तुम्हारे लिये, तुम्हें अपनी प्रसन्नता का विश्वास दिलाने के लिये, शहर में डुग्गी पिटवा दूँगी। बस, अब तो आपको यक़ीन आया।"

आभा ने हँसते हुए कहा—"मालती, मैं तुमसे बातों में कभी नहीं जीत सकी।"

मालती ने तुरंत ही कहा—"और यह तो कहिए, आप जीती किसमें हैं ?"

आभा ने उत्तर दिया—"वास्तव में मैं कभी नहीं जीती। जीत तो तुम्हारी हमेशा रही है।"

मालती ने आभा के मुख में मिठाई देते हुए कहा—"लो, अब सीधी तरह खा लो। बहुत नख़रा हो गया।"

आभा मिठाई खाने लगी, और स्वयं एक टुकड़ा उठाकर मालती को भी खिलाने लगी।

मालती ने मिठाई खाते हुए कहा—"आख़िर वही खाया, लेकिन कितनी मिन्नतें करवाने के बाद!"

आभा हँस पड़ी, और मालती भी हँसने लगी।

मिठाई खा लेने के बाद आभा ने उठते हुए कहा—"अच्छा, अब जाऊँगी। पापा आज इलाहाबाद जायँगे, वहाँ सिनेट की बैठक है।"

मालती ने उसे बैठाते हुए कहा—"वह तो रात की गाड़ी से जायँगे, अभी दोपहर को नहीं। बैठे-बैठे एक बहाना ही सूझ गया। कुछ नहीं, तो चलो यही सही।"

आभा ने गंभीर होते हुए कहा—"यहाँ क्या करूँ? मेरे बैठने से आपके सब काम रुक जाते हैं। क्या करूँ, जाना ही पड़ेगा।"

मालती ने कहा—"अरे, मेरा कौन काम रुका है, और ख़ासकर तुम्हारे बैठने से।"

आभा ने उमंगती हुई हँसी रोकने की चेष्टा करते हुए कहा—"मेरे मौजूद रहते न तो तुम उनकी चिट्ठी पढ़ोगी, और न......"

मालती ने बात काटकर कहा—"और न तुम्हें ही फिर भारतेंदु को प्रेम-पत्र लिखने दूँगी। क्यों, यह बात ठीक है न?" यह कहकर मालती सवेग हँस पड़ी।

आभा ने सहज भाव से उत्तर दिया—"अभी वह समय नहीं आया।"

मालती ने कहा—"ठीक है, मैं ग़लती पर थी। अभी तो पूर्व-जन्म की स्मृतियों को कसौटी पर कसा जा रहा है। क्यों?"

आभा लाल हो गई, और दूसरे ही क्षण कमरे के बाहर हो गई। मालती हँसती हुई मना करती रही, लेकिन आभा ने कुछ नहीं सुना।

जाते-जाते आभा ने कहा—"मैं अभी आती हूँ। ज़रा चाचीजी के पास भी हो आऊँ।"

मालती कुछ क्षण तक उसके वापस आने की प्रतीक्षा करती रही, लेकिन जब उसे आभा की हँसी के साथ-साथ उसकी दो बहनों तथा मा—लेडी चंद्रप्रभा—की हास्य-ध्वनि सुनाई दी, तब वह उस पत्र को पढ़ने लगी, जिसे लेकर उन दो सखियों में इतना वाद-विवाद हुआ था। पत्र कुँवर कामेश्वरप्रसादसिंह का था, और इस प्रकार था—

"प्रियतमे,

"इस प्रकार संबोधन करने का मेरा अधिकार तो नहीं है, किंतु इससे बढ़कर मेरी भावनाओं को प्रतीक करनेवाला कोई दूसरा शब्द नहीं मिलता। वास्तव में तुम मुझे सबसे अधिक प्रिय हो। यह देखा गया है कि आदमी को अपने प्राणों से अधिक कोई प्रिय नहीं होता, लेकिन तुम मुझे उससे भी प्रिय हो। अभी तो तुम्हें विश्वास न होगा, लेकिन अगर कभी समय मिला, तो तुम्हें यह कठोर सत्य भी देखने को मिल जायगा।

"अभी उस दिन तुम गई हो, लेकिन ऐसा मालूम होता है, बरसों से तुमसे जुदा हूँ। जीवन की सब आशाएँ तुम अपने साथ ले गईं। मेरे लिये जो सबसे सुखद वस्तु थी, वह था तुम्हारा साथ, और भगवान् ने वह भी मुझसे छीन लिया। यह मुझे विश्वास है कि तुम वहाँ बहुत प्रसन्न होगी, इसी बात से मुझे कुछ संतोष होता है, और इस समय भी कुछ सांत्वना मिलती है। भगवान् से यही प्रार्थना है कि तुम जहाँ रहो, सदैव प्रसन्न रहो।

"इस बात को मैं बख़ूबी जानता हूँ कि मैं तुम्हें पूर्ण रूप से सुखी नहीं कर सका, और भविष्य में कर सकूँगा, इसमें मुझे संदेह तो नहीं, किंतु किसी क़दर दुरूहता अवश्य है। ईश्वर की कृपा से सब कुछ सुलभ है। भय मुझे केवल इतना है कि कहीं तुम अपने वचन न भूल जाओ। साथ ही यह भी दृढ़ विश्वास है कि तुम अपनी प्रतिज्ञा न भूलोगी।

"यह मैं स्वीकार करता हूँ कि तुम्हारे ऊपर मेरा उतना अधिकार नहीं, जितना होना चाहिए था, और न मैं किसी प्रकार के विनिमय की प्रत्याशा करने का अधिकारी हूँ। परंतु न-मालूम तुम में कौन आकर्षण है, जो मुझे वारंवार तुम्हारी ओर घसीटता है। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता है कि मैंने तुम्हें कहीं देखा है, और तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ। तुम मेरे लिये बिलकुल अपरिचित नहीं हो। तुम्हारे स्मरण-मात्र से रोमांच हो आता है, और नयन बार-बार तुम्हें देखने के लिये लालायित हो उठते हैं। इतनी अस्थिरता तो आज के पहले कभी नहीं मालूम हुई थी। इसका कारण क्या है। जिस दिन से तुम गई हो, उस दिन से इसका कारण खोज निकालना चाहता हूँ, परंतु मिलता नहीं।

"लिखने को तो बहुत कुछ है, और मन यही चाहता है कि निरंतर लिखता ही जाऊँ, परंतु शायद तुम इतने से ही ऊब गई हो। मैं परोक्ष में भी तुम्हें क्षण-भर के लिये दुखी नहीं देखना चाहता, इसलिये यह पत्र यहीं समाप्त करता हूँ। यह प्रार्थना भी करता हूँ कि अगर इच्छा हो, और तुम्हें कोई कष्ट न हो, तो केवल दो लाइनें अपनी कुशलता की लिख भेजना, ताकि हृदय को कुछ अधिक संतोष हो। माताजी सकुशल हैं। तुम्हें आशीर्वाद कहती हैं।

तुम्हारा ही

कामेश्वर"

मालती ने ज्यों ही पत्र समाप्त करके पीछे की ओर देखा—हँसी की ध्वनि से कमरा गूँज उठा ! मालती कुछ शर्मा गई। हँसनेवाली आभा थी, जो आहिस्ता-आहिस्ता आकर, मालती के पीछे खड़ी होकर पत्र पढ़ रही थी। मालती निश्चिन्त होकर पत्र पढ़ने में लीन थी। उसे न मालूम हुआ कि कब आभा आई। मालती के कमरे में सामनेवाले मार्ग के अतिरिक्त एक और मार्ग उसकी बहन कामिनी के कमरे में से था, जो आजकल ख़ाली था। वह कमरा मालती के कमरे में खुलता था, और उसका मार्ग दूसरी ओर से था। आभा उसे पहले ही खोल चुकी थी, जब मालती मिठाई लेने गई थी। वह उसी मार्ग से आकर मालती का पत्र पढ़ रही थी।

मालती ने उसकी ओर पत्र देते हुए कहा—"इतनी चोरी से पढ़ने की क्या ज़रूरत थी, जब मैं ख़ुद ही तुम्हें पढ़ने के लिये दे चुकी थी।"

उसके स्वर में तिरस्कार का आभास था।

आभा ने हँसते हुए कहा—"भई, तुमने भी तो पत्र मुझसे छीन लिया था, अब क्यों शरमाती हो? आप समझती हैं कि मैं ही बड़ी चालाक हूँ ?"

मालती ने हँसकर कहा—"लेकिन आज मै मात खा गई। मुझे क्या मालूम था कि तुमने यह दरवाज़ा खोलकर पहले से सब जाल बिछा दिया है। अच्छा, यह तो बतलाओ कि तुमने यह दरवाज़ा कब खोल लिया था।"

आभा ने शरारत-भरी आँखों से कहा—"मैं क्यों बतलाऊँ? तुम्हीं कौन अपनी सब बातें बतलाती हो।"

मालती ने धड़कते हुए हृदय से पूछा—"कौन बात छिपाई है तुमसे ?"

आभा ने कहा—"यही तुमने कब मुझे बतलाया था कि वह तुम्हें कितना प्यार करते हैं ?"

मालती ने शरारत से पूछा—"वह कौन ?"

आभा ने उत्तर दिया—"वह, और कौन ?"

मालती ने कहा—'वाह, क्या अच्छा जवाब है ! यह मुझे आज मालूम हुआ कि सर्वनाम से सर्वनाम ही अर्थ निकलता है। चलो, एक नई बात तो मालूम हुई।"

आभा बड़े असमंजस में पड़ गई। वह न जानती थी कि किस तरह मालती के पति को संबोधन करे।

इसी समय कामिनी हँसती हुई कमरे में आई उसी ओर से, जिधर से आभा आई थी। आते ही उसने कहा—"मैं आप लोगों की बातचीत सुन रही थी। जीजी ने आभा जीजी को लाजवाब कर दिया ! वाह !" यह कहकर वह हँसते-हँसते फुलझरी हो गई। आभा चुपचाप थी। उसका शर्म से बुरा हाल था।

कामिनी ने हँसी बंद करते कहा—"अरे, यह तो बड़ी सहल-सी बात है। इसमें क्या मुश्किल है, जीजी तो आपसे बड़ी हैं, तो फिर आप भी उन्हें जीजा कह सकती हैं।" यह कहकर वह फिर हँसने लगी।

कामिनी ने फिर कहा—"और अगर जीजा कहते शरमाती हो, तो उन्हें कुँवर साहब कह सकती हो।" यह कहकर वह द्विगुणित उत्साह से हँसने लगी।

हास्य की ध्वनि लेडी चंद्रप्रभा के कमरे तक पहुँची। वह इतनी हँसी का कारण जानने के लिये मालती के कमरे की ओर आईं।

उन्हें देखते ही कमरे में निस्तब्धता छा गई। कामिनी की हँसी उसके मुँह में ही रह गई।

लेडी चंद्रप्रभा ने कहा—"सारा दिन तुम लोगों को हँसते ही बीतता है। आभा बेचारी सीधी-सादी है, तुम दोनो उसे हमेशा तंग किया करती हो।"

कामिनी के मुँह से फिर हँसी निकल पड़ी। उसने कहा—"आभा जीजाजी को जीजा कहने में शरमाती हैं!" यह कहकर वह फिर हँसने लगी।

लेडी चंद्रप्रभा भी मुस्किराती हुई चली गईं।

---

(१०)

संध्या की लालिमा सुदूर पश्चिम में आगत गाकर स्वयं पूर्व दिशा की ओर भागती हुई, यामिनी के काले अंचल के नीचे छिपकर उसी में लीन होने का प्रयत्न करने लगी। जिस समय लालिमा भाग रही थी, उसकी आभा के कुछ कण नील रत्नाकर—प्रशांत महासागर—के ऊपर संतरण करते हुए 'सुमित्रा'-नामक जलयान पर गिर पड़े, और उन्होंने माधवी को, जो तीन दिन से बेहोश थी, जगा दिया। वह शून्य दृष्टि से चारो ओर देखने लगी। वह एक नई दुनिया में थी। डॉक्टर हुसैनभाई की आँखें सफलता के उल्लास से चमक उठीं। यह उनकी चिकित्सा का दूसरा दिन था। उन्हें यह आशा स्वप्न में न थी कि इतनी शीघ्रता से उन्हें सफलता मिलेगी।

पास ही अमीलिया बैठी हुई उसकी शुश्रूषा कर रही थी। उसे हार्दिक प्रसन्नता हुई। उसने डॉक्टर हुसैनभाई की ओर देखा—उल्लास के नेत्र आपस में एक दूसरे का हर्ष देखने लगे। दूसरे क्षण दोनो की आँखें नत होकर अपना कुछ खोया हुआ ढूँढ़ने लगीं। अमीलिया वह समाचार पंडित मनमोहननाथ को सुनाने के लिये चल दी, और डॉक्टर हुसैनभाई शीघ्रता से ओषधि बनाने में तत्पर हो गए।

माधवी के नेत्र बंद हो गए थे। वह अपनी कुछ पुरानी स्मृतियाँ एकत्र कर रही थी, जिनका अंधकार में कुछ ओर-छोर न मिलता था। उसका दिमाग़ एक घोर कालिमा से आवृत था, जिसमें स्मृति की ज्योति कुछ प्रकाश न करती थी, बल्कि वह उसे अधिक कालिमामय बना रही थी।

डॉक्टर हुसैनभाई ने दवा बनाकर उसके शुष्क ओठों में लगाते हुए, उसके कान के पास अति मृदुल स्वर में, कहा—"दवा पी लीजिए।"

मंत्र-चालित पुतली की भाँति उसने आदेश पालन किया। वह दवा पी गई।

इसी समय पंडित मनमोहननाथ के साथ स्वामी गिरिजानंद ने प्रवेश किया।

डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"मरीज़ बड़ी जल्दो होश में आ गया। मुझे यह आशा न थी कि इतनी जल्दी होश आ जायगा।"

पंडित मनमोहननाथ ने संतुष्ट होकर कहा—"यह तो अच्छा है। मुझे तो कोई आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि मैं इसके जीवन से कभी निराश नहीं हुआ था।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"यदि भगवान् की इच्छा यह न होती, तो कदापि इतनी भयंकर मुसीबतों को झेलकर हमारे पास न आ जाती। इसके जीवन से मैं भी कभी निराश नहीं हुआ था।"

डॉक्टर हुसैनभाई दूसरी दवा तैयार करने में संलग्न थे। उन्होंने दवा बनाते हुए कहा—"यह तो मुझे भी उम्मीद थी। मगर यह ख़याल न था कि इतनी जल्दी सफलता मिलेगी। मैंने अनुमान लगाया था कि कम-से-कम सात दिन लगेंगे। आपसे कल ही बयान किया है कि ऐसा केस मुझे इँगलैंड में देखने को मिला था। उसी के आधार पर मैं अंदाज़ा लगा रहा था।

पंडित मनमोहननाथ ने पूछा—"अब आप कौन-सी दवा दे रहे हैं?"

डॉक्टर हुसैन भाई ने उत्तर दिया—"अभी एक ताक़त लानेवाली

दवा पिला चुका हूँ, और अब सोनेवाली दवा दूँगा। गहरी बेहोशी के बाद नींद बहुत फ़ायदेमंद है।"

पंडित मनमोहननाथ ने शंकित स्वर में पूछा—"क्या आप कुछ खाने को न दीजिएगा? बेचारी आज तीन दिन से तो बेहोश है, और उसके पहले कितने दिनों से नहीं खाया, कौन कह सकता है। ऐसी अवस्था में कहीं इसकी हालत ख़राब न हो जाय।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने मुस्किराते हुए कहा—"आप इसकी चिंता न करें। मरीज़ कभी भूख से मर नहीं सकता। मैंने इसका प्रबंध कर दिया है। इसे अब केवल शांति और विश्राम की आवश्यकता है। अगर अल्लाह ने चाहा, तो दो दिन में मैं सारी कमज़ोरी दूर कर दूँगा।"

दवा माधवी के उदर में जाकर अपना असर कर रही थी। उसकी धमनियों में रक्त का संचालन वेग से शुरू हो गया था, परंतु स्मृति अब भी परिष्कृत नहीं थी। उसे कुछ सुनाई नहीं पड़ता था, केवल एक मृदु गुंजन के अतिरिक्त और कुछ न मालूम होता था।

डॉक्टर ने दूसरी तैयार की हुई ओषधि पिलाते हुए कहा—"इसे पीते ही अब प्राकृतिक ढंग पर नींद आवेगी, जिससे बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य ठीक हो जायगा, और इंशा अल्लाह कल एक दूसरी ही सूरत नज़र आएगी।"

माधवी दूसरी दवा भी पी गई।

पंडित मनमोहननाथ ने माधवी के समीप आकर उसे ग़ौर से देखते हुए कहा—"बहुत कमज़ोर मालूम होती है। देखो, भगवान् कब इसे अच्छा करते हैं।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"ईश्वर सब अच्छा करते हैं, और सब अच्छा होगा। आज जब तबियत अच्छी है, तो अमीलिया को विश्राम देना वाजिब होगा, और परिचर्या के लिये राधा को

नियुक्त कर देना चाहिए। वह भी एक चतुर स्त्री मालूम होती है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"हाँ, स्वामीजी, यह ठीक है। कल रात से अमीलिया सोई नहीं, अभी-अभी बीमारी से उठी है। ज़्यादा परिश्रम करने से उसके बीमार पड़ने का अंदेशा है। अब भय की कोई बात नहीं। राधा बड़े मज़े से अपनी सहेली की देख-रेख कर सकती है। राधा और माधवी तो दोनो साथ ही मिली थीं। मैं तो उसे एक प्रकार से भूल गया था।"

अमीलिया ने दृढ़ता से कहा—"जी नहीं, जब यह भार मैंने उठाया है, तो मुझे ही उठाने दीजिए। मैं पूर्ण रूप से स्वस्थ हूँ। सिर्फ़ एक रात न सोने से मेरी कोई विशेष हानि नहीं हुई। आज यहाँ मैं भी सो जाऊँगी। आप मेरे लिये चिंता न करें।"

पंडित मनमोहननाथ ने सप्रेम अमीलिया के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"अमीलिया, तुम भी मुझे संतान के समान प्रिय हो। यह मुझे भली भाँति मालूम है कि तुम बीमार की सेवा करने में बड़ी चतुर हो, और उसकी तीमारदारी में अपने को नष्ट करने में ज़रा भी न हिचकिचाओगी। परंतु तुम्हारे कल्याण की ओर देखना मेरा भी कर्तव्य है। मैं तुम्हें किसी तरह आज यहाँ नहीं रहने दूँगा। तुम्हें आज आराम करना होगा। अपने कमरे में जाकर विश्राम करो। मैं यहाँ किसी दूसरे का प्रबंध करूँगा।"

अमीलिया भी दृढ़ थी। उसने कहा—"मनुष्य का धर्म है कर्तव्य पूरा करना। जब मैंने एक नर्स का काम लिया है, तब उसके अनुसार काम भी करना चाहिए। नर्स अपना आराम नहीं देखती।"

उसकी आँखों से सात्त्विक भाव की सुनहली किरणें निकलकर पंडित मनमोहननाथ को द्रवित करने लगीं। उनके हृदय में

ममत्व की एक सुनहली ज़ंजीर पड़ गई। वह उसे अपनी संतान की भाँति सस्नेह देखने लगे। अमीलिया सिर नत किए हुए देख रही थी। पंडित मनमोहननाथ ने प्रसन्न कंठ से कहा—"जब तुम्हारी यही इच्छा है, तो तुम रहकर अपना कर्तव्य पालन करो। जो मनुष्य कर्तव्य पालन करता है, उसका अनिष्ट कभी नहीं होता, सदैव कल्याण होता है। अगर ज़रूरत समझो, तो राधा को बुला लेना, वह तुम्हारी सहायता करेगी।" यह कहकर वह बाहर जाने लगे।

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"बेहतर होगा, आप स्वयं यह प्रबंध कर दें।"

पंडित मनमोहननाथ ठहर गए, और राधा को बुलाने के लिये एक सेवक को आदेश दिया। थोड़ी देर में राधा वहाँ आई।

राधा ने प्रश्न-भरी दृष्टि से देखते हुए पूछा—"कहिए, क्या हुक्म है?"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"मैं समझता हूँ तुम अब बिलकुल अच्छी हो। अपनी सहेली की देख-रेख कर सकती हो। आज उसे होश आ गया है, और डॉक्टर का कथन है कि वह बहुत जल्द अच्छी हो जायगी। तुम आज इसी कमरे में सोना, और अमीलिया की सहायता करना।"

राधा ने सिर हिलाकर अपनी सम्मति प्रकट की।

पंडित मनमोहननाथ ने पूछा—"क्या तुम अपनी सखी का नाम बतला सकती हो?"

राधा ने उत्तर दिया—"उसने मुझे अपना नाम माधवी बताया था, और शायद यही उसका नाम भी है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"माधवी नाम है ठीक। अभी तक मैंने इसका परिचय नहीं दरयाफ़्त किया, मुझे अवकाश नहीं मिला। ख़ैर, आज जाने दो, कल सुबह मेरे पास आकर अपना

परिचय देना। कल तक माधवी भी पूरे होश-हवास में आ जायगी, उस वक़्त अगर तुम दोनो अपने-अपने घर जाना चाहोगी, तो भेज दूँगा।"

राधा ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

पंडित मनमोहननाथ ने डॉक्टर हुसैनभाई से पूछा—"क्या माधवी को नींद आ गई?"

डॉक्टर ने माधवी की ओर देखते हुए कहा—"जी हाँ, वह इस वक़्त सो रही है।"

पंडित मनमोहननाथ ने जाते हुए कहा—"आप रात की दवा का भी प्रबंध कर दीजिएगा। अगर कोई ज़रूरत दरपेश हो, तो मुझे फ़ौरन् इत्तिला दीजिएगा। यह ख़याल न कीजिएगा कि मैं नींद में हूँ। मुझे आप सोते से जगा सकते हैं।" यह कहकर वह स्वामी गिरिजानंद के साथ चले गए।

राधा अमीलिया और डॉक्टर हुसैनभाई की ओर आदेश मिलने के लिये देखने लगी।

अमीलिया ने कहा—"अब रात हो गई है, तुम अभी जाकर खाना वग़ैरा से फ़राग़त हो आओ, मैं यहाँ बैठी हूँ।"

राधा चली गई।

डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"मिस साहबा, आप भी इस वक़्त जा सकती हैं। मुझे कोई काम नहीं, मैं मरीज़ के पास बैठा हूँ।"

अमीलिया ने नम्रता के साथ कहा—"धन्यवाद! मैं अभी राधा के वापस आने पर चली जाऊँगी।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने एक दवा की शीशी उठाते हुए कहा—"देखिए, मनुष्य घटनाओं का कैसा शिकार हो जाता है।"

अमीलिया ने नेत्र नीचे किए हुए कहा—"मैं आपका मतलब नहीं समझी।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने हँसने की चेष्टा करते हुए कहा—"मैं अपने संबंध में कह रहा था। अगर परसों शाम तक कोई मुझसे आकर कहता कि कल तुम्हारी नौकरी लग जायगी, और तुम घर छोड़कर कल ही शाम तक परदेश जाओगे, तो मैं उससे ज़ोर के साथ कहता कि तुम झूठे हो, मगर देखिए, आज वही लफ़्ज़-बलफ़्ज़ सच है। मेरी समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों हुआ, और अक्सर ऐसा हो जाता है।" यह कहकर वह कुछ मुस्किराए। अमीलिया भी मुस्किराने लगी।

थोड़ी देर बाद उसने कहा—"जी हाँ, आपका कहना बिलकुल ठीक है।"

फिर तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए पूछा—"क्या आप ईश्वर पर विश्वास करते हैं ?"

डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"मुसलमान होने से ज़रूर ख़ुदा को मानता हूँ, मगर दिल से मैं उसका क़ायल नहीं। मैं बहुत दिनों तक इँगलैंड में रहा हूँ, और वहाँ मुझे कई धर्मों के बारे में जानकारी हुई। मैंने अपने बहुत दिन उन लोगों की सोहबत में गुज़ारे हैं, मगर मुझे अफ़सोस है कि कोई धर्म मुझे अपना मुरीद नहीं बना सका ! शायद आपको ताज्जुब होगा कि न तो मैं ख़ुदा में यक़ीन करता हूँ, और न किसी धर्म पर।"

अमीलिया तीक्ष्ण दृष्टि से उनकी ओर देखने लगी। उसके मुख का भाव देखकर डॉक्टर हुसैनभाई कुछ सहम-से गए।

उन्होंने हँसने की चेष्टा करते हुए कहा—"मालूम होता है, आप ख़ुदा पर यक़ीन करती हैं।"

अमीलिया ने दृढ़, किंतु शांत स्वर में कहा—"जी हाँ, मैं ईश्वर पर विश्वास करती हूँ, और धर्म पर भी। ईश्वर हमारा लक्ष्य है, और धर्म उस तक पहुँचने का रास्ता।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"यह तो पुरानी बात है, जो सदियों से इंसान को पागल बनाए हुए है। यह एक ऐसा गोरख-धंधा है, जिसमें दुनिया फँसी हुई है, और यह यक़ीन भी, छूत की बीमारी की तरह, पुश्त-दर-पुश्त चला जाता है। यही तो ताज्जुब है।"

अमीलिया ने मृदु मुस्कान-सहित कहा—"क्यों, आपको ताज्जुब होता है?"

डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"ताज्जुब की तो बात ही है कि पढ़ी-लिखी दुनिया महज़ एक ग़लत ख़याल में मुब्तिला चली आती है। क्या इंसान की समझ में यह नहीं आता कि मज़हब के हिमायती मुल्लों, पादरियों और बिरहमनों की दिमाग़ी फ़रेबबाज़ी है, जो उन्हें बहकाकर सिर्फ़ अपना उल्लू सीधा करते हैं। जिस ख़ुदा की वे दुहाई देते हैं, उसका वजूद कहाँ है, यह नहीं बतलाते। जवाब में बेसिर-पैर की बातें, जिनकी ताईद किसी इल्म, साइंस वग़ैरा से नहीं हो सकती, कहते हैं, ताकि इंसान उन पर यक़ीन करे। वे तरह-तरह की झूठी नज़ीरें व दलीलें पेश करते और आख़ीर में दोज़ख़ और बिहिश्त के ख़याली करिश्मे दिखाते हैं। मैंने आज तक किसी मुल्ला, पादरी या साधू-बिरहमन को अपने ज़ाती फ़ायदे से बहुत दूर नहीं पाया। हालाँकि वे दुनियावी न्यामतों को हक़ीर और हेच कहते हैं, इंसान की तबियत उस तरफ़ से हटाने की कोशिश करते हैं, मगर ख़ुद उनमें ग़र्क़ रहते हैं। यहाँ तक कि उन्हें दस्तयाब करने के लिये ही फ़रेबों का जाल बिछाते हैं। मक्कारी की हद तोड़ देते हैं उस वक़्त, जब वे इंसान को, भोले इंसान को इन दुनियावी न्यामतों से मुँह मोड़ने की तक़रीर करते हैं, और ख़ुद उन्हें हासिल कर ऐश व इशरत से ज़िंदगी बसर करते हैं।" कहते-कहते डॉक्टर हुसैनभाई जोश से उतावले हो गए।

अमीलिया ने शांति के साथ उनकी ओर देखते हुए कहा—"डॉक्टर साहब, मुल्लाओं या पादरियों के निस्बत आपका ख़याल ठीक भी हो सकता है, और दरअसल ज़्यादातर ऐसे ही हैं, जैसे आप बयान करते हैं, मगर ये बातें हरगिज़ ख़ुदा के वजूद को मिटाती नहीं। ईश्वर की पहचान, उसका अनुभव या उसका अस्तित्व उस वक़्त मालूम होता है, जब इंसान ख़ुदी को भुला देता है। ख़ुदी को भूल जाना ही ख़ुदा की पहचान है। अगर मज़हब में दुनियावी न्यामतों की तरफ़ हिक़ारत दिखलाई है, तो वह इसलिये नहीं कि इंसान उन्हें हासिल न करे, उन्हें भोगे नहीं, उनसे फ़ायदा न उठावे, बल्कि इसलिये कि वह उनमें ग़र्क़ न हो जाय, और साथ ही एक इंसान दूसरे इंसान पर उन्हें हासिल करने के लिये ज़ुल्म न करे। इससे ज़्यादा उनका कोई दूसरा मक़सद नहीं।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"आप तो मेरा पक्ष भी लेती हैं, और मज़हब की भी हिमायत करती हैं। यह तो ठीक नहीं। आदमी एक ही नाव जा सकता है, दो नावों पर एक साथ नहीं।" यह कहकर वह कुछ हँस पड़े।

अमीलिया ने गंभीरता-पूर्वक कहा—"मैं किसी का पक्ष नहीं लेती। मैं सिर्फ़ वही बयान करती हूँ, जो मेरा विश्वास है, या जो कुछ मैं समझती हूँ। सचाई कभी दो मुख़ालिफ़ सिरों पर नहीं होती, वह हमेशा बीच में हुआ करती है।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"सचाई मैं हमेशा उसी में पाता हूँ, जो ख़ुद सच है। जो ख़ुद एक फ़रेबी और दग़ाबाज़ है, उससे सचाई की उम्मीद करना फ़िज़ूल है। सच वह है, जिसे मैं आँखों से देख सकूँ, कानों से सुन सकूँ, और हाथ से छू सकूँ। मैं ख़याली पुलाव पकाना पसंद नहीं करता। इंसान अपने को कमज़ोर

समझता है, इसलिये वह .खुदा की तरफ़ भागता है। अगर इंसान अपने को कमज़ोर न ख़याल करे, तो वह .खुदा की खोज में दर-दर भटकता न फिरे।"

अमीलिया ने कहा—"कमज़ोरी का दूसरा नाम इंसान है, वह इस (इंसान) से इस तरह जुदा नहीं हो सकती, जैसे सूरज से रोशनी, आग से गरमी, पानी से नमी, बर्फ़ से ठंडक। चूँकि इंसान कमज़ोर है, इसलिये वह अपने से ज़्यादा ताक़तवर का ख़याल करता है, और जिसे वह ख़याल करता है, वह .खुदा है। कमज़ोर लफ़्ज़ जिस तरह ताक़तवर लफ़्ज़ की कल्पना करा लेता है, हालाँकि आपने सिर्फ़ कमज़ोर लफ़्ज़ ही इस्तेमाल किया है, और ताक़तवर लफ़्ज़ नहीं कहा है, उसी तरह इन्सान कहने से किसी ऐसी चीज़ का भी ख़याल आता है, जो इंसान नहीं है—उससे भी ऊँचा है। बस, वही ऊँची चीज़ .खुदा है।"

इसी समय राधा उस कमरे में आई। उसके आते ही डॉक्टर हुसैनभाई उठ खड़े हुए।

उन्होंने उठते हुए कहा—"आज आपकी तक़रीर से मुझे निहायत .खुशी हासिल हुई, और साथ ही दिल-बहलाव का एक दिलचस्प सवाल उठ खड़ा हुआ। मैं .खुदा पर यक़ीन नहीं करता, और आप उसकी पुजारिन हैं, चलिए, तफ़रीहन् घंटे-दो घंटे इसी बहस-मुबाहिसा में कट जाया करेंगे। अगर आपको कोई तकलीफ़ न हो, तो कल किसी वक़्त फिर इसी मसले को हल करेंगे।"

अमीलिया ने प्रसन्नता के साथ कहा—"मैं हमेशा तैयार हूँ। आज पाँच साल से मैं इन्हीं ख़यालातों में मुब्तिला रहती हूँ। आपसे बातचीत करने से मेरी जानकारी बढ़ेगी, और दरअसल वक़्त मज़े के साथ कटेगा। मैं आपको हृदय से धन्यवाद देती हूँ!"

डॉक्टर हुसैन भाई ने मुस्किराते हुए कहा—"मेरी बातचीत से आपका कुछ दिल-बहलाव हुआ, यह जानकर मुझे बेहद ख़ुशी हुई। इस बेइंतिहा ख़ुशी के लिये महज़ शुक्रिया अदा करना बहुत थोड़ी बात है।"

अमीलिया ने हँसते हुए कहा—"ख़ैर, आप कष्ट न करें। इतना ही बहुत है।"

डॉक्टर हुसैन भाई ने कहा—"अब आप भी जाकर कुछ देर आराम करें। यह बाई मरीज़ के पास बैठ जायगी। मैंने सोने की दवा दी है, जिससे कम-से-कम छ घंटे मुतवातिर नींद आएगी। मेरा आपसे अनुरोध है कि आप आज रात-भर जागकर अपनी तबीयत न ख़राब करें। मरीज़ की हालत बड़ी अच्छी है, और ज़्यादा देख-रेख की ज़रूरत नहीं। रात को मैं ख़ुद दो-एक मर्तबे आकर हालत देख लूँगा, और मुनासिब दवा दे दूँगा। सारी ज़िम्मे-वारी मैं अपने ऊपर लेता हूँ। अब आप तकलीफ़ न उठाएँ।"

डॉक्टर हुसैन भाई की आँखों से आजिज़ी व मिन्नत झाँक रही थी।

अमीलिया मन-ही-मन मुस्किराती हुई कुछ सोचने लगी।

(११)

रात्रि की नीरवता देखकर अमीलिया का हृदय काँप उठा। संसार इस समय केवल अंधकार का विशद विस्तार मालूम होता था। रत्नाकर काला था, आकाश काला था, और प्रशांत सागर पर संतरण करता हुआ जहाज़ काला था। चतुर्दिक् गंभीर शांति छाई हुई थी, जिससे मनुष्य प्रसन्न होने की जगह काँप उठता था। अमीलिया ने देखा—राधा जागती-जागती ऊँघ गई है, और माधवी सो रही है। वह सजग होकर उठ बैठी। घड़ी में देखा, अभी तो १०-४० हुए हैं। वह आराम-कुरसी पर बैठ गई, और विचारों में निमग्न हो गई। इसी समय पूर्व दिशा से चंद्रमा उदय होकर अमीलिया के भावों को समझने का यत्न करने लगा। अमीलिया सोचने लगी—

"इस समय संसार नींद में बेख़बर है। प्रकृति भी अपनी बेसुधी में मग्न है। परंतु मुझे नींद नहीं आती। न-मालूम क्यों मेरा मन बार-बार घबराता है। मन में आता है, रोऊँ, और इतना रोऊँ कि उसमें अपनी सुध-बुध खो दूँ। किंतु आश्चर्य तो यह कि आँसू एक नहीं निकलते। मेरा मन जल रहा है, और फिर भी रो नहीं सकती।

"यह दशा क्यों है? इसका उत्तर मुझे नहीं मिलता। जब से मैंने भारतेंदु के विवाह की बातचीत सुनी है, तभी से मेरा यह हाल है। उस वक़्त से मानो किसी ने मेरे हृदय में आग लगा दी है। ज़रा भी शांति नहीं मिलती। अगर भारतेंदु का विवाह होता है, तो उसमें मेरी क्या हानि है? कुछ नहीं। उन्होंने तो मुझसे

आज से पाँच साल पहले ही संबंध-विच्छेद कर लिया है। इतने दिन हो गए, और उन्होंने मित्र के नाते भी यह न पूछा कि तुम प्रसन्न तो हो। हाय री निष्ठुरता और स्वार्थपरता!

"पुरुष कितना स्वार्थी होता है। वह अपने पशुत्व-पूर्ण आचरण से सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी का भार स्त्री पर डाल देता है, और फिर छिटककर अलग खड़ा हो जाता है। वक़्त पर अनजान का पुतला बनकर सफ़ाई देता है। जिस स्त्री का वह सर्वनाश करता है, समय पर वह उसे ज़रा नहीं पहचानता, और अगर उसे मौक़ा मिलता है, तो उसके प्राण लेने में भी संकोच नहीं करता है? पुरुष-जाति।

"मैं कितनी सुखी थी, कितनी बेफ़िक्री से अपने दिन व्यतीत कर रही थी। मेरे सामने सोने का संसार था, जिसमें आशाएँ थीं, उमंगें थीं, प्रेम था, आनंद था, और मतवालापन था। संसार का शृंगार और सोहाग अपनी-अपनी जयमाल मेरे गले में डालने को उत्सुक था। न-मालूम किस कुघड़ी मैंने भारतेंदु को देखा, और देखते ही उसकी मीठी-मीठी बातों में फँस गई। इसके बाद वह बीमार पड़े। मेरे मन में भयानक पीड़ा होने लगी। जितना वह तड़पते अपनी पीड़ा से, मैं उससे भी ज़्यादा तड़पती उनकी पीड़ा से। कुछ दिन पहले ही मैं अपनी मा खो चुकी थी। मेरे मन में भय उत्पन्न हुआ कि कहीं इन्हें भी न खो दूँ, जी-जान से उनकी सेवा करने लगी। अहर्निश ईश्वर से उनके अच्छा होने के लिये प्रार्थना करती। वह तो बेहोश रहते, और मैं एकाग्र-मन से प्रार्थना करती। भगवान् ने मेरी प्रार्थना सुन ली, और वह अच्छे हो गए।

"अच्छे होने पर उनका प्रेम मेरे प्रति गहरा रंग पकड़ने लगा। मैं तो पहले से ही उनके जाल में फँसी थी, उन्होंने मुझे ज्यों-ज्यों अपनी ओर खींचा, त्यों-त्यों उनकी ओर खिंचती चली गई। उन्होंने जो कुछ कहा, उस पर विश्वास किया। मैं तो उन्हें देवता की

भाँति पूजती और वैसी ही भक्ति करती थी। वह मेरी आशाओं के केंद्र, मेरी प्रेम-भावनाओं के मंज़िले-मक़सूद थे। मैं अपना निजत्व भूलकर उनकी हो चुकी थी। मेरी आँखों में उनके रूप का नशा हमेशा चढ़ा रहता, और मेरा मन तो उनकी प्रेम-मदिरा से डूबा रहता। उनके ज़रा-से रूठने पर मेरे हृदय को पीड़ा होने लगती, और उनकी तनिक-सी मुस्किराहट से मेरे मन की कली-कली खिल जाती। मैं उन्हें अपने से भी अधिक प्यार करती थी। मेरे प्यार की दुनिया ही अलाहिदा थी, जहाँ हम दोनो के सिवा कोई दूसरा न था। हम दोनों अपनी-अपनी प्रेम-लीला में मस्त थे। मुझे न तो इस संसार की कुछ ख़बर थी, और न किसी दूसरी दुनिया की। मेरे लिये तो यही बिहिश्त और यहीं मेरा ख़ुदा था। वह मेरा दीन-ईमान और मेरा मज़हब था।

"मैं तो उसे इतना प्यार करती थी, परंतु क्या वह भी मुझे प्यार करते थे? इस वक़्त तो यही कहूँगी कि उस निष्ठुर के हृदय में मेरे लिये ज़रा भी प्यार न था। जो कुछ प्यार वह दिखलाते थे, सिर्फ़ मेरा सर्वनाश करने के लिये। जब उसने मेरा अच्छी तरह सर्वनाश कर दिया, तो उसके एवज़ में कुछ रुपए देकर अपना पिंड छुड़ा लिया। मैं संसार से अनभिज्ञ थी, स्वार्थी पुरुष-जाति को न पहचानती थी। उसकी कपट-पूर्ण बातों को मैंने सत्य समझा, और उन पर विश्वास किया। प्रेम के क्षणिक आवेश में मैंने अपना बहुमूल्य, नहीं, अमूल्य रत्न भी उसके पैरों पर भेंट चढ़ा दिया। उस निष्ठुर, कपटी ने जो कुछ कहा, स्वीकार किया, और उसका नतीजा क्या हुआ? मेरी समस्त आशाओं का सर्वनाश, मेरी सद्भावनाओं का सर्वनाश, मेरे प्रेम का सर्वनाश, मेरी पवित्रता का सर्वनाश और मेरा सर्वनाश। हाय रे भाग्य!

"वह दिन मुझे अभी तक याद पड़ता है, जब मैं एक बच्चे की

मा होनेवाली थी। संसार की स्त्रियाँ उस दिन के लिये आशा से बाट देखा करती हैं। वही दिन मेरे सामने था, मगर मेरी आशाओं का खून हो चुका था, और मैं हत्याकारिणी बनने जा रही थी। मैंने अपने हाथ से उसका गला घोट डाला। वह मा-मा चिल्लाता रहा, लेकिन मैंने अपनी शर्म बचाने के लिये अपना कलेजा कठोर कर लिया था, मैंने कुछ न सुना, और उसकी मा-मा की आवाज़ को हमेशा के लिये बंद कर दिया! उसकी प्रतिध्वनि अभी तक सुनती हूँ, जिसे सुनकर मेरे अंग-प्रत्यंग में अनिवर्चनीय भय का तड़ित्प्रवाह दौड़ने लगता है। उसी चिल्लाहट से बचने के लिये मैं इस समुद्र में रहती हूँ, मगर वह तो हमेशा सुनाई पड़ती है।

"वह मेरा बच्चा था, भारतेंदु के प्रेम का उपहार था। मेरे प्रथम प्रेम का फल था। बड़ा नयनाभिराम था। उसे देखकर मैं क्षण-भर के लिये अपनी शर्म की बात भूल गई थी, और यह निश्चय किया था कि इसे मारूँगी नहीं। मैंने उसे अपने कलेजे से लगा लिया। अभागा, मौत की दाढ़ में दबा हुआ बालक चिल्ला उठा, और चिपट गया। मैं बेसुध हो गई, और जब होश में आई, तो उस दुष्ट दाई ने कहा कि वह मर गया है। मैं हाथ मारकर रह गई। मैं उसे अच्छी तरह प्यार भी न कर पाई थी, और उसे अपने स्वार्थ के लिये मार डाला।

"मैं उसकी हत्याकारिणी हूँ, क्योंकि मेरे ही कारण उसकी अकाल मृत्यु हुई। मैंने उसकी रक्षा नहीं की। मेरे समान पापिनी दूसरी कौन होगी। क्या यह पाप क्षमा हो सकता है? नहीं, भगवान् इसको कभी क्षमा नहीं करेंगे। तभी उस दिन से मैं परेशान हूँ, और मुझे क्षण-भर के लिये शांति नहीं मिली। और, इस जीवन में मिलेगी, यही कौन कह सकता है।

"अच्छा, भारतेंदु ने क्यों नहीं स्वीकार किया कि मैं इसका पिता

हूँ ? अगर वह स्वीकार कर लेते, तो क्या मुझे हत्यारिनी बनना पड़ता, अपने ही बच्चे का गला दबाना पड़ता ? मैं धन्य हो जाती, और उसे अपने हृदय से लगाए घूमती । आह, उसमें कितना सुख होता, कितनी शांति होती, और कितान हर्ष होता । परंतु वह कापुरुष है । उसका पुरुषत्व तो मेरे सर्वनाश के लिये ही था, और कुछ नहीं । इस हत्या का अपराधी दरअस्ल वही है । इस दुनिया में चाहे वह भले ही निरपराध होकर बच जाय, मगर ईश्वर के सामने तो उसे अपना अपराध स्वीकार करना पड़ेगा, और इसके लिये उसे दंड भी भुगतना पड़ेगा । उस निष्ठुर ने मेरा सर्वनाश किया, मैं उसे इसके लिए क्षमा कर सकती थी, परंतु उसने मेरे बच्चे का खून किया है, इसे मैं भूल नहीं सकती । मैं इसका बदला चाहती हूँ, ऐसा प्रतिशोध चाहती हूँ कि जिस आग में मैं आज पाँच वर्ष से निरंतर जल रही हूँ, इससे भी भीषण अग्नि में वह जले । क्षण-भर के लिये उसे शांति न मिले । जब वह इस प्रकार तड़पेगा, तब मालूम होगा कि उसका बच्चा किस तरह तड़प-तड़पकर, मा-मा, चिल्लाता हुआ मरा था । उस वक़्त मैं हँसूँगी, दिल खोलकर हँसूँगी ।

"अरे, यह क्या ? मैं फिर उस प्रतिहिंसाग्नि की ज्वलित धारा में बह चली, जिसकी ओर न जाने की प्रतिज्ञा कर चुकी थी । वह कभी मेरा प्रियतम था—कभी क्या, अभी तक है । उसकी मधुर स्मृति मैं अपने हृदय में अंतिम दिन तक छिपाए रहूँगी । मेरा जीवन तो उसी स्मृति पर अवलंबित है । यह सत्य है कि मैं सब कुछ खो बैठी हूँ, लेकिन उसकी स्मृति अब भी मेरे पास सुरक्षित है, उस तरह, जैसे कोई महाकृपण अपना धन छिपाए रहता है । भला, उस स्मृति को मैं किस तरह खो सकती हूँ ।

"मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं प्रतिशोध की कामना नहीं

करूँगी। प्रभु ईसा मसीह ने अपने सारे दुश्मनों को, जिन्होंने उन्हें सूली पर चढ़ाया था, क्षमा कर दिया था। प्राण निकलते-निकलते उनकी माफ़ी के लिये ही वह ईश्वर से प्रार्थना कर रहे थे। मेरे सामने भी वही आदर्श है। उनका कहना है कि अगर कोई तुम्हारे बाएँ गाल पर तमाचा लगाता है, तो तुम दाहना गाल भी उसकी ओर घुमा दो, ताकि उसे दूसरा तमाचा मारने में तकलीफ़ न हो। अपने शत्रु के अपराध क्षमा करना, और उसे दया-भाव से देखना ही धर्म है। हे प्रभो, मुझे बल दो, साहस दो, शक्ति दो कि मैं भारतेंदु के सारे अपराध भूल सकूँ, और उसे अंतःकरण से क्षमा कर दूँ; चाहे वह कभी अपने अपराध के लिये अनुतप्त न हो।

"इसमें भारतेंदु का क्या क़ुसूर है? कुछ नहीं। ऐसा तो पुरुष प्रायः किया करते हैं। उसने कोई नई बात नहीं की, केवल अपनी जाति-स्वाभावोचित काम किया है, जिसके लिये वह अकेला उत्तर-दायी नहीं हो सकता। दूसरी स्त्रियाँ चाहे ऐसे अत्याचारियों को क्षमा न करें, लेकिन मैं तो उसे क्षमा करती हूँ, और आज से पुनः प्रतिज्ञा करती हूँ कि उसके अपराधों पर दृक्पात नहीं करूँगी।

"भारतेंदु को मैं भूलने का प्रयत्न क्यों न करूँ? उसे भूल जाने में ही मेरा कल्याण है। वह एक विदेशी जाति का पुरुष है, जिसका देश आजकल मेरे देशवासियों के अधीन है। वह ग़ुलाम जाति का है, और मैं उसकी स्वामिनी हूँ। नहीं जानती, कैसे मैंने उसे प्यार किया था। प्रेम तो किया था, मगर अब उस प्रेम की स्मृति कैसे बाहर निकालकर फेंक दूँ?

"यह मैंने क्या कह डाला, वह ग़ुलाम जाति का है? फिर वही प्रतिहिंसा का भाव। ईश्वर की सृष्टि में कोई ग़ुलाम पैदा नहीं हुआ, सब स्वतंत्र हैं, सबके अधिकार बराबर हैं। स्वामीत्व का भाव

रखना ईश्वरीय धर्म के प्रति आघात करना है। यह सृष्टि समता के भाव से परिपूर्ण है, जिसका संदेश दिन-रात हमें वायु, अग्नि, पृथ्वी और जल से मिला करता है। यह नील रत्नाकर समस्त जीव-मात्र के लिये एक-सा व्योहार करता है, इसके लिये ग़ुलाम और उसका स्वामी, दोनो बराबर हैं। इसी तरह अग्नि सबके साथ एक ही तरह अपना गुण प्रकट करेगी। मैं और भारतेंदु, दोनो एक ही ईश्वर के पुत्र हैं। न वह ग़ुलाम है, और न मैं। ऐसा कलुषित भाव रखना अन्याय और ईश्वर का अपमान करना है। मैंने भूल की, जो उसे ग़ुलाम कहा। यह मेरी ईर्षा का भाव है, जिसे दमन करना चाहिए।

"भारतेंदु विवाह करता है, इसमें मुझे प्रसन्न होना चाहिए। दुखी क्यों होऊँ। मैं इतना ज़रूर सतर्क होकर देखूँगी कि वह कहीं उसे भी उसी प्रकार भ्रष्ट न कर दे, जैसे मुझे किया है। उसे विवाह करना होगा। मैं तो किसी तरह बच गई, अपनी शर्म छिपा डाली, लेकिन उस अभागिनी के लिये मुश्किल हो जायगा। अगर वह उससे विवाह न करेगा, तो मुझे कुछ उपाय करना पड़ेगा।

"भारतेंदु को मैं भूल जाऊँगी, उसकी याद कभी न करूँगी। न-मालूम क्यों मैंने सिंगापुर से उसे वह पत्र लिख दिया। उस दिन मेरे मन में बहुत पीड़ा थी। जब से उसके विवाह का समाचार सुना था, अपने मन से युद्ध कर रही थी। उस दिन प्रतिहिंसा का भाव प्रबल हो गया, और मुझे वह पत्र लिखना पड़ा। पत्र लिखकर मैंने अपने को नीचे गिरा दिया। मेरा पत्र पाकर उसने क्या समझा होगा? क्या वह मेरे पागलपन पर हँसता-हँसता प्रसन्न नहीं हुआ होगा? उफ़्! मैंने कितनी बड़ी बेवक़ूफ़ी की, जो उसे वह पत्र लिख दिया, किंतु अब क्या उपाय है?

"जीवन के दिन क्या इसी प्रकार निरुद्देश होकर बीतेंगे? मेरा कर्तव्य क्या होना चाहिए? क्या मैं विवाह के जाल में फिर फँसूँ? नहीं, यह तो असंभव है। अब पुरुष-जाति पर मेरा विश्वास नहीं रहा, और न उसे अब मैं प्यार ही कर सकती हूँ। मनुष्य-मात्र की सेवा करना ही मेरा ध्येय है। गिरे हुए को ऊपर उठाना, रोते हुओं के आँसू पोछना, दुखी को सांत्वना देना, संतप्त को सुखी करना, निराश के हृदय में आशा-प्रदीप जलाना, समता, दया, क्षमा, सौहार्द, प्रीति के भाव मनुष्य-जाति में उत्पन्न करना— बस, यही मेरे जीवन का उद्देश होगा। भगवान् मेरी सहायता करेंगे, और प्रभु ईसा मुझे मार्ग प्रदर्शित करेंगे।"

बाहर पैरों की आहट सुनाई दी और द्वार पर डॉक्टर हुसैन भाई आते हुए दिखाई दिए। अमीलिया के विचार जहाँ के तहाँ रह गए। वह उनकी ओर प्रश्न-भरी दृष्टि से देखने लगी।

डॉक्टर हुसैन भाई ने उत्सुकता से आगे बढ़ते हुए कहा—"मिस जैकब्स, आपने मेरे अनुरोध की रक्षा नहीं की, और फिर मरीज़ के पास आ गईं?"

उनके स्वर में प्रेममय तिरस्कार की मिठास थी।

अमीलिया ने शांत स्वर में कहा—"डॉक्टर साहब, मैं आपका अनुरोध नहीं रख सकी, इसका मुझे खेद है, क्योंकि मुझे अपना कर्तव्य पालन करना पड़ता है।"

डॉक्टर हुसैन भाई ने चकित होकर, उसकी ओर देखते हुए कहा—"इस मरीज़ के प्रति आपका क्या कर्तव्य हो सकता है?"

अमीलिया ने उसी भाँति उत्तर दिया—"मनुष्य के प्रति मनुष्य का क्या कर्तव्य नहीं होता? यह मरीज़ हमारी स्त्री-जाति की एक अभागिनी बहन है, इससे अधिक दृढ़ संबंध और क्या हो सकता है। मेरे लिये इतना ही यथेष्ट है कि यह पुरुष नहीं है।"

डॉक्टर हुसैन भाई ने मृदु मुस्कान-सहित कहा—"मालूम होता है, आप पुरुष-जाति-मात्र से घृणा करती हैं। ऐसा क्यों?"

अमीलिया ने कुछ मुस्किराते हुए कहा—"मैं घृणा तो किसी से नहीं करती, परंतु मनुष्य का स्वभाव होता है कि वह उसका पक्ष करे, जो उसके निकट अधिक होता है।"

डॉक्टर हुसैन भाई ने पूछा—"आख़िर इस पक्षपात का कारण क्या है?"

अमीलिया ने उत्तर दिया—"कारण तो मैं अभी स्पष्ट रूप से कह चुकी हूँ। मनुष्य स्वभावतः अपनी जाति का पक्ष लेता है।"

डॉक्टर हुसैन भाई चुप होकर कुछ सोचने लगे।

अमीलिया ने थोड़ी देर बाद कहा—"आपने क्यों तकलीफ़ की?"

डॉक्टर हुसैन भाई ने उत्तर दिया—"मैंने भी अपना कर्तव्य पालन किया है। मेरी नियुक्ति केवल इसलिये हुई है कि मैं इस मरीज़ को आराम करूँ। उसकी देख-रेख करना मेरा फ़र्ज़ है, इसलिये मुझे आना पड़ा। इसके अतिरिक्त......"

कहते-कहते वह रुक गए।

अमीलिया ने उत्सुकता से पूछा—"कहिए, इसके अतिरिक्त क्या?"

डॉक्टर हुसैन भाई ने धीरे-धीरे कहा—"इसके अतिरिक्त यह कि जब मैंने आपसे आराम करने के लिये अनुरोध किया था, तब कहा था कि मैं रात्रि में एक बार आकर मरीज़ को देख जाऊँगा। मुझे विश्वास था कि आप मेरी बात मानकर तकलीफ़ नहीं उठाएँगी, इसलिये यहाँ आकर मरीज़ को देखना अनिवार्य था। परंतु आप जब यहाँ हैं, तब अवश्य ही मेरा आना व्यर्थ हुआ, और आपको विरक्त किया।"

अमीलिया ने विस्मित स्वर में पूछा—"मैं नहीं जानती, आपने कैसे मुझे असंतुष्ट किया। जहाँ तक मुझे ख़याल है, मैंने ऐसी कोई बात नहीं कही। यदि किसी प्रकार आपको यह भाव मालूम हुआ हो, तो मैं इसके लिये क्षमा माँगती हूँ।"

डॉक्टर हुसैन भाई ने लज्जित होकर कहा—"यह आप क्या कहती हैं ? मैंने तो यों ही कह दिया था, क्योंकि आप पुरुष-जाति के प्रति इतनी असंतुष्ट मालूम होती थीं। मैं भी उसी पुरुष-जाति का एक व्यक्ति हूँ।"

यह कहकर वह हँसने लगे। अमीलिया भी हँसने लगी।

---

(१२)

पंडित मनमोहननाथ ने आदर के साथ राधा को बैठने का आदेश दिया। उसके बैठ जाने पर पूछा—"देवी, मैं तुम्हारी कहानी सुनने के लिये तैयार हूँ। विस्तार-पूर्वक कहो। मुझसे कोई भेद छिपाने की ज़रूरत नहीं। मुझसे तुम्हारे कल्याण के अतिरिक्त कोई अनिष्ट नहीं हो सकता।"

राधा ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से उनकी ओर करुण-दृष्टि से देखा, और फिर कहा—"न-जाने क्यों आपको देखकर एक प्रकार की भक्ति हृदय में जाग उठी है। मैं आपसे कुछ नहीं छिपाऊँगी, जो कुछ मुझे मालूम है, वह कहती हूँ।"

राधा कहने लगी—"मैं जन्म से हिंदू हूँ। पवित्र वैवाहिक बंधन में बँधे हुए हिंदू-माता-पिता की संतान हूँ। मेरे माता-पिता भारत के रहनेवाले थे, और काशी के पास किसी गाँव में रहते थे। मेरे पिता ने मेरी माता को त्याग दिया था, किस कारण, मालूम नहीं, तब वह अपने दूर के भाई के यहाँ रहने के लिये गईं। परंतु उन्हें वहाँ भी स्थान न मिला। उनके भाई ने एक दिन घर के बाहर निकाल दिया। उसी रात्रि को डीपोवालों के फेर में पड़ गईं, और पहले तो फुसलाकर, पीछे ज़बरदस्ती फ़िज़ी भेज दी गईं। जिस वक्त वह फ़िज़ी में आईं, मैं गर्भ में थी, और थोड़े दिन बाद ही मेरा जन्म हुआ। उस वक्त मेरी मा उस अँगरेज़ व्यापारी के यहाँ थीं, जिसने उन्हें दस वर्ष के लिये ख़रीद लिया था।

"उस अँगरेज़ व्यापारी का नाम था जॉर्ज टॉमस। वह सहृदय और दयालु-प्रकृति का मनुष्य था। उसके परिवार के लोग भी

कुछ ज़्यादा ख़राब न थे। दस वर्ष की लिखा-पढ़ी ख़त्म होने के बाद भी हम लोग उसके यहाँ रहते रहे, और उसके खेतों पर काम करते रहे। जॉर्ज टॉमस ने मेरे पढ़ने-लिखने की सुविधा कर दी थी। जब मैं पंद्रह वर्ष की थी, तब टॉमस साहब काल-कवलित हो गए, और उनके लड़के जायदाद बेचकर दक्षिणी आस्ट्रेलिया में जाकर आबाद हो गए। मेरी मा का सहारा टूट गया, और साथ ही हमारी मुसीबतों के दिन शुरू हो गए।

"मेरी मा इस वक़्त निहायत कमज़ोर हो गई थीं, और मेहनत-मज़दूरी के लायक़ न रह गई थीं। उनकी ज़िंदगी की कोई उम्मेद न रह गई थी। इधर मेरी भी फ़िक्र उन्हें थी। हम लोग बड़ी मुसीबतों से दिन काट रहे थे। हमारे देश-भाई हमारा साथ देने या मदद करने के लिये तैयार न थे। मुझे 'रखैल' रखने के लिये तो लोग तैयार थे, मगर विवाह करने के लिये कोई तैयार न होते थे। आख़िर मुसीबतों के आगे हमें झुकना पड़ा, और इज़्ज़त-आबरू इस पेट के लिये बेचनी पड़ी। मैं एक चीन-प्रवासी के यहाँ नौकर रख ली गई, और किसी तरह, लसटम-पसटम मेरे दिन व्यतीत होने लगे। मेरी मा भी मेरे साथ रहती थीं।

थोड़े दिनों में उस चीन-प्रवासी का मन मुझसे ऊब गया, और हम लोग भी उससे कुछ परेशान हो गए थे, क्योंकि वह ख़र्च में हाथ सिकोड़ने लगा था, यहाँ तक कि हमें खाने-पीने की तकलीफ़ होती थी। कपड़ों वग़ैरा के संबंध में कुछ कहना फ़िज़ूल है। नतीजा यह हुआ कि एक दिन मेरी मा और उससे कहा-सुनी हो गई। दूसरे दिन से मैं एक जापानी के पास रहने लगी, जिसकी शत्रुता उस चीनी के साथ थी। इसी जापानी को लेकर हमारा वाद-विवाद प्रारंभ हुआ था, क्योंकि उस चीनी को यह शक था कि उसके साथ मेरा गुप्त संबंध है। किसी हद तक यह बात ठीक

थी, क्योंकि वह अक्सर हमें भर पेट खाने को भेज दिया करता, और मेरी मा के पास यह कहलाता रहता था कि हम लोग उसका आश्रय ले लें। चीनी को यह बात मालूम हो गई थी, और वह अपने दुश्मन को अपने घर में प्रवेश कराने के लिये तैयार न था। हमें भी बड़ी मजबूरी से ऐसा घृणित काम करना पड़ता था।

"जापानी भी चीनी से किसी तरह अच्छा न था। वह भी ऊधो का भाई माधो निकला। जब तक हम लोग चीनी के आश्रय में रहती थीं, तभी तक उसे हमारी परवा थी, क्योंकि वह अपने शत्रु का अपमान करता था। जब हम लोग उसके पास चली गईं, तो उसकी पूरी विजय हो गई, और विजय होने से हमारी आवश्यकता कम हो गई। बहुत जल्दी हमारे साथ उसका व्यवहार घृणित हो गया। मेरी मा दूसरे आश्रय के अनुसंधान में लग गईं। इस बार हमारी इच्छा थी कि उस नगर को छोड़कर दूसरी जगह चली जायँ, वहाँ किसी एक के साथ रहकर जीवन व्यतीत करें। चीनी और जापानी के झगड़े से हमारी बदनामी बहुत हो गई थी, और वहाँ रहना प्रथम तो आपत्ति से खाली न था, दूसरे कोई आश्रय देनेवाला भी न मिलता था, क्योंकि जो कोई हमें आश्रय देता, वही उन दोनो का विराग-भाजन होता। हम लोग वह गाँव छोड़कर शहर में रहने के लिये चले आए। अब हमारे पास कुछ पूँजी थी, जिससे कई महीने सुख से कट सकते थे।

"सूवा-नगर में आकर हम एक हिंदुस्थानी मुहल्ले में रहने लगे। मेरी मा मेरे विवाह की बातचीत करने लगीं। एक जगह पक्की भी हो गई, लेकिन उनके यहाँ उसी गाँव का कोई आदमी आया था, जिसने मुझे पहचान लिया। शादी का सुख-स्वप्न उसी दिन भंग हो गया। वहाँ रहना भी मुश्किल हो गया। हम लोगों ने वह शहर उसी रात को छोड़ दिया।

"इसके बाद हम लोग दूसरे शहर में चले गए। यह जगह बड़ी थी, और सूवा से बहुत दूर थी, जहाँ किसी जान-पहचान के मिलने की बहुत कम संभावना थी। यहाँ हमारा परिचय एक हिंदुस्थानी से हुआ, जो मुझे अपनी संरक्षता में रखने के लिये तैयार था। हम लोग विवाह की आशा छोड़ चुकी थीं, इससे उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। वह देखने-सुनने में अच्छा था, और उसके पास काफ़ी धन भी था। वह इसी कंपनी में नौकर था, जो हिंदुस्थान से स्त्रियों और पुरुषों को लाकर फ़िजी में बेचती थी। अब हमारे दिन बड़े सुख से व्यतीत होने लगे। मेरी मा उसके घर की मालकिन होकर रहती थीं, और सारा रुपया-पैसा हमरे हाथ में रहता। वह हमारा पूर्ण विश्वास करता था, और मैं भी उसके साथ सच्ची मुहब्बत करने लगी थी।

"हमारे भाग्य में वह सुख-भोग नहीं लिखा था। एक दिन अकस्मात् वह बीमार पड़ा। प्लेग का प्रकोप शहर में था। चारो ओर लोग मर रहे थे। शहर में त्राहि-त्राहि मची थी। हम लोग कोई दवा वग़ैरा भी ठीक से नहीं कर पाए थे कि वह मर गया, और अपनी संपत्ति का मालिक हमें बना गया। थोड़े दिनों में हम लोग उसे भूल गईं, और मेरी मा मेरे लिये कोई दूसरा व्यक्ति ढूँढने लगीं।

"किंतु मेरा जीवन मेरे लिये भार हो गया था। मैं इस घृणित जीवन से ऊब उठी थी, और अब स्वतंत्रता-पूर्वक अपनी मज़दूरी के सहारे दिन व्यतीत करना चाहती थी। अब हमारे पास काफ़ी धन था, जिससे किसी का आश्रय लेने की आवश्यकता न थी। इसके अतिरिक्त मेरा प्रवेश उसी कंपनी में हो गया। मैं अपने आश्रयदाता की जगह नौकर रख ली गई। इस काम के लिये मुझे शिक्षा दी जाने लगी। यह मेरे लिये एक नया मार्ग था, इससे दत्तचित्त होकर सीखने लगी।

"इस स्त्री बेचनेवाली कंपनी का संचालक एक अधगोरा ईसाई था, जिसका नाम एडमंड हिक्स था। इसके पास उसका निजी जहाज़ था, और वह उसका कप्तान था। इसका बड़ा दफ़्तर तो फ़िज़ी में था, लेकिन इसकी शाखाएँ भारत के प्रसिद्ध नगर और दूसरे देशों में थीं। एडमंड हिक्स चतुर व्यक्ति था, जिसने अपना व्यापारिक संबंध अन्य-अन्य कंपनियों से स्थापित कर रक्खा था। अक्सर ऐसा होता कि ये कंपनियाँ एक देश के ख़रीदे हुए ग़ुलाम आपस में बदल लेतीं। इस तरह पुलिस के आदमी धोखे में डाल दिए जाते, और हम लोग उनके क़ानून पर हँसा करते।

"मुझे भी कई बार एक जहाज़ से सदल-बल दूसरे जहाज़ में जाना पड़ा है। तरह-तरह के कौशल से पुलिस के शिकंजों से निकलना पड़ा है। पहले तो मैं बहुत घबराती थी, मगर बाद में हर तरह से होशियार हो गई। पुलिस की आँखों के नीचे से औरतों को उड़ा लाना मैं ख़ूब जान गई थी। भले घरों की विधवा बहू-बेटियों को नाना प्रकार के प्रलोभन देकर, ऐश और विषय-वासना का मनोरम चित्र खींचकर भगा लाती, और फिर फ़िज़ी या आस-पास के देशों में ले जाकर बेच देती थी। मुझे इस काम में विशेष आनंद मिलता था। हिंदू-जाति के प्रति मेरे मन में विद्वेष की आग जल रही थी। मुझे अपनी मा के अपमान की बात हमेशा याद रहती। उनके ऊपर किए गए अत्याचारों का प्रतिशोध लेने में मैं ज़रा भी संकोच न करती थी। मैंने अब तक एक हज़ार से भी ज़्यादा हिंदू-स्त्रियों को भगाकर, उनका जीवन अपना-जैसा घृणित और नारकीय बना दिया है।

"आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि हिंदू-समाज की विधवाओं को वश करने में मुझे कभी मुश्किलात से सामना नहीं करना पड़ा। दो-एक बार के प्रयत्न से ही मुझे सफलता हो जाती। जहाँ

किसी मंदिर अथवा गंगा-स्नान के बहाने से उन्हें घर से निकाल पातीं कि वे डीपोवालों के हाथ में आ जातीं, और उनका हमारे व्यूह से निकलना बहुत मुश्किल था—नहीं, असंभव था। मेरी सफलता से उस कंपनी पर मेरी धाक जम गई थी। इसके साथ ही मुझे धन की भी काफ़ी प्राप्ति हुई थी। ज्यों-ज्यों मैं सफल होती, त्यों-त्यों मेरी उमंग बढ़ती, और द्विगुणित उत्साह से मैं काम करती।

"हम लोगों का प्रधान केंद्र कानपुर नगर था। कई मुहल्लों में हमारे मकान थे, और हम लोग हमेशा एक मकान में नहीं रहतीं। दो-एक दिन एक मकान में रहकर दूसरे मकान में चली जाती थीं। इससे पुलिस को छकाने में बड़ी सहायता मिलती। हम लोग मंदिर वग़ैरा में चक्कर लगाया करतीं, और घरों में भी अपना आना-जाना शुरू कर लेतीं। थोड़े दिनों के आने-जाने से हम अपना विश्वास जमा लेतीं, और उन घरों की बहू-बेटियों से विशेषतया मेल-जोल पैदा कर लेतीं, उन्हें अपने अड्डे में फँसाकर भी उन घरों में आना-जाना बंद नहीं करती थीं, और उनके साथ हम भी रोती थीं। हमेशा हम लोग दूध की तरह पवित्र बनी रहतीं।

"हिंदू-समाज का खोखलापन मैंने अंदर घुसकर देखा है। मैं नहीं जानती, यह समाज अब तक कैसे जीवित है। जितना अंधकार, जितना अत्याचार, जितना पाप इस समाज में देखा है, जितनी लांछना, तिरस्कार स्त्री-जाति का मैंने इस हिंदू-समाज में पाया है, उसका शतांश भी अन्यत्र नहीं देखा। हालाँकि फ़िजी में हम लोगों की गणना ग़ुलामों में है, मगर वहाँ से तो हमारी जाति की दशा कहीं अच्छी है। वहाँ हमारा मूल्य तो है। यहाँ, भारत में, इनका मूल्य पशुओं से भी कम है। यह सब देखकर मेरा विश्वास इस समाज से दूर हो गया है, और मैं इससे घृणा करती हूँ।

"अभी एक हफ़्ता पहले हम लोगों का दल फ़िजी वापस आ

रहा था। भिन्न-भिन्न केंद्रों से काफ़ी तादाद में स्त्रियों के इकट्ठा होने की ख़बर आ गई थी। उसी दिन हमारे दल के एक आदमी के साथ यह माधवी आई थी। यह अकेली कानपुर शहर के पास एक गाँव के स्टेशन पर मिली थी। हमारे दल के आदमी के साथ दो स्त्रियाँ और थीं, जिन्हें वह भगाकर ला रहा था। रास्ते में माधवी को देखकर, उसने उसे भी सब्ज़बाग़ दिखलाकर अपने साथ कर लिया, और कानपुर शहर में हमारे अड्डे में ले आया। मैं पहले कह चुकी हूँ कि एक बार जो हमारे अड्डे में प्रवेश कर गया, वह बग़ैर हमारी आज्ञा के बाहर नहीं निकल सकता था। माधवी उसमें पड़कर छटपटाने लगी। उसकी दशा देखकर मुझे बड़ी दया आई, वैसा करुणा का भाव मेरे मन में कभी नहीं उदय हुआ था। वह प्रथम अवसर था, जब मेरे मन में मनुष्यता का उदय हुआ था। मैंने मन-ही-मन उसकी रक्षा करने का संकल्प कर लिया।

"हमारे दलवालों को अगर मनुष्य कहा जाय, तो अतिशयोक्ति होगी। वे पशु से भी हीन थे। उनका धर्म था पापाचार, नशेबाज़ी और अविराम व्यभिचार। हमारे अड्डे नारकीय कुंड से कम न थे। यदि व्यभिचार का नग्न रूप देखना हो, तो वह हमारे अड्डों पर ही देखने को मिलेगा। जो स्त्री पहले अड्डे में दाख़िल होती, उसके नारी-धर्म की धज्जी-धज्जी उड़ा दी जाती, और इस पाप के नग्न नृत्य में सब अड्डेवाले शामिल रहते। गाँजा, शराब, अफ़ीम खाकर, बेहोश होकर उन अबलाओं पर अत्याचार करते, इतना कि उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता। वे भले घर की बहू-बेटियाँ उस अत्याचार के आगे सिर नत कर देतीं, और बचने का कोई उपाय न रहने पर सब सहन करतीं। उन्हें इतनी यंत्रणा दी जाती कि उससे उद्धार होने के लिये वे जीवित नरक-कुंड में गिरना कहीं श्रेयस्कर समझतीं। उन्हें वशीभूत करने का हमारे पास यही अमोघ अस्त्र

था। वे हमारी शर्तें सिर झुकाकर बिना किसी आपत्ति के मान लेती थीं, और गौ की तरह सीधी हो जाती थीं। यदि कोई स्त्री सुंदरी हुई, तो उसके सौंदर्य का अभिमान दूने उत्साह से नष्ट किया जाता था। मैं भी वह दृश्य देखकर काँप उठती थी, और इससे अधिक वर्णन नहीं कर सकती।

"माधवी को देखकर उस अड्डे के सभी आदमी उसका सतीत्व नष्ट करने के लिये आमादा हो गए। मैंने उसे बचाने का पूर्ण संकल्प कर लिया था, और उस दल के मुखिया से बातचीत करनेवाली थी। मैंने उसे बुलाया भी, और जब वह हमारे सामने आया, तो आते ही उसने यह समाचार कहा कि कलकत्ते से तार आया है, और फ़ौरन् सबको बुलाया है। यह समाचार माधवी के लिये बड़ा शुभ था। मैंने सोचा, चलो, कोई झगड़ा नहीं करना पड़ा, और यों ही छुटकारा हो गया।

"हमारे दल का यह नियम है कि इसमें कोई भी सदर दफ़्तर के हुक्म की अवहेलना नहीं कर सकता। अवहेलना करने की सज़ा है मृत्यु-दंड। हम बड़ी आसानी से किसी भी मनुष्य को मार सकते हैं। हमारा जाल भी एक प्रकार से संसारव्यापी है, इसलिये कोई धोखा देनेवाला मनुष्य हमसे बचकर भाग नहीं सकता।

"कलकत्ते से हुक्म आने पर उसी दिन हमें वहाँ जाना पड़ा। रास्ते में कोई अत्याचार न हो, इसलिये माधवी की रक्षा का भार मैंने लिया। उस दल के कई लोगों की आँख उस पर थी, मगर मेरे होने से किसी को साहस न पड़ता था कि उसके साथ कोई अपमान-जनक बर्ताव करे। हम लोग दूसरे दिन कलकत्ते पहुँच गए, और उसी दिन तीसरे पहर फ़िजी के लिये रवाना हो गए।

"मेरे आने की कोई आवश्यकता तो न थी, केवल माधवी की रक्षा के लिये आना पड़ा। कप्तान एडमंड हिक्स और संचालक ने

मुझे ले जाने से इनकार किया, क्योंकि मेरे जाने से कंपनी की बहुत क्षति होती थी, परंतु मैंने माधवी का साथ छोड़ना स्वीकार नहीं किया। एडमंड हिक्स भी परले सिरे का व्यभिचारी था। माधवी को देखकर वह उस पर मुग्ध हो गया, और उसे राज़ी करने के लिये एक स्त्री को नियुक्त किया, जिसका नाम गुलाब था। मैं कोई विरोध प्रदर्शित नहीं कर सकती थी, किंतु कौशल से उसकी रक्षा करना चाहती थी।

"शाम हो गई थी। जहाज़ धीरे-धीरे बंगाल की खाड़ी में जा रहा था कि एक बड़ा भीषण तूफ़ान आता हुआ मालूम पड़ा। हमारा जहाज़ उसमें पड़कर डगमगाने लगा। मैं कार्य-वश ज़रा नीचे गई कि गुलाब ने मौक़ा पाकर माधवी को कप्तान के कमरे में पहुँचा दिया। जहाँ तक मैं समझती हूँ, माधवी का कुछ अनिष्ट नहीं हुआ। तूफ़ान का वेग बढ़ रहा था, और ऐसा मालूम होता था कि प्रलय-काल आ गया है। उसी तूफ़ान में माधवी गिर पड़ी, या कप्तान से और उससे हाथापाई हुई, जिससे उसके सिर में चोट लगी, और बेहोश हो गई। जहाज़ एक चट्टान से टकरा गया, और दूसरे क्षण डूबने लगा। उसमें क़रीब दो सौ आदमी थे, और सब अपनी जान बचाने के लिये उत्सुक थे। वे सब नावों में बैठकर भागने लगे। उस जहाज़ पर हम सिर्फ़ पाँच आदमी रह गए। मैं, माधवी, कप्तान एडमंड हिक्स और दो नाविक। एक छोटी-सी नाव पर हम पाँचो व्यक्ति सवार हुए। माधवी उस समय भी बेहोश थी। कप्तान उसे अपने कमरे से बाहर निकालकर लाया था। हम लोग तूफ़ान के थपेड़ों को सहन करते किसी तरह रवाना हुए।

"रास्ते में उन दो मल्लाहों और कप्तान हिक्स में झगड़ा हो गया। वे लोग उससे कहते थे, आज से यह पाप-व्यवसाय त्याग दो, और आइंदा के लिये शपथ लो कि हम ऐसा पाप-कर्म न करेंगे।

एडमंड हिक्स शराब में मस्त था। वह कब उनकी बात सुनता। इसी बात के लिये उनमें झगड़ा हो गया, और उन दोनो ने उसे उठाकर समुद्र में फेक दिया। मैं उनकी यह लीला देखकर भय से बेहोश हो गई।

"जब होश में आई, तब मैंने देखा, तूफ़ान तो शांत हो गया है, और माधवी मेरे बग़ल में लेटी है, उसे होश नहीं आया था। जहाज़ के उन दोनो नाविकों का कहीं पता नहीं था, जिन्होंने एडमंड हिक्स की बलि उस तूफ़ान पर चढ़ाई थी। शायद वे भी आपस में लड़कर डूब गए, या और कोई घटना घटी, मैं नहीं कह सकती। मैं सजग होकर ईश्वर से प्रार्थना करने लगी, और उसी दिन प्रतिज्ञा की कि अब से इस पाप-व्यवसाय को न करूँगी।

"मैंने माधवी को होश में लाने की बहुत कोशिश की, किंतु उसे किसी तरह होश नहीं आया। मैंने बड़ी बेचैनी से वह रात काटी। मैं इतनी भयभीत कभी नहीं हुई थी। सुबह होते ही मुझे बड़ी ज़ोर की प्यास लगी। हमारे पास पीने का पानी नहीं था। मैं प्यास से तड़पने लगी। दोपहर तक यही यंत्रणा सहन करती रही। जब ईश्वर की कृपा या माधवी के भाग्य से आपके जहाज़ के दर्शन हुए, तो कुछ आशा बँधी। इसके आगे का हाल तो आपको मालूम ही है।"

राधा ने अपनी कहानी समाप्त कर पंडित मनमोहननाथ की ओर देखा। उनके मुख का भाव देखकर वह सहम गई। घृणा, क्रोध के भाव से उनका मुख विकृत हो रहा था। उनके ओष्ठ फड़क रहे थे, और उनकी आँखों से शोले निकल रहे थे। राधा भयभीत होकर दूसरी ओर देखने लगी।

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"मैंने सब सुना। राधा, वास्तव में हिंदू-समाज की जो दुर्दशा न हो, वह थोड़ी है। तुमने भी उसे नष्ट करने में सहायता दी है, इसका मुझे रंज है। परंतु मैं तुम से

संतुष्ट और प्रसन्न हूँ कि तुमने निष्कपट हृदय से अपना सब हाल कहा है। यही तुम्हारे सुधार का लक्षण है। तुमने इस पाप-व्यवसाय को छोड़ देने की प्रतिज्ञा की है। इससे मुझे हार्दिक संतोष हुआ है। तुम्हारी कहानी सुनकर मेरी आँखें खुल गईं। मैं इस ग़ुलामी-प्रथा को समूल नष्ट करूँगा, और तुम इसमें मेरी सहायता कर सकती हो, क्योंकि तुम इस दल के गुप्त स्थानों से भली भाँति परिचित हो। अब तुम जाओ, मैं इस समस्या पर कुछ सोचना चाहता हूँ। अगर तुम अपने पापों का प्रायश्चित्त करना चाहती हो, तो माधवी की सेवा करो। तुमने जिस प्रकार उसकी रक्षा की है, उससे मुझे विश्वास होता है कि तुम्हारे हृदय की मानवोचित सद्भावनाएँ संपूर्णतया नष्ट नहीं हुईं। समय और अवसर मिलने पर वे पुनः प्रस्फुटित होकर तुम्हारा जीवन मंगलमय बना सकती हैं। तुम्हें अपने जीवन से घृणा न करनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य परिस्थितियों का दास होता है। जो कुछ तुम्हारे मन में ग्लानि हो, उसे निकाल दो, और निष्कपट हृदय से उस जाति का भला करो, जिसे तुमने इस प्रकार नष्ट किया है। मुझसे तुम सब प्रकार की सहायता ले सकती हो। मैं तुमसे सिर्फ़ यह चाहता हूँ कि तुम उस मार्ग में अब भूलकर न जाना, जहाँ से इस समय आ रही हो। बस, जाओ, ईश्वर तुम्हारा कल्याण करें।"

वह अधिक न कह सके। आवेग से उनका कंठ रुद्ध हो गया। वह कैबिन में टहलने लगे।

राधा उनकी ओर हैरत से देखती हुई कमरे के बाहर हो गई। कमरे के बाहर निकलते-निकलते उसने अपने मन से पूछा—"यह कौन है, देवता या मनुष्य?" मन ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसकी बेवक़ूफ़ी पर वह हँसने लगा।

(१३)

पंडित मनमोहननाथ को चिंतित देखकर स्वामी गिरिजानंद ने पूछा—"आज आप बहुत उदास हैं, पंडितजी। क्या कारण है?"

उन्होंने हँसने की चेष्टा करते हुए कहा—"हिंदू-समाज का भविष्य सोचकर मैं चिंतित हूँ। मैं देख रहा हूँ, हमारा समाज, जिस पर हमें नाज़ है, धीरे-धीरे रसातल की ओर जा रहा है। यदि यह अपना पुरानापन न छोड़ेगा, तो इसका अंत ऐसा होगा, जैसे रावण के परिवार का हुआ था।"

स्वामी गिरिजानंद ने हँसकर कहा—"समय मनुष्य का सबसे बड़ा शिक्षक है, वह आप करा लेगा। समय ने हमें और आपको पैदा किया है। उसे जैसी आवश्यकता होती है, वैसा ही मनुष्य वह पैदा कर लेता है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"यह सत्य है कि समय मनुष्य का गुरु है। वही समय हमसे बदलने के लिये तक़ाज़ा कर रहा है। आज मैंने राधा की कहानी सुनी। सुनकर रोष और करुणा दोनो, यद्यपि विरोधी भाव हैं, उत्पन्न हुए हैं। हमारे समाज की बहू-बेटियाँ किस प्रकार ग़ुलामों के बाज़ार में बेची जा रही हैं, सुन-कर कलेजा मुँह को आता है। उन पर कैसे-कैसे भीषण अत्याचार हो रहे हैं, यह सुनकर आँख खुलती है। यह सृष्टि ईश्वर की रचना का मनोरम रूप है, जिसमें सबके अधिकार बराबर हैं; किंतु हम आपस में एक दूसरे पर कितना अत्याचार करते हैं, इसकी गणना कौन करे। मनुष्य मनुष्य को खाए जा रहा है। सबल निर्बल को दबा लेता है, उसे मसलकर फेक देता है, एक घर को

उजाड़कर उस पर अपना घर बनाता है। स्त्री और पुरुष, दोनों ईश्वर के दो रूप हैं—किंतु देखिए, एक, जो सबल है, दूसरे पर, जो निर्बल है, कैसे रोमांचकारी अत्याचार करता है। हम साम्यवाद की ओर दौड़ते हैं, किंतु सबसे पहले हमें अपने घर में साम्यभाव व्यवहृत करना होगा। जब घर में साम्यवाद सफल होगा, तब बाहर का विराट् साम्यवाद सफल हो सकता है।"

स्वामी गिरिजानंद ने गंभीरता से कहा—"यह सत्य है। पहले सामाजिक और घरेलू साम्यवाद की समस्या हल हो जाय, तो सामूहिक या पूँजी के साम्यवाद के सफल होने में कुछ देर न लगेगी। आपने राधा की कहानी सुनते समय मुझे क्यों नहीं याद किया ?"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"आप उस समय आराम कर रहे थे, इसलिये तकलीफ़ नहीं दी। उसकी जीवन-कहानी एक परिस्थितियों से लाचार स्त्री का हृदय-विदारक वृत्तांत है।"

स्वामी गिरिजानंद ने दुख के साथ कहा—"मैं भी सुनने के लिये उत्कंठित था। ख़ैर, आप ही उसे संक्षेप में कह दीजिए।"

पंडित मनमोहननाथ ने संक्षेप में राधा का हाल कहकर कहा—"सुन लिया आपने अपने समाज की स्त्रियों का पतन, पुरुषों का पतन और समाज के आचार्यों का आँखें बंद किए पीनक में मस्त अपने पुराने गौरव का विक्षिप्त-प्रलाप ?"

स्वामी गिरिजानंद ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह मौन होकर सोचने लगे।

पंडित मनमोहननाथ ने कटुता से तीव्र स्वर में कहा—"कहिए स्वामीजी, क्या आप मेरी बात पर विश्वास नहीं करते ?"

स्वामीजी ने लज्जित स्वर में कहा—"विश्वास करता हूँ, मैं स्वयं जानता हूँ कि ऐसे अत्याचार पुरुष-जाति किया करती है।

पंडितजी, मैं आपके सामने भगवा वस्त्र पहने स्वामी बना बैठा हूँ, लेकिन मैं भी वास्तव में बड़ा पापी हूँ। विदेश में जाकर मैंने आर्य-संस्कृति और आर्य-सिद्धांतों की विजय-पताका फहराई है, किंतु स्वयं नारकीय कीट से भी घृण्य हूँ। स्त्री-जाति पर मैंने भी अत्याचार किया है, उसी के प्रतिफल से मैं आज तक सुखी नहीं हो सका—एक दिन भी शांति-लाभ नहीं कर सका। आपके कथन पर विश्वास करता हूँ, और स्वीकार करता हूँ कि पवित्रता के नाम पर हिंदू-समाज ने स्त्रियों पर बर्बरता-पूर्ण, अमानुषिक अत्याचार किए हैं, और इन देवियों ने सबको मौन होकर सहा है, एक आह तक नहीं निकाली है।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"गुज़श्त, गुज़श्त। किंतु अब हमें सचेत होना चाहिए। मनुष्य जब अपने कर्म पर पश्चात्ताप करता है, तब सुधार के प्रति उसका प्रथम प्रयास शुरू होता है। अपनी कमज़ोरी को महसूस करना मनुष्यत्व है। आपने जो कुछ अपने पूर्व-जीवन में अत्याचार किया है, उसे आप तभी मिटा सकते हैं, जब हिंदू-जाति के प्रत्येक घर में इस ईश्वरीय साम्य का प्रचार करें, और समाज से उनका अधिकार उन्हें दिला दें।"

स्वामी गिरिजानंद ने दृढ़ता से कहा—"अब मेरा यही उद्देश होगा। धार्मिक संकीर्णता छोड़कर ईश्वरीय साम्य का प्रचार करूँगा।"

पंडित मनमोहननाथ ने संतुष्ट होते हुए कहा—"स्वामीजी, आप प्रचार करें, और मैं उसका क्रियात्मक उदाहरण संसार के सामने रक्खूँ। मैंने अपनी सारी संपत्ति का लेखा कर लिया है। जितनी संपत्ति मेरे पास है, उससे मैं एक छोटा-सा साम्यवाद का आदर्श संसार के सामने रख सकता हूँ। मैं भिन्न-भिन्न जाति, देश के मनुष्यों की एक ऐसी संस्था निर्माण करना चाहता हूँ, जिसमें सबके

अधिकार बराबर हों, उनमें कोई द्वेष न हो, वे सब व्यक्तित्व से विलग होते हुए भी सामूहिक रूप में एक हों।"

स्वामी गिरिजानंद ने प्रशंसा-पूर्ण स्वर में कहा—"मैं उससे पूर्ण सहयोग करूँगा।"

पंडित मनमोहननाथ कहने लगे—"यह संस्था मैं अपनी खानों के समीप ही स्थापित करना चाहता हूँ। मेरी ज़्यादा खानें दक्षिण-अमेरिका में चाइल और आरजेंटाइना में हैं, उन्हीं के समीप कहीं स्थान निर्दिष्ट होगा। वहाँ समुद्र के निकट कई मील जगह मेरी है, जिसका वहाँ के क़ानून-अनुसार मैं पूर्ण स्वत्वाधिकारी हूँ। वह स्थान पूर्वीय और पश्चिमीय सभ्यता की पहुँच से बहुत दूर है, जहाँ जल-वायु प्रचुरता से प्राप्य है। इसकी कार्य-प्रणाली तो मैं बहुत दिनों से सोच रहा हूँ; परंतु अभी तक ठीक से बनी नहीं। आप भी उसे सुनकर अपना मंतव्य प्रकट कीजिएगा।"

इसी समय राधा ने सवेग प्रवेश कर कहा—"माधवी होश में आ गई!"

स्वामी गिरिजानंद ने राधा की ओर करुण दृष्टि से देखा। उसे देखकर उनके हृदय में एक कसक होने लगी।

पंडित मनमोहननाथ ने सवेग कमरे के बाहर निकलते हुए कहा—"आइए, स्वामीजी, अत्याचारों से पीड़ित एक स्त्री का पुनर्जीवन देखिए।" यह कहकर वह बाहर चले गए, और कुछ सोचते हुए स्वामी गिरिजानंद भी चले गए।

केवल राधा क्षण-भर तक उनकी ओर देखती रही, और वह भी उनके पीछे-पीछे चली गई।

तृतीय खंड

(९)

डॉक्टर नीलकंठ ने सहज स्नेह-स्वर में पूछा—"आभा, आज कई दिनों से मैं भारतेंदु को नहीं देखता। उसकी कहीं तबीयत तो नहीं ख़राब गई ?"

आभा टाइपराइटर पर बैठी हुई एक पुस्तक की पांडुलिपि छाप रही थी। प्रश्न सुनकर उसके कपोल रक्ताभ हो गए। एक प्रकार का छिपा हुआ संकोच उसे पराजित करने का प्रयत्न करने लगा। आभा कोई उत्तर न दे सकी। डॉक्टर नीलकंठ उसके मौन रहने से प्रसन्न हुए।

उन्होंने पुनः प्रश्न किया—"इधर क्या तुम भी उससे नहीं मिलीं ?"

आभा ने सिर हिलाकर उत्तर दिया—"नहीं।"

उसका उत्तर सुनकर वह सोच में पड़ गए।

उन्होंने मोटर लाने के लिये आदेश दिया, और कपड़े पहनने लगे।

आभा ने टाइपराइटर से उठते हुए कहा—"आप कहीं जाने का कष्ट न करें।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"क्यों, क्या बात है ? भारतेंदु सकुशल हैं ?"

आभा ने नत-शिर होकर उत्तर दिया—"जी हाँ, शरीर से तो सकुशल हैं। कल मोटर पर जाते देखा था।"

डॉक्टर नीलकंठ की चिंता दूर हुई। उन्होंने कोट उतार दिया। आभा धीरे-धीरे कमरे के बाहर चली गई।

डॉक्टर नीलकंठ सोचने लगे—"अब जब मैं आभा को देखता हूँ, तो मुझे उसकी मा की याद अपने आप हो आती है। न-मालूम उसकी आत्मा कहाँ भ्रमण कर रही होगी। क्या उसको याद होगा कि कोई उसके लिये संतप्त होकर अभी तक आँसू बहाया करता है। क्या उसको अपनी नन्ही-सी 'रानी' की याद है। नहीं। आज उसको हम लोगों से बिछुड़े हुए सोलह वर्ष से भी अधिक हो गए। अगर उसने कहीं जन्म लिया होगा, तो उसका एक नया ही संसार होगा, एक नया जीवन-स्रोत होगा, प्रेम-बंधनों की नई ज़ंजीरें होंगी, कल्पनाओं की नई उड़ान होगी, सोहाग, उत्साह, हर्ष, शृंगार की नूतन पुनरावृत्ति होगी; जहाँ अतीत की स्मृतियाँ न होंगी, अतीत के संबंध का ज्ञान न होगा। उसे क्या ख़बर होगी कि कोई उसके देखने, मिलने के लिये उतना ही लालायित है, जितना वह पहले—जीवन के प्रथम परिच्छेद में—रहता था। उसे क्या मालूम है कि अभी तक कोई उसके आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। क्या उसको अपने मरण-काल की प्रतिज्ञा स्मरण होगी?

"पुनर्जन्म पूर्वजन्म का विस्तार और उसका परिशिष्ट है। जन्म और मरण एक विस्तृत जीवन के भिन्न-भिन्न रूप के विस्तार हैं, तब उनमें यह पार्थक्य क्यों है? एक-एक कड़ी जब तक अलग रहती है, तब तक हम उसे ज़ंजीर नहीं कहते। उन कड़ियों के जुड़ जाने से ज़ंजीर अपना असली रूप धारण करती है। इसी प्रकार जब जीवन के भिन्न-भिन्न रूप कड़ियों की तरह जोड़ दिए जाते हैं, तो वे एक ज़ंजीर में बँधकर अपना विस्तृत रूप धारण करते हैं। इस ज़ंजीर का ज्ञान उस समय तक नहीं होता, जब तक गत जीवनों की स्मृति नहीं हो जाती। परंतु मनुष्य को अपने पूर्व-जीवन की याद तो नहीं रहती।

"पूर्वजन्म की स्मृति अगर रहती, तो संसार एक अविराम कलह

और अशांति का घर हो जाता। किसी तरह के झगड़ों का अंत कहीं न होता। माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-पुत्र के संबंध के तार बने रहते, जो कभी छिन्न-भिन्न न होते, तब संसार में एक उथल-पुथल और अशांति के अतिरिक्त कुछ न दिखाई देता। परिवर्तन के आनंद का मज़ा और नवीनता की इतिश्री हो जाती। या यों कहो कि जीवन के असली तत्त्वों का नाश हो जाता। तभी भगवान् ने विस्मृति की सृष्टि की है। इस जीवन के संस्मरण इस कलेवर के साथ भस्म हो जाते हैं, और आत्मा को नवीन उत्साह से इस अनंत, लीलामय संसार में प्रवेश करने का अधिकार मिलता है।

"तब उसको इस जीवन का कुछ भी स्मरण न होगा। न होने में ही उसका कल्याण है। विस्मृति आनंद है, और स्मृति घोर उत्पीड़न। मुझे अभी तक अपने इसी जीवन के अतीत काल की स्मृति है, तो क्या मैं सुखी हूँ। मेरा जीवन मेरे लिये स्वयं अभिशाप है। मैं इहलीला संवरण करने के लिये लालायित हूँ, इसी को मैं दूसरे शब्दों में कहता हूँ कि मैं विस्मृति-सागर में निमज्जित होने के लिये आकुल हूँ। इस जीवन के अंतिम अध्याय को हमेशा के लिये उलट देना चाहता हूँ, और नया अध्याय, जिसमें नवीन आकर्षण हो, खोलना चाहता हूँ। यह मेरी आकांक्षा का असली रूप है।

"कौन जानता है, मैं इसी जीवन में उससे नित्य ही मिलता होऊँ, उसे देखता होऊँ, और उसे जानता होऊँ। किंतु उसे मैं पहचान नहीं सकता—उसे आभा की मा कहकर पुकार नहीं सकता। काश मैं उसे पहचान भी जाऊँ, तो वह कब स्वीकार करेगी कि मैं वही हूँ। मान लो, अगर वह भी पहचान जाय, मैं भी पहचान जाऊँ, तो दुनिया प्रमाण माँगेगी। मैं कौन-सा

प्रमाण पेश कर सकता हूँ। मान लो, यदि प्रमाण भी मिल जाय, और यह सिद्ध हो जाय, तो सामाजिक बंधन और आयु का भेद कब एक दूसरे को मिलने देंगे। इसी हेतु विस्मृति की सृष्टि भगवान् ने की है, और संसार किसी-न-किसी रूप में विस्मृति पाने के लिये लालायित रहता है। मनोवेदना का अंत विस्मृति में निहित है।

"मैं विस्मृति-विस्मृति करता हूँ, किंतु क्या अभी तक एक क्षण के लिये उसे भूल सका हूँ। कहते हैं, समय विस्मृति का पिता है; समय के साथ-साथ घाव अपने आप भर जाता है, किंतु मैं तो अपने संबंध में प्रतिकूल पाता हूँ। अभी तक पीड़ा की वही कसक है, वेदना की वही टीस है, और संताप की वही ज्वाला है, जो आज के सोलह वर्ष पूर्व आरंभ हुई थी। आभा की मा यद्यपि नहीं है, लेकिन उसके संस्मरण अब भी उसे मेरी आँखों के सामने जीवित कर देते हैं।

"ठीक दस बजे मुझे कॉलेज जाना पड़ता था। मैं न जाने के कितने उपाय सोचा करता था, और वह मुझसे जाने के लिये बार-बार आग्रह करती। उसे भय रहता कि कहीं देर न हो जाय, तो मुझे लांछित होना पड़े, या सिर नत करना पड़े। वह मुझे भोजन कराकर भेज देती, किंतु मेरे जाते ही वह शोक-ग्रस्त हो जाती। स्नान, भोजन भूलकर घंटों पड़ी न-मालूम क्या सोचा करती। अकस्मात् कॉलेज बंद हो जाने पर जब मैं आनंद में मग्न घर आता, तो देखता कि वह बिलकुल निश्चेष्ट बैठी है। मुझे देखते ही उसका मुरझाया हुआ चेहरा प्रफुल्लित हो जाता, और फिरकी की तरह नाचने लगती। वह मेरे क्रोध करने पर हँसकर उत्तर देती—'तुम नाराज़ क्यों होते हो, मैं अभी-अभी दस मिनट में सब कामों से फ़ारिग़ हुई जाती हूँ।' सत्य ही वह अदम्य उत्साह से काम में लग जाती। मैं उसे देखता रह जाता। उस समय

यह नहीं मालूम था कि यह आनंद तो कुछ ही दिनों का है। किसी ने भी चेतावनी नहीं दी। मैं तो उसे अनंत ही समझता रहा। यही तो मेरे जीवन की भूल थी, जिसने मेरा पराभव किया है।

"कितना गंभीर, कितना शांत, कितना अद्भुत, कितना अगाध, कितना निश्चल, कितना पवित्र और कितना जीवित उसका प्रेम था। उसके लिये संसार में मेरे अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं था। इतनी तन्मयता का रहस्य अन्यत्र देखने को न मिलता था। हम दोनो एक दूसरे में इतने संलिप्त थे कि हमारे पृथकत्व का विचार-मात्र हमें दुःख देता था। मेरे लिये संसार में जो कुछ थी, वह थी, और वैसे ही उसके ज्ञान की परिधि मैं था, ध्यान का केंद्र मैं था, भक्ति का देवता मैं था। हमारा वह जीवन दो आत्माओं के परस्पर परिचय, आलाप, अनुराग, प्रेम और भक्ति की कहानी है—हम दोनो के जीवन के विकास का इतिहास है। हाय! आज अब क्या है, अब केवल उस अतीत जीवन की निष्प्रभ छाया है। जिसमें कंकाल की भयंकरता है, और मृत्यु की विभीषिका।"

"अब क्या हो सकता है? धैर्य के साथ उस दिन की प्रतीक्षा करूँ, जब इस जीवन का ज्ञान विस्मृति के निविड़ कालिमांधकार में लीन हो जायगा—जब इस जीवन के हास-परिहास, आशा-निराशा, सुख-दुख, क्रोध-मत्सर, राग-द्वेष, प्रीति-वैर का अंत होगा—जब मृत्यु की कोमल छाया मेरे इस जीवन का अवसान करने के लिये अग्रसर होगी। उस दिन इस भयानक पीड़ा का, जो रात-दिन मुझे परेशान किए है, अंत होगा। उस दिन ही मैं आभा की मा को भूल सकूँगा—इसके पहले नहीं।

"मैं इतना व्याकुल क्यों होता हूँ, यह मुझे स्वयं नहीं मालूम होता। रह-रहकर मुझे ऐसा मालूम होता है, मानो कोई

कहता है कि आभा की मा के फिर दर्शन होंगे। कभी-कभी मैं चौंक पड़ता हूँ, और मुझे ऐसा विदित होता है कि वह मेरे पास खड़ी है—उसकी छाया आजकल प्रतिदिन दिखाई पड़ती है। मैं जानता हूँ, यह मेरा भ्रम है, मेरा विचार है, जो रूप-रेखा में प्रकाशित होता है। यह मेरी व्याकुलता का प्रमाण है, जो सशरीर होकर मुझे छलने का प्रयत्न करता है। यह मेरी उत्कट कल्पना का चमत्कार है, जो मुझे देखने को मिलता है। यह सत्य की छाया है, जिसमें असत्य सन्निहित है। किंतु मैं फिर भी उसे अपने से विलग नहीं कर सकता ; वह मेरी छाया की तरह मुझसे आबद्ध है।

"हम दोनो के प्रेम का फल आभा के रूप में मुझे मिला है। वह तो चली गई, लेकिन अपने प्रेम की भेंट देकर गई। तभी तो मैंने इसे अपने हृदय के उस गुह्यतम भाग में छिपा रक्खा है, जिसके समीप ही उसका स्थान है। आभा को सुखी करना मेरे जीवन का लक्ष्य है—उसकी मा के प्रति मेरा प्रतिज्ञा-पालन है। अपनी अंतिम घड़ी में उसने आभा को मेरी गोद में देते हुए कहा था—'देखो, अगर तुमने मुझे कभी प्यार किया है, तो इसे कष्ट न होने पावे। यदि इसे कुछ दुख मिलेगा, तो स्वर्ग में मेरी आत्मा कदापि सुखी न हो सकेगी। तुम अपना विवाह भले ही कर लेना, किंतु इसके कष्ट का ध्यान रखना, यह विचारना कि रानी मातृहारा बालिका है, इसका पक्ष लेने-वाला कोई नहीं है।' कहते-कहते उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। थी आह! वह दिन तो अभी तक मुझे स्पष्ट रूप से याद है—उसका चित्र मेरी आँखों के सामने सदैव रहता है। उसकी वह करुण दृष्टि मेरे हृदय में बिंधी हुई है। उफ़! अब बरदाश्त नहीं होता..."

कहते-कहते डॉक्टर नीलकंठ सत्य ही रोने लगे। आँखों के परदे

के भीतर छिपी हुई वेदना द्रवित होकर बाहर प्रवाहित होने लगी। वह उठकर कमरे में टहलने लगे, और उस शोक-प्रवाह को रोकने की चेष्टा करने लगे।

आभा पुनः टाइप करने के लिये उनके कमरे में आई। डॉक्टर नीलकंठ ने उसे देखकर अपने आँसू पोंछ डाले, और आवेग को दमन करने लगे। आभा उनकी दशा देखकर स्तंभित होकर उनकी ओर व्याकुल दृष्टि से देखने लगी।

डॉक्टर नीलकंठ ने मलिन हास्य-रेखा के साथ पूछा—"क्या टाइप करना चाहती हो? नौकर से कहकर टाइपराइटर अपने कमरे में क्यों नहीं मँगा लिया?"

आभा धीरता के साथ उनके पास आई, और उनकी ओर देखकर पूछा—"पापा, आप दुखी हैं। क्या मेरे किसी अपराध से आपको कुछ कष्ट हुआ है?"

दुखी से उसका दुख पूछने में दमन किया हुआ दुख प्रकट होने के लिये उतावला हो जाता है। वही यहाँ भी हुआ, किंतु डॉक्टर नीलकंठ धीर-प्रकृति के मनुष्य थे। उन्होंने उस प्रवाह को रोककर कहा—"नहीं आभा, मैं दुखी नहीं हूँ। एक तो तुम अपराध करना जानतीं नहीं, ठीक अपनी मा के अनुरूप हो, और यदि तुमसे कुछ अपराध हो भी जाय, तो यह विश्वास रक्खो कि तुम्हारे पिता के हृदय में इतनी शक्ति नहीं कि उस पर ध्यान दें।"

आभा ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह सिर नत किए कुछ सोचने लगी।

थोड़ी देर सोचने के बाद उसने दृढ़ स्वर में कहा—"पापा, मैं विवाह नहीं करूँगी।"

डॉक्टर नीलकंठ मानो आकाश से गिर पड़े। उन्होंने विस्मय के साथ पूछा—"क्या बात हुई आभा?"

आभा ने सिर हिलाकर कहा—"कुछ नहीं, केवल मेरी इच्छा।"

डॉक्टर नीलकंठ ने शंकित स्वर में पूछा—"इस इच्छा का कारण क्या है, बेटी?"

आभा ने उत्तर दिया—"कारण कुछ नहीं है। क्या संसार में सब कोई विवाह करता है? विवाह करना किसी क़ानून के अधीन नहीं है।"

डॉक्टर नीलकंठ ने वात्सल्य-पूर्ण हँसी के साथ कहा—"यह सत्य है, किंतु हमारे हिंदू-समाज के क़ानून से तो आवश्यक है।"

आभा ने तीक्ष्ण स्वर में कहा—"हम लोग तो समाज से बहिष्कृत हैं, फिर उसके विधान मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।"

डॉक्टर नीलकंठ के हृदय में कुछ वेदना हुई, यह अनुभव कर कि वह सचमुच ब्राह्मणों के कान्यकुब्ज-समाज से बहिष्कृत हैं। उन्हें वह दृश्य याद आ गया, जब उनके इँगलैंड से वापस लौटने पर ब्राह्मण-समाज ने उन्हें दूध की मक्खी की तरह निकाल दिया था। उन्होंने शास्त्रोक्त विधान से प्रायश्चित्त करने का वचन दिया। विराट् ब्रह्मभोज देने, हत्याहरण नहाने, एक सौ एक गोदान करने को तैयार हुए, किंतु ब्राह्मण-समाज अचल रहा, और उसने उन्हें अपने मध्य से निकालकर ही शांति ली। ब्राह्मणत्व के तेज में किंचित् बल न पड़ने पाया। वह उस दिन की याद करके कुछ दुखी हो गए।

आभा ने जोश के साथ कहा—"पापा, मैं उस समाज के विधानों के सम्मुख अपने को नत नहीं कर सकती, जिसने हमारे निरपराध माता-पिता को बहिष्कृत कर दिया था। समाज के रक्षक वे मूर्ख मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकते।"

डॉक्टर नीलकंठ ने स्नेह के साथ उसकी पीठ पर हाथ फेरकर आश्वासन देते हुए कहा—"इतनी अधीर न हो बेटी। मनुष्य का

निर्वाह समाज के बिना नहीं हो सकता। यह दूसरी बात है कि हम अपना दूसरा समाज अपने मनोनुकूल बना लें। क्या तुम नहीं देखतीं कि 'विलायती ब्राह्मणों' के समाज का स्वतः आविर्भाव हो रहा है। हमें उसका अंग होकर रहना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त कदाचित् हम ब्राह्मणों के समाज से बहिष्कृत हैं, किंतु हिंदू-समाज से बहिष्कृत नहीं—और न उससे कोई हमारा बहिष्कार कर सकता है। हम जन्म के साथ इस हिंदू-समाज से संबद्ध हैं, जिससे छुटकारा धर्म-परिवर्तन के बाद भी होना मुश्किल है। देख लो, कितने ही ईसाई और मुसलमानों के घरों में हिंदू-समाज के रस्म-रिवाज अब तक प्रचलित हैं, हालाँकि उन्हें धर्म-परिवर्तन किए सदियाँ हो गए हैं। आभा, हमारे हिंदू-समाज में स्त्रियों को अविवाहित रहने की प्रथा नहीं, और न इसमें किसी तरह का कल्याण है। पुरुष और स्त्री का जन्म संसार की वृद्धि के लिये हुआ है। इस मूल-तत्त्व को हमारे प्राचीन महर्षियों ने भली भाँति समझकर अनिवार्य विवाह की योजना की है। हमें भी प्रजा-पति भगवान् की आज्ञा-पालन करना उचित है।"

आभा ने कुछ शांत होकर कहा—"किंतु अविवाहित रहकर माता-पिता की सेवा करना क्या धर्म नहीं है?"

डॉक्टर नीलकंठ ने मृदु मुस्कान-सहित कहा—"अब मालूम हुआ, तू क्यों विवाह करने से इनकार करती है। माता-पिता की सेवा करने का अधिकार पुत्र को है—पुत्री को नहीं। अथवा दूसरे शब्दों में पुरुष को है—स्त्री को नहीं। स्त्री को अधिकार है अपने पति-पुत्र और सास-ससुर की सेवा करना। हमारे समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिये अलग-अलग कार्य विभाजित कर, निर्दिष्ट कर दिया गया है।"

आभा ने कहा—"अगर किसी के पुत्र न हो, तो उसकी सेवा कौन करे?"

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"जिसके संतान न हो, वह गोद लेकर उस अभाव की पूर्ति कर सकता है। हमारे धर्म-शास्त्र में बारह प्रकार के पुत्रों का वर्णन है, और वे सब क़ानूनन् जायज़ क़रार दिए गए हैं। यदि इस विषय में विशेष जानना चाहो, तो मनुस्मृति में देख लेना।"

आभा ने पृथ्वी की ओर देखते हुए पूछा—"तब आप दत्तक पुत्र क्यों नहीं लेते?"

डॉक्टर नीलकंठ ने हँसते हुए कहा—"मेरे तो संतान है, मैं क्यों किसी को गोद लूँ। तू मेरे लिये मेरे पुत्र की भाँति है, और तुझे उसी भाँति पाला है।"

आभा ने मुस्किराते हुए कहा—"तब मैं आपको छोड़कर कैसे जा सकती हूँ? पुत्र अपने पिता से दूर नहीं रह सकता।"

डॉक्टर नीलकंठ ने ज़ोर से हँसते हुए कहा—"अरी पगली, तूने मुझे निरुत्तर कर दिया।"

फिर थोड़ी देर हँस लेने के बाद कहा—"मैं तुझे अपने से दूर कब भेजता हूँ?"

आभा ने आरक्त कपोलों के साथ कहा—"विवाह कर देने के पश्चात् पिता का अधिकार नष्ट हो जाता है। दान की हुई वस्तु पर कोई स्वत्व नहीं रहता।"

डॉक्टर नीलकंठ फिर हँसने लगे।

फिर कहा—"अच्छा, मैं एक शर्त के साथ कन्या-दान करूँगा।"

आभा ने तत्क्षण उत्तर दिया—"शर्त के साथ कोई दान जायज़ नहीं हो सकता।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"यह मुसलमान-क़ानून की बात है, हिंदू-क़ानून की नहीं। हिंदू-समाज में जायदाद का दान शर्तों के साथ हो सकता है।"

आभा ने उत्तर दिया—"किसी भी धर्म तथा समाज में दान दी हुई वस्तु पर दान देनेवाले का अधिकार नहीं रहता। वह उसे पुनः प्राप्त नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त कन्या न तो जायदाद है, और न उसका जायदाद से कुछ संबंध है।"

डॉक्टर नीलकंठ हँसने लगे, और कहा—"अच्छा, मैं हार गया। अपनी संतान से हारने में पिता का गौरव है।"

आभा ने कहा—"तो फिर मैं विवाह न करूँगी।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"यह नहीं हो सकता, आभा! मैं इतना नीच नहीं कि अपने लिये तुम्हारा सुख नष्ट कर दूँ। मैं तुम्हारी मा से प्रतिज्ञा-बद्ध हूँ। मेरी प्रतिज्ञा नष्ट करने का प्रयत्न मत करो।"

आभा ने कहा—"आपने विवाह करने की प्रतिज्ञा नहीं की, मुझे सुखी करने की की है। मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मैं इसी में सुखी हूँ।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"मुझे अपने कर्तव्य का ज्ञान है। मेरा कर्तव्य मुझे यह आदेश देता है कि मैं तुम्हें गृहस्थ-धर्म में प्रवेश कराऊँ। हाँ, यदि तुम भारतेंदु से विवाह नहीं करना चाहती, तो मैं कोई दूसरा पात्र ढूँढूँगा।"

आभा ने नत-नेत्रों से कहा—"यह बात नहीं। मैं आपको ऐसी अवस्था में देखकर विवाह नहीं कर सकती। मेरे बाद आपकी देख-रेख करनेवाला कोई नहीं है, और.........."कहते-कहते वह रुक गई।

डॉक्टर नीलकंठ ने उसकी कठिनता समझकर कहा—"मेरे लिये तुम चिंतित न हो। अभी तुम्हें नहीं मालूम, कभी समय आने पर यह तुम्हें मालूम होगा कि पिता और माता को आनंद उसी समय प्राप्त होता है, जब वे अपनी संतान को हँसते, फूलते

और फलते देखते हैं। माता-पिता अपने सारे सुखों का बलिदान संतान को सुखी करने के लिये करते हैं। आभा, यह हठ तुम्हारा उचित नहीं, और न तुम्हारे इस आचरण से मैं कभी सुखी हो सकता हूँ। यह ज़रूर है कि मुझे उस वक्त असह्य दुःख होगा।"

आभा ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

डॉक्टर नीलकंठ कहने लगे—"पिता के हृदय में केवल एक चिंता व्याप्त रहती है, और वह अपनी संतान के सुखी करने की। इसी इच्छा के वश होकर, वह अपना पेट काटकर धन संचय करता और अपनी आवश्यकताएँ पूरी नहीं करता। पिता संतान के कल्याण की कामना सदैव करता रहता है। मेरी सतत इच्छा है कि मैं तुम्हें पूर्ण रूप से सुखी देखूँ।"

डॉक्टर नीलकंठ चुप होकर आभा की ओर देखने लगे।

आभा ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। वह सिर नत किए, चुपचाप, कमरे के बाहर चली गई।

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"आह, मेरा दुख देखकर अपना जीवन नष्ट करने के लिये तैयार हो गई। कितना त्याग है। ठीक अपनी मा-जैसा हृदय पाया है। वही भाव, वही आत्मत्याग, वही आत्मिक उच्चता और महत्ता है।"

वह चुपचाप फिर अपने विचारों में लीन हो गए।

(२)

ज़िला रायबरेली में अनूपगढ़-नामक पुरानी जागीर है, जिसे लखनऊ के नवाबों ने इनायत किया था। जिस वक्त इस जागीर का जन्म हुआ था, उस वक्त लखनऊ के नवाबों की गणना दिल्लीश्वर के बाद होती थी, और नाम-मात्र वे उनके अधीन समझे जाते थे। यह लखनऊ के वैभव का मध्याह्न-काल था। नवाब आसफ़ुद्दौला का ज़माना था। उनकी सख़ावत की धूम अवध-प्रांत को उल्लंघन करके समस्त भारत में व्याप्त हो गई थी। दानी होने के साथ-साथ उनके पराक्रम और शौर्य का भी गुण-गान होता था, और शायद लखनऊ के नवाबों में वह सिर-मौर थे। उनके समय में लखनऊ की गणना एक बड़े शहरों में होने लगी थी, और रोज़गार के मुंतज़िर होकर वीर पुरुष बजाय दिल्ली के वहाँ आने लगे थे। ऐसे ही नौकरी के उम्मीदवारों में आनेवाले ठाकुर महीपतिसिंह भी थे। प्रकृति ने उन्हें लंबा, क़द्दावर जवान बनाया था। वह सात फ़ीट लंबे, हट्टे-कट्टे, ताक़तवर थे। उनका रंग गंदुमी था, और उनकी काली दाढ़ी उनके मुख पर बहुत फबती थी। वह जाति के बैस ठाकुर थे। उनका जन्म ज़िला रायबरेली के डलमऊ क़स्बे में हुआ था। उनके पिता साधारण स्थिति के काश्तकार थे। ठाकुर महीपतिसिंह को खेती का धंधा पसंद न आया, और उसे छोड़कर लखनऊ आ गए, या यों कहा जाय, तो अधिक उपयुक्त होगा कि उनका भाग्य उन्हें लखनऊ घसीट लाया।

लखनऊ आकर वह पलटन में भरती हो गए। वह सुस्ती से दिन

काटनेवाले जवान न थे। चुपचाप, निष्कर्म बैठनेवालों को वह 'मक्खीमार' कहा करते थे, इसलिये वे लोग व्यंग्य से उन्हें 'सिंहमार' कहते थे। धीरे-धीरे उनका यही नाम मशहूर हो गया। एक दिन भाग्य-वश उन्होंने नवाब साहब को सचमुच शेर के मुँह से निकाल लिया, जब वह शिकार में गए थे। उस दिन नवाब साहब ने उन्हें सेना में एक उच्च पद प्रदान कर 'सिंहमार' की पदवी से विभूषित किया। व्यंग्य का नाम सत्य चरितार्थ हुआ। फिर जब रुहेलों से लोहा लिया, और उन्हें परास्त किया, तो वह प्रधान सेनापति बनाए गए, और इनाम में अनूपगढ़ की जागीर भी मिली। भाग्य-चक्र ने एक भिखारी को सत्य ही महीपति बना दिया।

लखनऊ के प्रधान सेनापति होने से उनका दबदबा और रोब चारो ओर था। वह निःशंक होकर अपने पड़ोसियों की ज़मीन दबाते चले जाते थे, जिसकी फ़रियाद कहीं न सुनी जाती थी। लखनऊ की नवाबी का सितारा जब अस्त हुआ, और अँगरेज़ों ने वहाँ के लाड़ले नवाब वाजिदअलीशाह को मटियाबुर्ज में रहने के लिये भेज दिया, तथा अवध पर क़ब्ज़ा कर लिया, तब भी अनूपगढ़ का बाल बाँका न हुआ, वरन् तत्कालीन जागीरदार भैरवबख़्शसिंह की क़दर हुई, और उनकी .कुर्ब व इज़्ज़त में किसी क़दर तरक़्क़ी ही हुई। उनके पुत्र सूरजबख़्शसिंह को राजा का ख़िताब मिला, और दूसरी तरह से भी उनकी इज़्ज़त-आबरू बढ़ी।

राजा सूरजबख़्शसिंह भी लंबे, क़द्दावर और हृष्ट-पुष्ट थे, हालाँकि उनमें उस शौर्य का सर्वथा अभाव था, जो उनके पूर्वजों में था। बहादुरी का ज़माना भी चला गया था। उनकी ताक़त लड़ाई के मैदान में अपना जौहर दिखाना छोड़, ऐयाशी के समुद्र में ग़र्क़ हो रही थी। उनके व्यभिचार की कहानियाँ सब जगह सुनी जाती थीं। उनसे

डरकर अनूपगढ़ की बहू-बेटियाँ घर के बाहर न निकलती थीं। सख़्त परदे का रिवाज था, यहाँ तक कि नीच जाति की स्त्रियाँ भी चादर से अपना सारा शरीर छिपाकर बाहर आती-जाती थीं।

इस व्यभिचार में उनकी सहायता करनेवाले, भले घरों की बहू-बेटियों को लोभ, भय और बल से लानेवाले बाबू मातादीन-सहाय थे, जो आजकल अनूपगढ़ के दीवान-पद पर सुशोभित थे। यह बात आम तौर से ज़ाहिर थी कि उन्होंने अपनी एक बहन भी राजा साहब को समर्पण किया है। इस समय भी वह राजा साहब के आश्रित थी, और किसी हद तक राज-काज में उसका भी हाथ रहता था। इनकी बहन का नाम था अनूपकुमारी। वास्तव में वह अपने नाम के सदृश थी। वह बाबू मातादीन की सगी बहन न थी, और न किसी ने कभी उसे देखा था। वह अकस्मात् प्रकट हुई थी। उसका आविर्भाव केवल राजा साहब की उपपत्नी होने के समय ही हुआ था।

अनूपकुमारी के अंतःपुर में प्रवेश होने के बाद बाबू मातादीन की पदोन्नति होने लगी। एक मामूली प्यादे से वह दीवान हो गए थे—यही नहीं, वह राजा सूरजबख़्शसिंह की नाक के बाल भी थे। अनूपकुमारी पर राजा साहब इतने आसक्त थे कि राज्य-प्रबंध उन्होंने उसी के हाथ में सौंप दिया था, और वह अपने भाई बाबू मातादीन की सहायता से चलाती थी। यह भी मशहूर था कि वह लखनऊ में पैदा हुई थी, और विधवा हो जाने पर उनका आश्रय ग्रहण किया था। उसके लिये एक कोठी लखनऊ में बन गई थी, जहाँ उसने बहुत-सा धन भी जमा कर लिया था। जब कभी राजा सूरजबख़्शसिंह लखनऊ जाते, वह भी उनके साथ जाती थी, और वे लोग उसी कोठी में ठहरा करते थे। अनूपकुमारी राजसी ठाट से रहती थी। भगवान् ने उसे भुवन-मोहन सौंदर्य

दिया था, जो समय के साथ ह्रास होना जानता ही न था। नाना प्रकार के कृत्रिम उपायों से वह अपना लावण्य सुरक्षित किए थी, जो राजा साहब को मुग्ध रखने के लिये पर्याप्त था। उसके पास जाने का अधिकार सिवा बाबू मातादीन के दूसरे पुरुष को न था। उसके रूप की प्रशंसा चतुर्दिक् थी, और सब लोग उसके दर्शनों के लिये लालायित थे।

राजा सूरजबख़्शसिंह अपने शुरू ज़माने में चतुर और होनहार मालूम होते थे, परंतु यौवन के मध्याह्न काल में वह अपने मार्ग से फिसलकर चरित्रहीनता के गह्वर में प्रविष्ट हो गए। फिर भी वह ज़माने की तबदीली से परिचित थे, और अपने पुत्र कामेश्वरप्रसाद-सिंह को नवीन शिक्षा में दीक्षित करना भूले नहीं। कुँवर कामेश्वर-प्रसादसिंह लखनऊ के कालविन-स्कूल में पढ़ने के लिये भेज दिए गए। वहाँ से सफल होने पर उच्च शिक्षा के लिये कॉलेज में प्रविष्ट हुए। अनूपकुमारी ने अधिक ख़र्च की मंज़ूरी नहीं दी, जिससे वह इँगलैंड जाकर नवीन संस्कृति का प्रमाणपत्र लाने में असमर्थ रहे।

राजा सूरजबख़्शसिंह को इतना समय न मिलता कि वह अपने पुत्र तथा रानी की खोज-ख़बर लेते। अभाग्य से वह इतनी सुंदरी न थी, जितनी अनूपकुमारी। रूपसी न होने से वह अपने अधिकार से वंचित थी। उनके तीन संतानें हुईं—एक पुत्र और दो कन्याएँ, जो सब जीवित रहीं। पुत्र कामेश्वरप्रसादसिंह का विवाह सर रामकृष्ण की लड़की मालती से हुआ, किंतु दोनो कन्याएँ अभी तक अविवाहित थीं। अनूपकुमारी उनके विवाह के ख़र्च की मंज़ूरी न देती थी। तब विवाह कैसे होता।

कुँवर कामेश्वरप्रसादसिंह भी अपने पिता से बहुत कम मिल पाते थे। उन्हें इस प्रतिबंध से इतनी घृणा हो गई थी कि वह बहुत कम अपने पिता से मिलते थे, यहाँ तक कि वर्षों एक दूसरे के देखने की

नौबत ही न आती थी। वह अपना ख़र्च भी बहुत मामूली रखते थे। पढ़ने-लिखने में बहुत अच्छे तो न थे, किंतु पास हमेशा हो जाते थे।

अनूपकुमारी को उस दिन विशेष प्रसन्नता हुई, जब यह मालूम हुआ कि वह पुरुषत्व-हीन हैं। वह उस दिन का स्वप्न देखने लगी, जब उसका पुत्र अनूपगढ़ की गद्दी का मालिक होगा। राजा सूरजबख़्शसिंह उस भेद को जानकर बहुत क्षुब्ध हुए, और उनके क्रोध का वार-पार न रहा। उसे अपनी संतान कहने में शरमाने लगे, और उस दिन से वह कामेश्वरप्रसादसिंह का मुँह देखना भी भयानक पातक समझने लगे। बाबू मातादीन के विशेष अनुरोध से उन्होंने उनका इलाज कराना स्वीकार तो किया, लेकिन उस ओर कोई ध्यान न दिया।

बाबू मातादीन एक दूरदर्शी पुरुष थे। जिस दीवान-पद को उन्होंने इतने कौशल और प्रयत्न से पाया था, उसको सदैव, कम-से-कम अपने जीवन-काल में, सुरक्षित रखना चाहते थे। उन्हें विश्वास था कि वह इस पद पर राजा सूरजबख़्शसिंह के जीवन-काल तक रह सकते हैं; इसलिये वह किसी तरह कुँवर कामेश्वरप्रसादसिंह को अपने वश में करना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने एक भयानक षड्-यंत्र की रचना की, जो उन्हीं के दिमाग़ की उपज थी।

अगर बाबू मातादीन को काम-शास्त्र का आचार्य कहा जाय, तो अतिशयोक्ति न होगी। उन्हें इस विषय के कई आश्चर्य-जनक नुस्ख़े और ओषधियाँ मालूम थीं, जिनसे मनुष्य की काम-वासना इच्छानुसार घटाई और बढ़ाई जा सकती थी। एक नुस्ख़ा तो ऐसा था, जिससे पुरुष बिलकुल निष्काम हो सकता था, और दूसरा ऐसा था, जिससे मनुष्य-मात्र कामांध हो जाते थे। इन दोनो प्रकार की दवाओं की शक्ति में विभिन्नता थी। पुरुषत्व-हीन करनेवाली दवा का असर, एक बार खिलाने से, एक वर्ष रहता था, और कामांध करनेवाली

दवा का प्रभाव कुछ घंटों तक। उन्हें उन दोनो दवाओं के प्रतिरोध की ओषधि भी मालूम थी।

बाबू मातादीन ने कामांध करनेवाली ओषधि के बल पर ही दीवान-पद प्राप्त किया था, और अब पुरुषत्व-हीन करनेवाली ओषधि की शक्ति से उस पद को सुरक्षित करने का उपाय कर रहे थे। दीवान-पद के लोभ से ही कुँवर कामेश्वरप्रसादसिंह को बाबू मातादीनसहाय के दुरभिसंधि का शिकार होना पड़ा। उन्होंने भोजन की वस्तुओं में उस दवा को मिलाकर उन्हें खिला दिया। यह घटना उस दिन घटी, जब उनके विवाह का तिलक आनेवाला था। कुँवर कामेश्वरप्रसादसिंह अपने में सहसा यह परिवर्तन देखकर बहुत कुंठित हुए। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह भेद अपने पिता पर उस दिन प्रकट किया, जब उनके विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं। उनके स्वाभिमान ने यह भेद छिपा रखने के लिये बाध्य किया था, किंतु उनकी न्यायपरायणता ने एक स्त्री का जीवन नष्ट करने के लिये उन्हें आज्ञा न दी। राजा सूरजबख़्शसिंह के क्रोध का यद्यपि वार-पार न रहा था, फिर भी स्वाभिमान ने मालती की बलि चढ़ाने के लिये मजबूर किया। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय न था। संसार के सामने वह कब स्वीकार करनेवाले थे कि उनका पुत्र पुरुष कहलाने योग्य नहीं है।

राजा सूरजबख़्शसिंह प्राण-पण से इस भेद को छिपा रखना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने मालती से वैसी प्रतिज्ञा करवाई थी, और भय भी प्रदर्शन किया था। 'भय बिनु होहि न प्रीति'-वाली कहावत के उपासक थे, इससे उसे प्राणदंड तक देने का भय बतलाया था। वास्तव में कर्ता-धर्ता बाबू मातादीन ही थे, राजा सूरजबख़्शसिंह ने ग्रामोफ़ोन की भाँति केवल उनकी आज्ञा को दोहराया-भर था।

---

(३)

संध्याकालीन सूर्य की लालिमा अनूपगढ़ के उस राजप्रसाद को स्वर्णमय बना रही थी, जिसमें अनूपकुमारी का निवास था। उस दिन विजया-दशमी थी। क्षत्रियों का जातीय त्योहार था। अनूपगढ़ की रामलीला आस-पास के गाँवों में मशहूर थी, जिसे देखने के लिये बहुत-से देहातों के आदमी आया करते थे। अनूपकुमारी ने ख़र्च के इस मद में काट-छाँट नहीं की थी, ज्यों-का-त्यों क़ायम रक्खा था। इससे इस उत्सव में फीकापन नहीं आने पाया था।

ज्यों ही संध्या की कालिमा निशा रानी को काले वस्त्र पहनाने लगी, त्यों ही चंद्रमा की चंद्रिका अपनी सखी का शृंगार करने के लिये उतर आई, और धवल वस्त्र पहनाकर उसके श्यामल रूप को छिपाने का प्रयत्न करने लगी। चंद्रमा आनंद में विभोर होकर अपना रूप अनूपकुमारी के शराब के प्याले में देखने लगा। लाल अंगूरी मदिरा लहरें ले-लेकर मौन भाषा में अपनी विजय के गीत गाने लगी।

अनूपकुमारी ने उस प्याले को राजा सूरजबख़्शसिंह की ओर बढ़ाते हुए कहा—"प्रियतम, यह देवी का प्रसाद लीजिए।"

यह कहकर वह एक नवीन भाव से कटाक्ष करके मुस्किराई। उसके भुवन-मोहन रूप के समक्ष मदिरा लज्जित होकर स्थिर हो गई।

राजा सूरजबख़्शसिंह ने एक प्याला भरते हुए कहा—"विजयदेवी का प्रसाद पान करने का अधिकारी केवल मैं ही नहीं हूँ, उसका कुछ भाग तो उस देवी को भी पान करना पड़ता है, जो सबको

अपना प्रसाद बाँटती है।" कहते-कहते उन्होंने दूसरा प्याला भर लिया।

दोनों ने एक दूसरे के प्याले को बदल लिया, और पान करने लगे।

अनूपकुमारी ने दूसरा प्याला तुरंत भर दिया।

राजा सूरजबख़्श ने उसे पीते हुए कहा—"प्रियतमे, तुम्हारे सौंदर्य का मुझे ओर-छोर नहीं मिलता। तुम आज भी वैसी ही सुंदरी दिखाई पड़ती हो, जैसी सत्रह वर्ष पहले जब तुम आई थीं, और तुम्हें रास्ते में दीवान साहब के घर से निकलते देखा था। वह दिन मुझे भली भाँति याद है। जब तुम अपने को घूँघट से ढाँक, अपनी रूप-राशि बिखेरती पानी भरने जा रही थीं। मैं घूमकर लौट रहा था। तुम्हारी रूप-राशि देखकर मैं चकित रह गया। हृदय में एक दर्द लेकर लौटा, और फ़ौरन् दीवान साहब को बुलाकर तुम्हारा हाल दरयाफ़्त किया। पहले तो दीवान साहब ने बहुत बहाने बतलाए, लेकिन बाद में तुम्हारे दर्शन कराने के लिये राज़ी हो गए। किंतु दरअसल तुम उस घटना के ठीक एक महीने बाद यहाँ आईं। और, उस वक़्त से तुमने मेरे और मेरे राज्य पर पूर्ण अधिकार कर लिया है। जो कुछ मेरे पास था, वह सब अर्पण कर चुका हूँ।"

अनूपकुमारी ने तीसरा प्याला अपने हाथ से पिलाते हुए कहा—"प्रियतम, आपकी कृपा का अंत नहीं है। मैं भी ऐसा प्रेमी पाकर धन्य हो गई हूँ, और सर्वस्व आपके चरणों पर अर्पण कर दिया है। बस, अब मेरी एक हविस बाक़ी है, ईश्वर की इच्छा से वह भी पूर्ण हो जाय, तो ठीक है।"

तेज़ शराब का सुरूर पेट को गरम कर, मस्तिष्क को एक लुभावनी मादकता से भर रहा था। अनूपकुमारी की सुडौल भुजाएँ उनके गले में प्रेम का फंदा डाले हुई थीं। उसी कुंतल-राशि की एक लट

उनके वक्षःस्थल पर गिरकर मौन भाषा में प्रेम का संदेश दे रही थी। उसका सिर धीरे-धीरे सुगंध का भंडार लिए उनके गले से लग रहा था, जो उनके उत्तप्त मस्तिष्क में बेसुधी का संचार कर रहा था। राजा सूरजबख़्शसिंह के मन में गुदगुदी होने लगी। उन्होंने आवेश के साथ उसे हृदय से लगा लिया, फिर अरुण कपोलों पर प्रेम-चिह्न अंकित करते हुए कहा—"वह कौन-सी साध है प्रिये!" उनका स्वर प्रेमावेग से काँप रहा था।

अनूपकुमारी ने अपना सिर उनके स्कंध पर रखकर, विशाल नेत्रों से उनकी ओर जादू-भरी चितवन डालते हुए कहा—"वह एक ऐसी ही साध है प्यारे!"

राजा सूरजबख़्शसिंह की उत्सुकता जाग पड़ी। उन्होंने उसके अधरों को पकड़कर फिर अपने प्रेमावेग की छाप लगाते हुए कहा—"तुम्हें आज वह कहना होगा। यदि मुझे ज़रा भी प्यार करती हो, तो ज़रूर कहो।"

यह कहकर वह उत्सुकता और दीनता से उसकी ओर देखने लगे।

अनूपकुमारी कुछ मुस्किराई, फिर दोनो हाथों से उनके गले में झूलने लगी। उसके आयत लोचनों से आवेश की मदिरा छलकने लगी।

एक वंकिम कटाक्ष निक्षेप करके कहा—"कह दूँ, बोलो, नाराज़ तो न होगे।"

राजा सूरजबख़्शसिंह की उत्सुकता अपनी सीमा उल्लंघन करने लगी। उन्होंने अधीरता के साथ कहा—"क्या मैं आज तक कभी तुमसे नाराज़ हुआ हूँ, जो आज होऊँगा? कहो प्रियतमे, कहो। मैं तुम्हारे ऊपर सब निछावर कर सकता हूँ, तुम मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हो।"

अनूपकुमारी ने अपनी आँखें नीची कर लीं, और फिर धीरे-धीरे

कहा—"यह प्रार्थना हमेशा भगवान् से करती हूँ कि इसी तरह, जैसे आज इस वक़्त हूँ, तुम्हारी गोद में मेरे प्राण निकल जायँ………"

राजा सूरजबख़्श ने उसे आगे बोलने नहीं दिया, और प्रेम के क्रोध से कहा—"यह क्या बक रही हो, सरो ! आज त्योहार के दिन ऐसी अशुभ बात निकालती हो। जानती हो, तुम्हारे बग़ैर मेरा जीवित रहना असंभव है। यदि ऐसी बात फिर कभी कहोगी, तो कहे देता हूँ, अच्छा न होगा।"

अनूपकुमारी ने विजय की हँसी हँसते हुए कहा—"क्यों, क्या करोगे। मार डालोगे ?"

राजा सूरजबख़्शसिंह ने खीझकर कहा—"फिर वही बात ! अगर तुम्हें फ़िज़ूल की बकवास करनी है, तो मैं जाता हूँ।"

यह कहकर वह उठने लगे।

अनूपकुमारी ने उनका दामन पकड़ते हुए कहा—"अच्छा, अब न कहूँगी। तुम्हें मेरी क़सम, बैठो। कहो, तो आज वह केशरी शराब निकाल लाऊँ, जिसे आपने सरकार से अनुमति लेकर निकलवाया है ?"

राजा सूरजबख़्शसिंह ने बैठते हुए कहा—"मैं शराब-वराब कुछ न पीऊँगा। तुम्हें तो ऐसी भद्दी बातें सूझती हैं, जिससे पहले की शराब का नशा तो उतर गया। अब केशरी शराब पीकर क्या करूँगा। उसे ख़राब तो करना नहीं है।"

उनका स्वर प्रेमाभिमान से आवृत था।

अनूपकुमारी ने हृदयोल्लास से हँसते हुए कहा--"अच्छा, अब न कहूँगी। तुम तो इतने ही में नाराज़ हो गए। आख़िर मरना तो एक दिन……"

राजा सूरजबख़्शसिंह ने उठते हुए कहा—"बस, अब मैं नहीं ठहर सकता। तुम आज सब मज़ा किरकिरा कर दोगी। जो

मना करूँगा, वह तुम ज़रूर करोगी। यह तुम्हारी पुरानी आदत है।"

उनके स्वर में दुःख का आभास था, और उपालंभ की करुणा थी।

अनूपकुमारी ने मदिरा का प्याला उनके मुँह से लगाते हुए कहा—"अच्छा, मेरा क़ुसूर माफ़ करो। यह प्याला पी लो। मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ, मुझे माफ़ करो। अब अगर कुछ भी कहूँ, तो चले जाना।"

यह कहकर वह आवेग के साथ उनसे लिपट गई।

राजा सूरजबख़्शसिंह न जा सके। वह हाथ में शराब का प्याला लिए हुए बैठ गए। अनूपकुमारी ने दूसरा प्याला भरकर उनके मुँह में लगाते हुए कहा—"अगर मुझे ज़रा भी प्यार करते हो, तो इसे पी जाओ, मेरा क़ुसूर माफ़ करो।"

वह इनकार न कर सके, और प्याले की छलकती हुई मदिरा पी गए। अनूपकुमारी ने तुरंत दूसरा प्याला भर दिया।

राजा सूरजबख़्शसिंह ने कहा—"तुम तो पीती नहीं, मुझे पिलाती जाती हो। यह न होगा। यह प्याला तो तुम्हें पीना होगा।"

अनूपकुमारी ने बिना किसी उज़्र के उसे ख़ाली कर दिया।

राजा सूरजबख़्शसिंह ने जेब से एक छोटी शीशी निकालते हुए कहा—"शराब ढालो, आज दीवान साहब ने दूसरी दवा तैयार करके दी है। इसका मज़ा, वह कहते थे, पहले से कहीं ज़्यादा और अद्भुत है। इसकी एक ख़ूराक़ तुम्हें भी पीना होगा।"

अनूपकुमारी उठकर अलमारी से एक बोतल मदिरा की निकाल लाई, जिसे राजा सूरजबख़्शसिंह ने तरह-तरह के मसालों से निकलवाया था।"

उससे दो प्याले भरते हुए अनूपकुमारी ने एक अंदाज़ के साथ

कहा—"मैं नहीं खाऊँगी। दीवान साहब दवा बनाने के लिये पागल हैं, और तुम खाने के लिये। बुढ़ापा आ रहा है, और दवा खाना नहीं छोड़ते। घर में लड़का तो किसी अर्थ का नहीं, बेचारी बहू द्दविस लेकर चली गई। यह दवा उसे क्यों नहीं खिलाते?"

राजा सूरजबख़्शसिंह ने तड़पकर कहा—"उस कुलांगार का नाम मेरे सामने मत लो। मैं उसे अपना पुत्र नहीं कह सकता। मेरा पुत्र तो पृथ्वीसिंह है, उसमें कोई दोष निकाल तो दो, देखूँ।"

अनूपकुमारी से जो पुत्र था, उसका नाम पृथ्वीसिंह था।

अनूपकुमारी का मुख प्रसन्नता से दमकने लगा। पुत्र की प्रशंसा सुनकर किस मा का हृदय आनंद से ओत-प्रोत नहीं हो जाता?

अनूपकुमारी ने सिर नीचा करके कहा—"इससे क्या होता है। गद्दी के मालिक तो लाल साहब ही हैं, और एक दिन वही बैठेंगे। इसीलिये तो कहती हूँ कि अगर तुम्हारे सामने मेरी गति हो जाय, तो ठीक है, नहीं तो दूध की मक्खी की तरह निकालकर फेक दी जाऊँगी।"

कहते-कहते उसकी विशाल, आम की फाँक-जैसी आँखों से आँसू की एक बूँद गैस के प्रकाश में चमककर राजा सूरजबख़्शसिंह के हृदय में कसक पैदा करने के लिये ढुलक पड़ी। वह तड़प उठे।

कुँवर कामेश्वरप्रसादसिंह का नाम था लाल साहब।

राजा सूरजबख़्शसिंह ने कहा—"उस कपूत के बैठने से गद्दी निहाल हो जायगी न, इसलिये लाल साहब गद्दी पर बैठेंगे। तुम घबराओ नहीं, मैं ऐसा प्रबंध करूँगा, जिसमें गद्दी पृथ्वीसिंह को मिले। मैं इस संबंध में गवर्नर से बातचीत करूँगा। लाल साहब को गद्दी पर बैठाने से तो अच्छा है कि मैं एक औरस को गद्दी दे दूँ। मैं संसार में अपना मुख काला नहीं करना चाहता।"

उनके स्वर में तीव्र व्यंग्य और क्रोध का विकास था।

अनूपकुमारी यही चाहती थी। अपनी सफलता देखकर वह आनंदोत्फुल्ल नेत्रों से उनकी ओर देखने लगी।

फिर उसने अपनी प्रसन्नता छिपाते हुए कहा—"मैं तो हँसी करती थी। मैं किसी का अधिकार नष्ट नहीं करना चाहती। मेरा पृथ्वी और न मैं गद्दी की भूखी हूँ। हम लोगों को तो सिर्फ़ तुम्हारा प्रेम चाहिए, और कुछ नहीं।"

राजा सूरजबख़्शसिंह ने ज़ोर से कहा—"नहीं, गद्दी का मालिक पृथ्वीसिंह होगा।"

अनूपकुमारी ने मलिन हँसी के साथ कहा—"यह असंभव है। असंभव का लोभ दिखाकर मेरे मन में एक नया उपद्रव न खड़ा करो।"

राजा सूरजबख़्शसिंह ने सक्रोध कहा—"इसमें असंभव की क्या बात है। पहले हिंदू-धर्म-शास्त्र में अपंगु और विकृतांग पुत्र उत्तराधिकार से वंचित किए जा सकते थे, किंतु आजकल सरकारी क़ानून से वह धारा रद्द कर दी गई है। अगर काश, ज़माने-हाल में वह क़ानून रायज होता, तो लाल साहब को मैं ख़ुद उत्तराधिकार से वंचित कर सकता था, किंतु अब उसके रायज न होने से कुछ कोशिश करनी पड़ेगी। अभी तक गवर्नमेंट ने मेरी कोई बात अस्वीकार नहीं की, उम्मीद है, यह बात भी अस्वीकार न करेगी।"

अनूपकुमारी ने व्यंग्य से हँसते हुए कहा—"ऐसा होना सर्वथा असंभव है। आज तक कहीं 'रखैल' का लड़का गद्दी का मालिक हुआ है, जो मेरा होगा?"

उसके स्वर से तीव्र व्यंग्य की कटुता थी।

राजा सूरजबख़्शसिंह उसकी बात सुनकर कुछ स्तंभित हो गए। रखैल का प्रश्न उन्हें चकित करने लगा। उनकी दशा देखकर

अनूपकुमारी ज़ोर से हँस पड़ी। व्यंग्य उनका उपहास करने लगा।

राजा सूरजबख़्शसिंह ने क्षुब्ध होकर कहा—"तुम्हें रखैल कौन कहता है? किसके धड़ पर दो सिर हैं, जो ऐसा कहकर तुम्हारा अपमान करता है?"

अनूपकुमारी ने मुस्किराते हुए कहा—"रखैल मुझे वह व्यक्ति कहता है, जिस पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं चल सकता।"

राजा सूरजबख़्शसिंह ने तीव्रता से कहा—"ख़ैर, मेरा अधिकार उस पर चल सकता है या नहीं, यह मेरे जानने की वस्तु है। मैं सिर्फ़ उस व्यक्ति का नाम पूछता हूँ।"

अनूपकुमारी ने मुस्किराते हुए कहा—"वह तुम्हारा हिंदू-क़ानून है। बोलो, उस पर क्या अधिकार है? क़ानूनन् तो मैं तुम्हारी रखैल ही हूँ—या इससे भी कुछ अधिक!"

राजा सूरजबख़्शसिंह ने गंभीर कंठ से कहा—"ठीक है, उस पर मेरा कोई वश नहीं।" फिर थोड़ी देर सोचने के बाद कहा—"नहीं, उस पर भी मेरा अधिकार है, उसे मैं अपने अनुकूल बना सकता हूँ, ऐसा कि वह मेरा प्रतिरोध न करे।"

अनूपकुमारी ने हँसकर कहा—"अब यह असंभव है।"

राजा सूरजबख़्शसिंह ने तीव्रता से कहा—"असंभव को मैं संभव कर सकता हूँ। मैं तुमसे विवाह करके तुम्हारा कलंक दूर करूँगा। मुझे इस बात का शोक है कि यह विचार अब तक क्यों न मेरे ख़याल में आया, और न तुमने ही इस ओर मेरा ध्यान दिलाया। ख़ैर, अब भी कुछ देर नहीं हुई। मैं तुमसे विवाह करके पृथ्वीसिंह को अपना उत्तराधिकारी बनाऊँगा।"

अनूपकुमारी उनकी बात सुनकर ज़ोर से हँस पड़ी। राजा सूरज-बख़्शसिंह क्रोध से उन्मत्त हो गए।

अनूपकुमारी ने हँसते हुए कहा—"ब्राह्मण और क्षत्रिय का अंतर्जातीय विवाह किस क़ानून से विहित माना जायगा ?"

राजा सूरजबख़्शसिंह ने सक्रोध कहा—"अँगरेज़ी क़ानून के अनुसार विवाह करने से सब विहित है। अँगरेज़ी क़ानून ने विवाह को 'सोशल कांट्रैक्ट' बनाकर सबके लिये सुलभ कर दिया है। मैं तुम्हारे साथ विवाह उसी रीति से करूँगा।"

अनूपकुमारी ने गंभीर होकर कहा—"क्या उस विवाह से पहले के उत्पन्न हुए पुत्र जायज़ वारिस क़रार दिए जा सकते हैं ?"

राजा सूरजबख़्शसिंह ने कहा—"अगर अब तक वे जायज़ वारिस क़रार नहीं दिए गए, तो अब दिए जायँगे। मैं अपना संपूर्ण बल लगाकर इसका क़ानून बनवाऊँगा, और इस बार मैं भी एसेंबली का सदस्य होने के लिये कोशिश करूँगा। इस तमाशे को कभी नहीं देखा, इस मर्तबे ज़रूर देखूँगा। चुनाव की तैयारियाँ हो रही हैं। मैं कल ही अपना नाम उम्मीदवारों में दूँगा, और मेंबर होने के लिये रुपया पानी की तरह बहाऊँगा। चाहे जो कुछ हो, कितना ही विरोध क्यों न हो, मैं तुम्हारे साथ विवाह करके पृथ्वी को अनूपगढ़ की गद्दी पर बिठाऊँगा। इसके लिये अगर लाल साहब का ख़ून भी करना पड़े, तो वह भी करते न हिचकिचाऊँगा।"

कहते-कहते उनकी आँखों से शोले निकलने लगे। मदिरा के आवेश के साथ क्रोध का उफ़ान बहकर उन्हें पागल बनाने लगा।

अनूपकुमारी ने सप्रेम उनके कंठ को बाहु-पाश से आबद्ध करते हुए कहा—"मेरे लिये ऐसा भयानक पाप न करना! नहीं-नहीं, मैं गद्दी नहीं चाहती। आग लगे मेरे मुँह में, जो यह बात निकल गई......"

राजा सूरजबख़्शसिंह ने क्रोध के साथ उसकी बात काटते हुए

कहा—"नहीं, ऐसा ही होगा। आज तक जो कुछ मैंने विचारा है, वही हुआ है। यह विचार भी कार्य-रूप में परिणत होगा। इसे कोई शक्ति रोक नहीं सकती।" आवेश से वह काँपने लगे।

अनूपकुमारी ने मदिरा का दूसरा प्याला भरते हुए कहा—"ख़ैर, अब इन बातों को जाने दो। लो, यह पी जाओ, जिससे मन का विकार दूर हो। मैं तो तुम्हारे अधीन हूँ, चाहे विवाह करो, चाहे जो कुछ करो। जो कुछ तुम करोगे, उसे सिर नत करके ग्रहण करूँगी। राजमाता होने का गौरव मेरे फूटे भाग्य में है, यह अभी तक एक कल्पना की बात मालूम होती है। इसका मूल्य पागल की बहक से ज़्यादा कुछ नहीं जान पड़ता। मैं क़ानूनी बातें समझती नहीं, इसके बारे में तो तुम्हीं जानते हो।"

राजा सूरजबख़्शसिंह ने शराब का प्याला भरकर उसे देते हुए कहा—"आज विजयादशमी है, इस पुण्य तिथि पर मैं घोषित करता हूँ कि तुम अनूपगढ़ की राजमाता होओगी, और पृथ्वीसिंह इस राज्य का मालिक होगा। आओ, इसी शुभ कामना में हम लोग एक-एक प्याला शराब पिएँ।"

अनूपकुमारी ने अपनी प्रसन्नता दबाते हुए कहा—"आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। अगर ईश्वर की यही इच्छा है, तो ऐसा ही हो।"

यह कहकर वह प्रसन्नता से उनका दिया हुआ शराब का प्याला एक ही घूँट में पी गई। राजा सूरजबख़्शसिंह भी पी गए।

इसके बाद अविराम गति से शराब का दौर चलने लगा। मादकता उन दो निर्बल, निरीह व्यक्तियों को अपनी उँगलियों पर नचाने लगी। आवेश उन पर अपना बेसुध करनेवाला पंखा झलने लगा। तंद्रा उनकी आँखों पर बैठकर संसार की कालिमा उनके लिये एकत्र करने के लिये आवाहन करने लगी, और अनूपकुमारी

का भाग्य समय के परदे की ओट में किसी नूतन नाटक का आयो-
जन करने में लीन हो गया।

राजा सूरजबख़्शसिंह बेसुध होकर अनूपकुमारी की गोद में
गिर पड़े।

(४)

दूसरे दिन प्रातःकाल राजा सूरजबख़्शसिंह अपनी उम्मीदवारी की दरख़्वास्त पेश करने के लिये रवाना हो गए। अनूपकुमारी ने उन्हें मना किया, किंतु उन्होंने उसकी एक न सुनी। दीवान साहब को भी साथ जाना पड़ा।

क़रीब नौ बजे दिन को, राजा सूरजबख़्शसिंह के जाने का समाचार सुनने पर, रानी श्यामकुँवरि के आने की ख़बर एक दासी ने अनूपकुमारी को दी। वह उस वक़्त स्नान कर फ़ारिग़ हुई थी। ढलता हुआ यौवन अपनी शुष्क हँसी हँसकर अपना पुराना समय स्मरण करा रहा था। कृत्रिम उपाय, जिनसे वह मनोमोहिनी देख पड़ती थी, गरम जल के प्रभाव से बहकर साफ़ हो गए थे। शरीर की झुर्रियाँ मुँह लटकाकर रो रही थीं। आज अकस्मात् रानी श्यामकुँवरि को अपने घर के दरवाज़े पर देखकर वह किसी अज्ञात भय से सिहर उठी। जब से वह आई थी, तब से उसने कभी उन्हें नहीं देखा था। दोनो के मिलने का मौक़ा ही न आया था। दोनो का गुप्त घृणित-व्यवहार उन्हें आपस में मिलने से रोकता था, और किसी हद तक उनमें भयानक शत्रुता चलती थी। दोनो एक दूसरे को चोर समझकर आंतरिक द्वेष और ईर्ष्या से भस्मीभूत हो रही थीं। आज उसी परम शत्रु को अपने घर के द्वार पर देख वह चिंतित होकर उनके आगमन का कारण जानने के लिये आतुर हो उठी।

रानी श्यामकुँवरि ने आज्ञा मिलने की प्रतीक्षा नहीं की। वह दासी के पीछे-पीछे आकर खड़ी हो गई। सद्यःस्नाता अनूपकुमारी अपने कपड़े बदलने के लिये वेग से दूसरे कमरे में जाने लगी।

रानी श्यामकुँवरि ने धीमे स्वर में कहा—"ज़रा ठहरिए, मैं आपसे दो-एक ज़रूरी बात करने आई हूँ।"

अनूपकुमारी ने अपने कमरे का दरवाज़ा बंद करते हुए कहा—"कपड़े बदलकर अभी हाज़िर होती हूँ, आप कमरे में बैठें।"

रानी श्यामकुँवरि को दासी ने उसी कमरे में लाकर बैठाया, जिसमें कल रात्रि को राजा सूरजबख़्शसिंह और अनूपकुमारी बैठे थे, जो उनकी ख़ास बैठक का कमरा था। दासी वापस चली गई।

रानी श्यामकुँवरि इधर-उधर घूमकर उस कमरे की वस्तुएँ देखने लगीं। धीरे-धीरे घूमती हुई वह एक अलमारी के पास आकर खड़ी हो गईं, और उसकी वस्तुएँ ग़ौर से देखने लगीं। उसमें उन्हें काग़ज़ का एक पुलिंदा मिला, जिसे उन्होंने बिना देखे अपने वस्त्रों में छिपा लिया, और उसमें कई शीशियाँ थीं, जिनमें से उन्होंने कई एक अपनी कमर में छिपा लिया, और फिर आकर कुरसी पर बैठ गईं।

वह कुरसी पर बैठी ही थीं कि अनूपकुमारी झपटती हुई उस कमरे में आई। ज्यों ही उसे दासी से मालूम हुआ कि वह उन्हें ख़ास कमरे में बैठा आई है, वह अपना शृंगार करना भूल गई, और वैसे ही उस कमरे की ओर दौड़ी। उसने कमरे में प्रवेश करते ही अपनी अलमारी को शंकित दृष्टि से देखा, और उसे ज्यों-का-त्यों पाकर कुछ स्वस्थ हुई।

रानी श्यामकुँवरि ने हँसते हुए कहा—"मैं आपकी कोई चीज़ चोरी करने नहीं आई।"

अनूपकुमारी संकुचित हो गई। उसके कपोल लाल और कान गरम होने लगे।

उसने हँसी का निष्फल प्रयास करते हुए कहा—"नहीं, आपसे यह भय करना सर्वदा निर्मूल है। अगर चोर हो सकती हूँ, तो मैं हूँ, जिसने आपका सर्वस्व अपहरण कर लिया है।"

उसके स्वर में तीव्र व्यंग्य का आभास था ।

रानी श्यामकुँवरि ने मलीन हँसी के साथ कहा—"इसका मुझे दुःख नहीं । मैंने अपने को उस दुःख का अभ्यस्त बना लिया है । मैं तो आज आपसे एक भीख माँगने आई हूँ—वह भी स्त्री होने के नाते ।"

अनूपकुमारी ने व्यंग्य से हँसते हुए कहा—"पथ की भिखारिन, समाज की कलंक एक रखैल आपको क्या भीख दे सकती है, रानी साहबा ! यह आपका अन्याय है, जो ऐसा कहती हैं ।"

रानी श्यामकुँवरि ने उस व्यंग्य को सहकर कहा—"समय सब कुछ करा लेता है । आज राज्य के समस्त अधिकार आपके हाथ में हैं । अनूपगढ़-राज्य की बागडोर आपके हाथ में है । मेरे और मेरे बच्चों के लिये खाना और ख़र्च बाँधने का भी आपको पूरा अख़्त्यार है । मैं अपने लिये नहीं, अपने बच्चों के लिये नहीं, उनके लिये भी नहीं, इस अनूपगढ़-राज्य की इज़्ज़त-आबरू के लिये आपके द्वार भीख माँगने आई हूँ । आशा है, आप मुझे निराश न करेंगी ।"

अनूपकुमारी ने मौन होकर कुछ देर तक सोचा, फिर कहा—"रानी साहबा, आपका आशय मैं बिलकुल नहीं समझी । क्या आप मेरा उपहास करने आई हैं, या लड़ाई-झगड़ा ? कुछ समझ में नहीं आता कि आप क्यों आई हैं । किसी सद्भावना से प्रेरित होकर तो आप आ नहीं सकतीं, क्योंकि हमारे दरम्यान तो उसका संपूर्ण अभाव है, और न मेरे पास मित्रता के नाते आई हैं, क्योंकि आज के पहले आपको देखने या मिलने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ । अतएव इस संबंध में कुछ ख़याल करना बेसूद है । आज राजा साहब किसी कार्य-वश शहर गए हैं, इसलिये शायद मौक़ा पाकर अपनी द्वेषाग्नि शांत करने आई हों, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं ।

रंग-ढंग भी कुछ ऐसा ही मालूम होता है, क्योंकि आते ही आप व्यंग्य बोल रही हैं, और छींटें कस रही हैं। अगर किसी दुर्भावना से प्रेरित होकर आप आई हैं, तो कृपा कर पधार जावें, वरना अगर आपका कुछ अपमान हो जाय, तो मुझे दोष मत देना।"

यह कहकर वह तीक्ष्ण दृष्टि से रानी श्यामकुँवरि की ओर देखने लगी।

रानी श्यामकुँवरि ने अपने मन का भाव दबाकर मधुर स्वर से कहा—"जब जवानी में लड़ने या झगड़ा करने नहीं आई, तब बुढ़ापे में किस लिये आऊँगी। मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मैं कोई नीच ख़याल से नहीं आई। मैं तो आपके इजलास में असालतन दरख़्वास्त पेश करने आई हूँ। मेरी दरख़्वास्त पर ग़ौर करना या न करना आपके अधीन है।"

अनूपकुमारी ने सरोष कहा—"फिर वही व्यंग्य! मेरा इजलास कैसा?"

रानी श्यामकुँवरि ने धीरता के साथ कहा—"यदि सत्य कहना व्यंग्य है, तो मैं नहीं जानती कि किस तरह कहूँ। ज़्यादा पढ़ी-लिखी भी नहीं; दूसरे, कई दुखों से परेशान होने से, मुमकिन है, कुछ गुस्ताख़ी हो जाती हो, आप उसे भी क्षमा करें।"

अनूपकुमारी ने तीव्र स्वर में कहा—"अच्छा, कहिए, आप क्या कहती हैं? मेरे पास व्यर्थ की बकवास करने के लिये समय नहीं है, और राजा साहब भी शीघ्र ही आनेवाले हैं। अतएव जो कुछ आप अच्छा या बुरा कहना चाहती हों, कह डालें। मैं सब कुछ सुनने को तैयार हूँ।"

रानी श्यामकुँवरि ने कहा—"कहूँगी, अच्छा ही कहूँगी। बुरा क्यों कहूँगी। अगर राजा साहब आ जायँगे, तो उनसे भी निवेदन करूँगी, उन्हें भी स्मरण दिलाऊँगी कि यह तो आपका कर्तव्य है।"

अनूपकुमारी ने सक्रोध कहा—"राजा साहब के कर्तव्य की विवेचना करना मेरी शक्ति से बाहर की बात है, और न मैं अपने को उसका अधिकारी ही समझती हूँ। व्यर्थ समय नष्ट करना ठीक नहीं।"

रानी श्यामकुँवरि ने अपने मन का क्रोध दमन करते हुए कहा—"इतनी रुक्षता से कोई दुश्मन भी शायद ही पेश आवे, अगर कोई उसका घोर शत्रु उसके द्वार पर जाकर आँचल पसारकर भीख माँगे। ख़ैर, अपने बच्चों के लिये सब कुछ बरदाश्त करूँगी। हाँ, सुनिए, कमला और किशोरी, दोनो ही बहुत अर्से से विवाह करने योग्य हो गई हैं। अभी तक उनका विवाह नहीं हुआ। राजा साहब को अभी तक उनके योग्य वर ढूँढ़ने को समय नहीं मिला। उनका विवाह इस वर्ष होना ज़रूरी है। कृपा कर स्त्री होने के नाते तो ज़रूर ही उनके विवाह की आज्ञा दें, और राजा साहब को भी कह-सुनकर इसके लिये उद्यत करें। बस, यही मेरी प्रार्थना है। इसे स्वीकार करना या न करना आपके हाथ है।"

अनूपकुमारी ने ज़ोर से हँसकर कहा—"मैं इसके लिये क्या कर सकती हूँ। क्या राजा साहब को नहीं मालूम कि उन्हें अपनी लाड़ली लड़कियों की शादी करना है। मैं आज्ञा देनेवाली कौन हूँ, जो आप इस तरह व्यंग्य कहती हैं।"

रानी श्यामकुँवरि अपने मन का क्रोध दमन न कर सकीं। उन्होंने सक्रोध कहा—"इतना अभिमान अच्छा नहीं। रावण का गर्व जब नहीं रहा, तब एक क्षुद्र नारी का कभी नहीं रह सकता। जो कुछ आज तक नहीं किया, वह अपने बच्चों के ख़ातिर करना पड़ा। ख़ैर, जाती हूँ। अगर राजा साहब अपनी लड़कियों का विवाह नहीं कर सकते, तो उनकी ननिहालवाले करेंगे, और गवर्नमेंट करेगी। मैं अब तक अनूपगढ़ की लाज जाने से डरती थी, किंतु देखती

हूँ, खुलकर लड़ना पड़ेगा। मेरे बच्चे मुट्ठी बाँधकर इस दुनिया में आए हैं, जिन्हें अधिकार से वंचित करना तुम्हारी-जैसी सड़कों पर फिरनेवाली वेश्याओं के हाथ में कदापि नहीं। यदि स्वत्व के लिये पति से भी युद्ध करना पड़े, तो करूँगी। मैं अब तक अपने ससुर के वंश की लाज-मर्यादा से डरती थी, और सहज भाव से शांति-पूर्वक काम निकालना चाहती थी, किंतु देखती हूँ, इन तिलों में तेल नहीं। मैं जाती हूँ, और कहे जाती हूँ कि तुम......"

क्रोध का उफान दूध के उफान से भी अधिक तेज़ होता है। जिस वक्त दबा हुआ क्रोध प्रवाहित होने लगता है, वह रुकना नहीं जानता। रानी श्यामकुँवरि क्रोध से आगे न कह सकीं।

अनूपकुमारी उनका भयंकर रूप देखकर कुछ स्तंभित हो गई।

रानी श्यामकुँवरि ने जाते हुए कहा—"सब कुछ खोकर भी मैंने धैर्य रक्खा था, परंतु इस दुनिया का क़ायदा है कि जितना दबो, उतना ही लोग दबाते हैं। अब देखूँगी, कितने दिन तुम और राजा साहब आनंद करते हो। पति के ऊपर वार करना स्त्री का धर्म नहीं, इससे चुप बैठी थी, और उस भावना में पड़कर अपने बच्चों का जीवन नष्ट कर डाला। मेरे बेटे को तो तूने न-मालूम क्या खिला-कर नष्ट कर डाला, अब मेरी लड़कियों का जीवन, उनकी इज़्ज़त-आबरू नष्ट करने के लिये आमादा है। जब तक मेरे शरीर में एक बूँद रक्त रहेगा, उसे बहाकर उनकी रक्षा करूँगी। मा के साए के नीचे से कोई आततायी उसके बच्चे को नष्ट नहीं कर सकता। जो तेरे मन में आवे, राजा साहब से कह देना, और यह भी जान लेना कि अब तुम्हारा कुचक्र अधिक नहीं चल सकता। तुम्हारे पाप का घड़ा भर गया है......"

कहते-कहते वह तेज़ी से कमरे के बाहर हो गईं। अनूपकुमारी भय के साथ चुपचाप खड़ी रही।

रानी श्यामकुँवरि के जाने के बाद उसे होश हुआ। वह दौड़कर उन्हें पकड़ने के लिये द्वार की ओर झपटी, परंतु रानी श्यामकुँवरि उसके घर से बाहर निकल गई थीं। वह क्रोध से काँपती हुई अपने उसी कमरे में लौट आई।

कमरे में आते ही देखा, उनके प्यार की दासी कस्तूरी पान का डिब्बा लिये खड़ी है। उसे देखते ही उसका क्रोध अपना प्रतिशोध निकालने के लिये आकुल हो उठा। उसने उसके हाथ से पान का डिब्बा छीन लिया, और उसे मारना शुरू किया। असहाय दासी रोकर अपने उद्धार की प्रार्थना करने लगी। उसकी करुण पुकार अनूपकुमारी को और अधिक मारने के लिये उत्तेजित करने लगी। थोड़ी देर में घर-भर की दासियाँ उस कमरे में एकत्र हो गईं, लेकिन किसी को साहस न हुआ कि अभागिनी कस्तूरी को बचावें।

दूसरी दासियों को देखकर अनूपकुमारी ने सक्रोध चिल्लाकर कहा—"तुम लोग अब यहाँ आई हो। मेरे घर में वह टुकड़ही मेरा अपमान करके चली गई, और तुम लोगों में से किसी को साहस न हुआ कि उसकी अच्छी तरह मरम्मत करतीं। मेरा अपमान करने का मज़ा उसे मिल जाता। मैं आज ही तुम सबको निकाल दूँगी। जानती हो, अनूपगढ़ की रानी मैं हूँ। वह तो मेरी टुकड़हेल है।"

कस्तूरी ने चिल्लाकर कहा—"मेरा क्या क़ुसूर है, आप ही ने तो पान लगाने के लिये कहा था, इसलिये पान लगाकर अब आई हूँ। मुझे क्या मालूम था कि वह हरामज़ादी आपकी बेइज़्ज़ती करने आई थी।"

अनूपकुमारी ने उसे मारते हुए कहा—"सब तेरा क़ुसूर है। किसने उसे मेरे ख़ास कमरे में बैठाने को कहा था। बता, तू उसे यहाँ क्यों लाई थी?"

कस्तूरी ने हाथ जोड़ते हुए कहा—"यह ग़लती हुई, माफ़ कीजिए, आपने तो उन्हें बैठाने के लिये कहा था, इसलिये यहाँ ले आई थी।"

अनूपकुमारी ने उसे मारना बंद नहीं किया था। हालाँकि मारते-मारते उसके हाथ दुखने लगे थे, फिर भी वह मारती रही, जिससे उसका क्रोध उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता था। क्रोध उस अवस्था में अधिक उग्र हो जाता है, जब मनुष्य को कुछ कष्ट या पीड़ा होती है।

अनूपकुमारी ने सक्रोध कहा—"हरामज़ादी, तू उसे रानी समझकर यहाँ लाई थी। तू यह अच्छी तरह जान ले कि अनूपगढ़ की रानी मैं हूँ, मैं हूँ, मैं हूँ। मेरा लड़का अनूपगढ़ का राजा होगा, मैं राजमाता होऊँगी। उसके भरोसे मत रहना। ज़मीन में गड़वाकर कुत्तों से खाल नुचवा लूँगी। बोल, तू उसे यहाँ लाई क्यों? झाड़ू मारकर दरवाज़े से बाहर क्यों नहीं कर दिया?"

कस्तूरी रोती हुई उसके पैरों पर गिर पड़ी, और क्षमा माँगने लगी।

अनूपकुमारी बिलकुल थक गई थी। वह हाँफती हुई सोफ़ा पर बैठ गई। उसकी आँखों से अंगारे अब भी निकल रहे थे, ओष्ठ-युगल फड़क रहे थे, और उसके शरीर में इस समय वृद्धावस्था तथा विलासिता के सभी चिह्न प्रकट होने लगे थे। सामने दर्पण में अपना प्रतिबिंब देखकर वह द्विगुणित क्रुद्ध हो गई। उसने सक्रोध पान का डिब्बा उठाकर उस मूक चुग़लख़ोर के मारा। दर्पण टूटकर, टुकड़े-टुकड़े होकर, भूमि पर गिरकर अपनी इहलीला समाप्त करने लगा।

उसने अपने पैर का स्लीपर निकालकर सिसकती हुई कस्तूरी पर फेंककर मारते हुए कहा—"दूर हो सामने से हरामज़ादी! अब

अभी मेरे महल से अपना मुँह काला कर। जा अपनी अम्मा के पास। अब मेरे यहाँ तेरा कुछ काम नहीं। जिसकी इतनी आव-भगत की थी, उसी के पास जा।"

कस्तूरी उठकर जान बचाने के लिये जी छोड़कर भागी।

अनूपकुमारी गुस्से से ताव-पेच खाती रही। क्रोध उसकी विवेक-शून्यता पर हँसने लगा।

(५)

माधवी को होश आए आज कई दिन हो चुके हैं, किंतु उसकी स्मरण-शक्ति किसी तरह वापस न आई। डॉक्टर हुसैनभाई ने बहुत यत्न किया, और फ़िज़ी के कई एक चतुर डॉक्टरों ने भी अर-सक कोशिश की, किंतु सब निष्फल गया। पंडित मनमोहननाथ को फ़िज़ी पहुँचे हुए दस दिन हो चुके थे। वह दक्षिणी अमेरिका जाने के लिये व्यग्र हो रहे थे, और इधर माधवी की दशा में कोई अंतर पड़ता नहीं दिखाई देता था।

राधा अपनी माता के पास चली गई थी, किंतु शीघ्र ही वापस आने का वचन दे गई थी। पंडित मनमोहननाथ के प्रति उसकी भक्ति जाग्रत् हो गई थी, और वह ऐसे बड़े आदमी का सहारा छोड़ने के लिये तैयार न थी। उसे उस नीच व्यवसाय से घृणा हो गई थी। उसने जहाज़ डूबनेवाली रात को, जब कैप्टेन एडमंड हिक्स का प्राणांत हुआ था, यह प्रतिज्ञा की थी कि गुलामों के व्यापार में सहायता करना छोड़, मेहनत-मज़दूरी कर अपना गुज़र करेगी। बाद में पंडित मनमोहननाथ के सत्संग से वह प्रतिज्ञा उत्तरोत्तर दृढ़ होती गई।

माधवी के प्रति अमीलिया का स्नेह उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था। उसकी असहाय दशा देखकर करुणा से उसका हृदय ओत-प्रोत हो जाता, और उसने अपने को उसकी सेवा-शुश्रूषा के लिये उत्सर्ग कर दिया। कैप्टेन अल्फ्रेड जैकब्स ने कोई आपत्ति नहीं की। उन्हें उसी में प्रसन्नता थी, जिसमें अमीलिया को आनंद मिले। उसकी कार्य-तत्परता देखकर पंडित मनमोहननाथ उसे पुत्री की भाँति

स्नेह करने लगे थे, और उसकी क्षमता लक्ष्य कर उसे अपनी नवीन संस्था का एक विशेष उत्तरदायित्व-पूर्ण भार सौंपने का विचार करने लगे।

दोपहर का समय था। आकाश शांत और निर्मल था। आज-कल दक्खिणी भाग में गरमी के दिन थे। भारत से बिलकुल उलटी ऋतु थी। वह गरमी ऐसी न थी, जो सहन न हो सके, या जैसी भारत में पड़ती है। समुद्र का जल-वायु उसे किसी क़दर सह्य बना देता है। पंडित मनमोहननाथ अपने बँगले के एक कमरे में लेटे हुए विचार-मग्न थे। पास ही स्वामी गिरिजानंद बैठे हुए वेदांत की एक पुस्तक मनन कर रहे थे। कुछ ईसाइयों ने उन्हें शास्त्रार्थ करने के लिये ललकारा था। स्वामीजी उसी की तैयारी में लगे थे। उनके सामने ईसाई-धर्म की कई पुस्तकें खुली पड़ी थीं।

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"स्वामीजी, आप क्या पूर्वजन्म पर विश्वास करते हैं, और उसका संबंध क्या इस जन्म से हो सकता है?"

स्वामी गिरिजानंद ने अपनी पुस्तक रखते हुए कहा—"इस विषय में हमारा-आपका वाद-विवाद पहले भी हो चुका है। पूर्वजन्म और पर-जन्म उसी तरह सत्य हैं, जैसे यह जन्म। परमात्मा का अद्भुत-अद्भुत रूप में कलेवर धारण कर तत्संबद्ध सुख और दुख भोग करना ही जन्म और मरण है। वास्तव में जन्म और मरण सत्य नहीं—दोनो एक हैं। चूँकि हमारे लिये समय का भेद है, इसलिये हम इन्हें दो नाम से पुकारते हैं, किंतु इस भेद को हटा दीजिए, जो वास्तव में सत्य नहीं है—माया है, तो हम समस्त ब्रह्मांड को एकाकार पावेंगे। समय और सीमा (Time and Space) का अनुभव यह शरीर और मस्तिष्कधारी आत्मा करता है। किंतु इस विचार से मुक्त होने पर—जिसे हम मोक्ष कहते हैं, वह प्राप्त होने

पर—यही भेद नष्ट हो जाता है, तब हम अपने को ब्रह्म कहते हैं।"

पंडित मनमोहननाथ ने विचारते हुए कहा—"जब सब एक है, और समय का भेद नष्ट करने से हमारा पूर्वजन्म, यह जन्म और पर-जन्म एक हो जाता है, तब हमें अपने पूर्वजन्म की बातें क्यों याद नहीं रहतीं ?"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"यही माया है। आत्मा माया-जाल में उसी समय फँस जाता है, जब वह कलेवर धारण करता है। शरीर धारण करने पर शरीर-संबंधी सब न्यूनताएँ और विशेषताएँ उसे घेर लेती हैं। चूँकि मनुष्य का ज्ञान सीमित है, अतएव वह इस जन्म के अतिरिक्त जन्म का स्मरण नहीं रख सकता। कभी-कभी यह देखने में आया है कि कुछ एक मनुष्यों को अपने पूर्वजन्म की सुध हो आई है, और उन्होंने अकाट्य प्रमाण देकर सिद्ध भी कर दिया है। यह स्मरण किसी एक विशेष अवस्था में होता है, जब मनुष्य के मस्तिष्क में आत्मिक ज्ञान का विकास होता है। आत्मा के विकास से मेरा यह तात्पर्य है कि जब आत्मा अपने इस जन्म-संबंधी विचारों को भूलकर किसी पूर्वजन्म के विचारों में लीन हो जाता है, उस समय उसे इस जन्म का ज्ञान नहीं रहता—वह अपने को पूर्वजन्म का ही मनुष्य मानता रहता है। कोई-कोई हममें से इसे उन्माद भी कहते हैं। उन्माद कहने का एक यह भी कारण है कि हम उसका कहना सत्य नहीं मानते, और उसके मस्तिष्क का विकार या तज्जनित भ्रम कहकर टाल देते हैं।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"पूर्वजन्म का स्मरण क्या मनुष्य-मात्र को हो सकता है, या होता ही नहीं ?"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"स्मरण के साथ संकल्प और विकल्प

निहित रहता है, इसी से हमें अगर पूर्वजन्म का स्मरण भी हो, तो हम उसे सत्य नहीं मानते। थोड़ी देर के लिये आप एकाग्र-चित्त होकर बैठ जायँ, और इसी जन्म की कोई विगत घटना स्मरण करें। आप अगर वास्तव में एकाग्र-चित्त हैं, तो इस समय की अवस्था, स्थान, सब आपको विस्मृत हो जायँगे, और केवल वे ही काल, स्थान और अवस्था सत्य रूप में दृष्टिगोचर होंगे। इसी भाँति जब आत्मा किसी कारण-विशेष से अपने किसी जन्म की घटनाओं की स्मृति में निमग्न हो जाता है, तब उसे उसी का ज्ञान-मात्र रहता है, और इस काल की घटनाओं को भूल जाता है। जब तक मन आत्मा पर शासन करता है, तब तक ऐसा होना असंभव है, क्योंकि मन का संबंध केवल इसी जन्म के शरीर से है।"

पंडित मनमोहननाथ कुछ सोचने लगे।

स्वामी गिरिजानंद ने मुस्किराते हुए पूछा—"आज क्या कारण है, जो पूर्वजन्म की समस्या पर विचार करने लगे?"

पंडित मनमोहननाथ ने उत्तर दिया—"ऐसी कोई विशेष बात तो नहीं है, यों ही पूछ बैठा।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"हरएक वस्तु का कुछ कारण होता है, यह निर्विवाद है। आपकी इस इच्छा का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"मुझे कभी-कभी ऐसा मालूम होता है कि मेरे लिये यह संसार एकदम नया नहीं है। कोई-कोई वस्तु देखकर यह सोचने लग जाता हूँ कि इसे कहीं अवश्य देखा है—किंतु ठीक स्मरण नहीं होता। इसी से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि शायद पूर्वजन्म था, और आगे भी जन्म होगा।"

स्वामी गिरिजानंद ने प्रसन्नता से उछलकर कहा—"बस, बस, इसी में पूर्वजन्म का रहस्य छिपा हुआ है। जिस वस्तु से आत्मा

का परिचय हो जाता है, उसे वह मन के प्रभाव से मुक्त होकर पहचानता है, परंतु मन का प्रभाव संपूर्णतया नष्ट नहीं होता, इस-लिये वह स्थान और काल का स्मरण नहीं कर पाता। मन के दो सहचर संकल्प और विकल्प तत्क्षण प्रकट होकर आत्मा को अपने जाल में पुनः फँसा लेते हैं।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"ठीक यही हालत उस समय मेरी हो जाती है। एक भाव कहता है कि 'देखा है', दूसरा उसी क्षण कह उठता है कि 'भ्रम है।' बस, इसी विवेचना में पड़ जाता हूँ। ठीक से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचता।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"आप निष्कर्ष पर पहुँच कैसे सकते हैं। इस जन्म के शरीर के स्वामी मन के दो सहचर कब आपको अपने प्रभाव से मुक्त होने देंगे। जब तक यह शरीर है, तब तक वे अमर हैं, और सर्वविजयी भी हैं।"

इसी समय अमीलिया ने आकर कहा—"माधवी किसी तरह नहीं मानती, वह बार-बार भागने की कोशिश करती है।"

पंडित मनमोहननाथ तुरंत उठ बैठे, और कहा—"चलो, मैं अभी आता हूँ।"

फिर स्वामी गिरिजानंद से कहा—"इस अभागिन बालिका की ओर मेरा मन अपने आप खिंचता जाता है। न-मालूम क्यों इससे मैं इतना आकर्षित हो गया हूँ। इसको बचाने के लिये मैं अपना सर्वस्व देने में तिल-मात्र संकोच न करूँगा।"

स्वामी गिरिजानंद ने मुस्किराते हुए कहा—"शायद पूर्वजन्म का कोई संबंध हो।" उनकी बात सुनकर वह भी मुस्किराने लगे।

अमीलिया चली गई, और उसके पीछे-पीछे वह भी माधवी को देखने के लिये चले। माधवी का शरीर सूखकर कंकाल-सरीखा हो गया था। उसके शरीर पर नवयौवन के आगमन के सब चिह्न इस

प्रकार नष्टप्राय हो गए थे, जैसे पनपता हुआ वृक्ष तुषार से जर्जरित हो जाता है। किंतु उसके मुख पर एक अप्रतिम प्रभामय ज्योति थी, उसके आयत लोचनों से सरलता और पवित्रता का प्रकाश निकलता था, जो हृदय में करुणा तथा दया का संचार करता था।

पंडित मनमोहननाथ को देखकर डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"मैंने आपसे कहा था कि मरीज़ अगर अच्छा हो जायगा, तो वह पागल हो जायगा, क्योंकि उसके दिमाग़ में जिस ज़ोर का धक्का पहुँचा है, उससे या तो उसकी फ़ौरन् मृत्यु हो जाय, या अगर बचे, तो पागल होकर ज़िंदगी बसर करे। मुझे तो अब पागलपन के सभी निशान मालूम होते हैं। अभी तक यह बोलती नहीं रही, जिससे मैं समझता था कि शायद अच्छी हो जाय, लेकिन आज जब बोली है, तो इसे अपनी पिछली बातें एकदम भूल गई हैं। याददाश्त का बिगड़ना दिमाग़ की ख़राबी का निशान है।"

जब से पंडित मनमोहननाथ उस कमरे में आए थे, उस वक़्त से माधवी उन्हें निर्निमेष दृष्टि से देख रही थी। वह भी उसे पितृ-स्नेह से देख रहे थे।

उन्होंने एक कुरसी पर उसके समीप बैठकर पूछा—"क्यों, कैसी तबियत है बेटी?"

उनका स्वर वात्सल्य से ओत-प्रोत था।

माधवी ने उनकी ओर उस तरह देखा, जैसे कोई मनुष्य किसी अनजान को पहचानने का प्रयत्न करता है।

माधवी ने धीमे स्वर में कहा—"आपको तो मैं नहीं पहचानती। कभी देखा है, यह भी याद नहीं पड़ता। फिर आप मुझे बेटी क्यों कहते हैं?"

पंडित मनमोहननाथ ने मुस्किराकर कहा—"अच्छा, तुमको बेटी न कहकर माता कहूँगा, हिंदू-धर्म में तो दोनो पूजनीय हैं।"

माधवी ने कुछ सोचते हुए कहा—"हाँ, मैं एक बच्चे की मा ज़रूर हूँ। वह तो मेरी लड़की है, मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। तुम लोगों ने क्या उसे भी मेरी तरह मार डाला है? मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ, उसको वापस कर दो। वह अभी आते होंगे, तुम जो कुछ माँगोगे, उनसे कहकर दिला दूँगी।"

माधवी चुप होकर किसी विचार में पड़ गई।

डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"देखा आपने, यह सब प्रलाप है। दिमाग़ ख़राब जाने पर विचारों में स्थिरता नहीं रहती। अब इसको किसी पागलख़ाने में भेज दीजिए।"

पंडित मनमोहननाथ ने सक्रोध कहा—"यह कभी नहीं हो सकता। प्रथम तो यहाँ कोई विश्वसनीय पागलख़ाना नहीं, दूसरे मैं अपने आश्रित को इस तरह त्याग नहीं सकता। इसकी हालत क्या पागलख़ाना भेजने क़ाबिल है? आपको मैंने केवल इसके लिये ही नियुक्त किया है। अगर इसका इलाज करने की आप में क्षमता न हो, तो कहें, मैं दूसरा प्रबंध करूँ।"

उनका स्वर तिरस्कार से पूर्ण था, जिससे सब लोग चकित होकर उनकी ओर देखने लगे।

डॉक्टर हुसैनभाई ने सिर नत कर सविनय उत्तर दिया—"मैंने केवल आपकी सुविधा और परेशानी के लिहाज़ से कहा था, वरना ऐसी गुस्ताख़ी न करता। मैं इलाज करने से घबराता नहीं, यह तो मेरा पेशा है।"

उनके स्वर में आत्माभिमान का भी रंग चढ़ा हुआ था।

पंडित मनमोहननाथ ने शांत होते हुए कहा—"ठीक है, यह आपको मालूम हो जाना चाहिए कि यह लड़की यतीम नहीं है—कम-से-कम जब तक मैं जीवित हूँ, यतीम कही जाने योग्य नहीं। इसका संरक्षक, इसका अभिभावक, जो कुछ भी कहें, मैं हूँ।"

उनके स्वर में चेतावनी के साथ अभिमान मिला हुआ था।

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"अभिभावक का पद पिता के तुल्य होता है। दरअसल इस अभागिन का आपके अतिरिक्त दूसरा सरपरस्त कौन है?"

पंडित मनमोहननाथ ने तीव्र स्वर में कहा—"स्वामीजी, यह अभागिन नहीं। इसका सौभाग्य इसकी इसी विक्षिप्तावस्था में छिपा हुआ है।"

स्वामी गिरिजानंद ने कोई उत्तर नहीं दिया।

माधवी कहने लगी—"देखो, शाम हो रही है, उनके आने का समय हो गया है। हाय, मैं क्या करूँ? मुझमें उठने की शक्ति नहीं। उनके जलपान के लिये क्या प्रबंध किया जाय?"

पंडित मनमोहननाथ शांत होकर, बड़े ग़ौर से उसका प्रलाप सुन रहे थे।

उन्होंने स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"तुम घबराओ नहीं, अगर वह आवेंगे, तो मैं उनके जलपान का प्रबंध कर दूँगा, माधवी!"

माधवी ने धीमे स्वर में पूछा—"माधवी किसका नाम है?"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"तुम्हारा नाम है।"

माधवी ने चकित होकर कहा—"मेरा नाम माधवी है!"

यह कह वह बड़े वेग से हँस पड़ी। उसकी हँसी में विचित्रता का आभास था।

हँसने के बाद उसने कहा—"मेरा नाम माधवी तो नहीं है। हाँ, तुम कैसे मेरा नाम जानोगे? मुझे तो तुम लोग चुराकर लाए हो। तुमने मेरा वियोग मेरे पति और मेरी बच्ची से कराया है। बोलो, तुमने उन्हें कहाँ छिपा रक्खा है? क्या वे लोग इसी घर

में कहीं है ? मैं अपनी बच्ची, अपनी रानी की आवाज़ सुन रही हूँ। भूख से वह रो रही है। उसे दूध पिलाए बहुत वक्त बीत गया। उसे मेरे पास ले आओ। तुम्हारे पैर पड़ती हूँ, मेरी बच्ची मुझे वापस कर दो, उसके बदले मेरी जान ले लो। मैं उफ़ भी न करूँगी......"

यह कहकर माधवी रोने लगी।

पंडित मनमोहननाथ ने उसे सांत्वना देते हुए कहा—"तुम सब्र करो, रोओ नहीं, अभी-अभी तुम्हारी बच्ची तुम्हारे पास ले आऊँगा। तुम्हारी तबियत ज़्यादा ख़राब है, इसलिये उसे दूर हटा दिया है। अभी बुलाए लेता हूँ। तुम रोना बंद करो।"

माधवी ने सिसकियाँ लेते हुए कहा—"तुम मुझे बहलाते हो, तुमने मेरी बच्ची का ख़ून कर डाला है। तुम ख़ूनी हो, मैं तुमको पुलिस में पकड़ा दूँगी। मेरी बच्ची, मेरी बच्ची......"

माधवी फिर दूने वेग से रोने लगी।

पंडित मनमोहननाथ उसे अनेक भाँति से धैर्य बँधाने का प्रयत्न करने लगे।

डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"पंडितजी, आप परेशान न होइए, यह सचमुच पागल हो गई है। इसका इलाज होने पर अपने होश-हवास में आएगी। आप जितना इसे धैर्य देंगे, उतना रोएगी। अब आप तशरीफ़ ले जाइए, और कोई फ़िक्र न करें। कुछ ही दिनों में इसे मैं बिलकुल ठीक कर दूँगा।"

पंडित मनमोहननाथ ने जाते हुए अमीलिया से कहा—"अमीलिया, मुझे तुम्हारे ऊपर पूर्ण विश्वास है। तुम मनुष्य-रूप में देवी हो। तुम्हारे हाथ से किसी का अकल्याण नहीं हो सकता। माधवी का भार तुम्हारे ऊपर है।"

अमीलिया ने शांत स्वर में कहा—"आप बेफ़िक्र रहें। भगवान्

सब कल्याण करेंगे। सेवा करना मेरे अख़्त्यार है, और अच्छा करना सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के।"

स्वामी गिरिजानंद ने कहा—"भगवान् सब मंगल करेंगे। तुम्हारी-जैसी देवी की निःस्वार्थ सेवा कभी वृथा न जायगी।"

पंडित मनमोहननाथ ने प्रसन्नता से उनकी ओर देखा, और धीरे-धीरे कमरे के बाहर हो गए।

डॉक्टर हुसैनभाई दूसरी दवा बनाने लगे। अमोलिया माधवी के सिरहाने बैठकर उसके रूक्ष केशों पर भगिनी के स्नेह से हाथ फेरने लगी, और माधवी आँख बंद कर अपने विचारों की माला पिरोने लगी।

---

(६)

रात्रि के आठ बजनेवाले थे। उस दिन कार्त्तिक-मास की पूर्णमासी थी। मेघ-राशि का चंद्रमा धवल प्रकाश का पुंज लिए, अपनी सोलहो कला से उदय होकर, अवनी-तल को रजनीगंधा-जैसा श्वेत बनाने का प्रयत्न कर रहा था। वह दक्षिणी अर्ध भू-भाग को मनोमोहक शीतलता प्रदान कर रहा था, क्योंकि दिन के प्रचंड उत्ताप से क्षिज्ञी पीड़ित हो गया था। उस दिन सत्य ही बहुत गरमी थी। अमीलिया तमाम दिन उस ज्वाला से क्लांत होकर मन बहलाने के लिये बाग़ में चली आई। चंद्रिका उसके शरीर की कांति से प्रतिद्वंद्विता करने के लिये आगे बड़े उत्साह से बढ़ी, किंतु लज्जित होकर वायु-वाहन पर विहार करते हुए एक बादल के टुकड़े की ओट में छिप गई। निशा उसका मान भंग होते देख हर्ष से उन्मत्त होकर, अमीलिया को आशीर्वाद देकर, उसके गत जीवन की स्मृतियाँ उभारने लगी। उसे क्या मालूम था कि उससे उसे पीड़ा होगी ; जैसे पूँजीपति अभागे श्रमजीवियों के कष्टों का अनुमान नहीं करते, और अपने स्वार्थ के लिये उनके ख़ून का मूल्य पानी से भी कम समझते हैं। अमीलिया ख़ून के आँसू गिराने लगी। उसके सामने वही घर था, वही उद्यान था, जिसमें वह एक दिन पक्षियों की-सी बेफ़िक्री से आनंद में मग्न, सीटी बजाती हुई, सोहाग, प्रेम और शृंगार का भार लिए, उमंगों की फुलवारी में स्वच्छंद घूमती-फिरती थी, किंतु आज वह सब नष्ट हो गया था। उसकी कल्पना करना केवल मूर्खता थी। धीरे-धीरे घूमती हुई वह उसी लताकुंज के समीप आकर खड़ी हो गई, जहाँ

उसके जीवन के—प्रथम प्रेम के सुनहले दिन बीते थे। पुरानी बातों की स्मृति उसकी चुटकियाँ लेने लगी। वह तड़पने लगी, किंतु तड़प-तड़पकर पुनः उन दिनों की याद करने लगी। मनुष्य अपने अतीत काल के आनंद-दिवस की स्मृति कभी नहीं भुला सकता। इसी रहस्य में उसका मनुष्यत्व छिपा हुआ है।

अमीलिया बैठी हुई आँसू बहा रही थी। डॉक्टर हुसैनभाई भी घूमते हुए वहाँ अकस्मात् आ गए। दूर से अमीलिया को बैठा देखकर वह उसी ओर आने लगे। अमीलिया अपने ध्यान में मग्न थी। उसे बाह्य संसार की कुछ चिंता न थी। वह अपनी पुरानी दुनिया में विचर रही थी। उसने डॉक्टर हुसैनभाई की पद-ध्वनि नहीं सुनी।

उन्होंने उसके निकट आकर कहा—"कौन, मिस जैकब्स! वाह, यह मेरा सौभाग्य है, जो आपके दर्शन हो गए। मैं भी अकेला बहुत घबराता था।"

अमीलिया की चेतना जागी। उसने चौंककर भीत दृष्टि से डॉक्टर हुसैनभाई की ओर देखा। चंद्रमा सहमकर उसकी आँखों से गिरती हुई मोतियों की लड़ी छिपाने के लिये बादलों की ओट हो गया, लेकिन दो बड़े-बड़े दाने उसकी आँखों की कोर में लगे रह गए। डॉक्टर हुसैनभाई ने उन्हें देख लिया, और वह भी चंद्रमा की भाँति उसकी ओर सभीत देखने लगे। अमीलिया ने उन्हें पुनः सयत्न अपने हृदय के ख़ज़ाने में छिपा लिया।

डॉक्टर हुसैनभाई ने सहानुभूति के साथ कहा—"मैं आपके निजी मामलों में किसी प्रकार की दस्तंदाज़ी करने का अधिकार नहीं रखता। फिर भी एक मित्र के नाते, मनुष्य के नाते, सिर्फ़ यह प्रार्थना करता हूँ कि अगर मैं आपका कुछ उपकार कर सकता होऊँ, तो आप तुरंत कहें। मैं आपका कष्ट दूर करूँगा।"

अमीलिया अब तक अपने मन का उफान शांत कर चुकी थी। उसने अपने सहज मृदु स्वर में कहा—"धन्यवाद, डॉक्टर! मुझे कोई दुख नहीं है।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने कुछ देर बाद कहा—"शायद आपको मेरे आने से कुछ कष्ट हुआ, और आपकी विचार-धारा में कुछ ख़लल पहुँचा है। मैं इसकी क्षमा चाहता हूँ, और अब जाता हूँ।"

डूबते हुए आदमी को जब कुछ आधार मिल जाता है—चाहे वह कितना ही क्षीण और कमज़ोर क्यों न हो—वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। अमीलिया भी उनको छोड़ना नहीं चाहती थी।

उसने कातर कंठ से कहा—"नहीं, डॉक्टर, आप ठहरिए। आपके आने से मुझे प्रसन्नता हुई है। देखिए, आज की चाँदनी कैसी मनोहर है।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने ठहरकर कहा—"हाँ, चाँदनी बड़ी निर्मल और सुख-प्रद है। दरअसल इसका मज़ा गरमी के महीने में ही आता है, जब इंसान बेफ़िक्री से खुली हवा में घूम सकता है।"

अमीलिया ने उत्तर दिया—"हाँ, चाँदनी का मज़ा खुले समुद्र में ख़ूब आता है, जब चंद्रमा को देखकर लहरें वेग से उठती और गिरती हैं। समझ में नहीं आता, चंद्रमा और समुद्र में क्या संबंध है?"

डॉक्टर हुसैनभाई ने मुस्किराते हुए कहा—"वही संबंध है, जो प्रेमी और प्रेमिका में होता है।"

अमीलिया मुस्किराने लगी।

डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"मैं आजकल कवि होने का अभ्यास करता हूँ। आप तो पुरानी कवयित्री हैं, कहिए, उपमा कैसी है?"

अमीलिया ने मुस्किराकर कहा—"एक नवीन प्रेमी के लिये सर्वथा उपयुक्त है।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने रसिकता के साथ कहा—"नवीन प्रेमी का

प्रेम तिरस्कार करने योग्य नहीं होता। उसमें उमंगों और भावनाओं का गुरु भार होता है।"

अमीलिया ने मलिन हँसी के साथ कहा—"किंतु उनमें स्थिरता का अभाव होता है, विशेषकर पुरुषों के प्रेम में।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने हलकी मुस्किराहट से कहा—"आज तक मेरी समझ में यह बात नहीं आई कि आप पुरुषों के इतनी ख़िलाफ़ क्यों हैं?"

अमीलिया ने उत्तर दिया—"मैं उनके ख़िलाफ़ नहीं, उनके प्रेम के ख़िलाफ़ ज़रूर हूँ। पुरुष-जाति बड़ी स्वार्थी है। पुरुष केवल अपना स्वार्थ देखता है, और हर तरह से एक अभागिनी स्त्री-जाति को समूल नष्ट करने के लिये कटिबद्ध रहता है। इसी में वह अपना शौर्य और साहस समझता है।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने अस्थिरता से कहा—"आपका ख़याल सरासर ग़लत है। क्या नाइट्स के क़िस्से दोहराने पड़ेंगे, जो अपनी जान स्त्रियों की रक्षा के हित हथेली पर लिए घूमा करते थे। आज-दिन भी स्त्रियों का स्थान समाज में पुरुषों की अपेक्षा ऊँचा है।"

अमीलिया ने व्यंग्य के साथ कहा—"स्थान उच्च है? यह भी एक सुनहला जाल है हमारी स्त्री-जाति को फाँसकर उनका गला काटने के लिये। इस आदर और सम्मान की ओट में उनका भयंकर, तीक्ष्ण पंजा हमें दबोचने के लिये तैयार रहता है। हाथी के दाँत दिखाने के दूसरे होते हैं, और खाने के दूसरे।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने दुःखित स्वर में कहा—"आपके मन में इतना द्वेष है, जिसका मैं किसी भाँति निवारण नहीं कर सकता। मेरे कहने और प्रमाण देने का कोई असर नहीं पड़ सकता।"

अमीलिया ने विजयोल्लास से कहा—"सत्य छिपाने का प्रयत्न करना सदैव हास्य-प्रद होता है। यदि मैं पुरुषों की बेवफ़ाई

के कारनामे खोलूँ, तो आपको भी, हालाँकि आप पुरुष हैं, इस पुरुष-जाति से घृणा होगी। शायद आप स्वयं अपने से घृणा करने लगें।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने मुस्किराते हुए कहा—"आप माफ़ कीजिए, बख़्शिए। मैं नत-मस्तक होकर आपका कथन स्वीकार करता और मंज़ूर करता हूँ। दरअसल पुरुष-जाति कठोर-हृदय और ख़ुद-ग़रज़ है। इसे स्त्रियों का ग़ुलाम बनाकर सदियों रक्खा जाय, तो शायद इसका फिरा हुआ दिमाग़ क़ाबू में आवे। और, सबसे पहले मैं ग़ुलामी के दस्तावेज़ पर दस्तख़त करने को तैयार हूँ।" यह कहकर वह हँसने लगे, और अमीलिया भी हँस पड़ी।

डॉक्टर हुसैनभाई ने उसकी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखा, कुछ कहने को उद्यत हुए, लेकिन कुछ सोचकर कहते-कहते रुक गए। अमीलिया ने उनके मन का संकोच देखकर कहा—"कहिए, आप क्या कहने जा रहे थे ?"

डॉक्टर हुसैनभाई ने इतस्ततः करते हुए कहा—"नहीं, कोई ऐसी ख़ास बात नहीं।"

अमीलिया ने उनका साहस बढ़ाते हुए कहा—"आपको कहना होगा।"

अमीलिया इस अधिकार-प्रदर्शन से स्वयं चकित हो गई, और डॉक्टर हुसैनभाई की अंतरात्मा प्रसन्नता से उमँग उठी।

उन्होंने सिर नत करके कहा—"एक बात पूछने की इच्छा है, किंतु साहस नहीं होता।"

अमीलिया ने कहा—"ऐसी कौन-सी बात है ?"

उसके स्वर में उत्सुकता थी।

डॉक्टर हुसैनभाई ने मंद स्वर में पूछा—"मैं सिर्फ़ यह पूछना चाहता हूँ कि क्या आपने कभी प्रेम किया है ?"

अमीलिया उनकी ओर त्रस्त दृष्टि से देखने लगी। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"आप यह ख़याल न कीजिए कि मैं आपकी गुप्त बातें जानना चाहता हूँ, या किसी बुरी अभिसंधि से पूछता हूँ। अगर आप मेरा विश्वास करें, तो अपने दिल का भेद कहें। अपनी तरफ़ से तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं एक सच्चे मित्र की तरह आपकी सहायता करूँगा, और आपके दुख में शरीक होकर उसे यथाशक्ति कम करने की कोशिश करूँगा।"

अमीलिया दृष्टि नत करके पृथ्वी की ओर देखती रही। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

डॉक्टर हुसैनभाई कहने लगे—"मैं कई दिनों से देख रहा हूँ, और आपको समझने की कोशिश कर रहा हूँ। मुझे मालूम होता है, आप किसी अकथनीय दुख से दबी जा रही हैं, और वह दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है। यह तकलीफ़ और ज़्यादा है, क्योंकि आप किसी से अपना दुख कह नहीं सकतीं, यानी दूसरे शब्दों में आपका कोई मित्र नहीं। दुख अगर अपने मन में ही रक्खा जाय, तो असह्य हो जाता है, किंतु उसे किसी सहृदय मित्र से कहने से उसकी वेदना की उग्रता किसी क़दर कम हो जाती है। आप मुझे अपना मित्र समझें, और निस्संकोच अपना दुख प्रकट करें।"

अमीलिया फिर भी कुछ न कह सकी, केवल सिर झुकाए कुछ सोचती रही।

डॉक्टर हुसैनभाई ने आश्वासन देते हुए कहा—"शायद आप यह सोच रही हैं कि यह डॉक्टर भी तो पुरुष-वर्ग का एक व्यक्ति है। इससे भी मैं किसी तरह की अच्छाई की उम्मीद नहीं कर सकती। मैं पुनः आपको यक़ीनी दिलाता हूँ कि मैं नीच-हृदय नहीं

हूँ। स्त्रियों की क़दर करता हूँ, और उनके अधिकारों पर ज़ोर या ज़ुल्म नहीं करना चाहता। हालाँकि मैं मुसलमान हूँ, लेकिन स्वतंत्र विचारों का हूँ। मेरे जीवन के अधिक साल इँगलैंड में गुज़रे हैं—वहीं के प्रभावों से मेरे जीवन के विचार और आदर्श बने हैं। आप किसी तरह का अणु-मात्र मेरे ऊपर संदेह न करें। मैं आपको कभी धोखा न दूँगा।"

अमीलिया फिर भी उत्तर देने का साहस न कर सकी।

डॉक्टर हुसैनभाई कहने लगे—"अफ़सोस है, आप मेरा भरोसा नहीं करतीं। मैं इससे ज़्यादा कह भी नहीं सकता। आप मेरी परीक्षा करें; यदि आपको कभी मेरे ऊपर यक़ीन हो जाय, भरोसा आ जाय, तो अपने दुखों का हिस्सेदार बना लीजिएगा। मैं आपको अब अधिक विरक्त नहीं करना चाहता। केवल इतना कह देना चाहता हूँ कि आप मुझे अपना मित्र समझिएगा, और मैं हमेशा आपकी सेवा के लिये तैयार हूँ।"

यह कहकर डॉक्टर हुसैनभाई सवेग चले गए। अमीलिया को साहस न हुआ कि वह कुछ कहे, या उन्हें रोके। उसके सामने एक नया प्रश्न उपस्थित था, जिसकी दुरूहता उसे कुछ दूसरा काम करने को अवकाश न देती थी। वह सिर नत करके नवीन विचार में मग्न हो गई। चंद्रमा अब भी आकाश में मंद गति से झूमता हुआ पश्चिम की ओर प्रयाण कर रहा था, वायु अब भी अपनी शीतलता से संसार को आह्लादित कर रही थी, और चंद्रिका अवनि के साथ अब भी क्रीड़ा कर रही थी, परंतु अमीलिया अपने जीवन की गत घटनाओं को भूलने का नया प्रयत्न करने लगी।

---

(७)

अमीलिया टेनिस खेलने लगी। डॉक्टर हुसैनभाई के बहुत कहने-सुनने और पंडित मनमोहननाथ के अनुरोध से वह खेल के मैदान में उतर पड़ी। उसके प्रतिद्वंद्वी थे डॉक्टर हुसैनभाई। वह भी किसी ज़माने में अच्छे खिलाड़ी थे, लेकिन अभ्यास न रहने से कुछ कमज़ोर पड़ते थे। अमीलिया ने जो पहले नाम कमाया था, अब उसकी छाया-मात्र थी। दोनों अपने-अपने पुराने दाँव-पेंच स्मरण कर दूसरे को हराने की चेष्टा कर रहे थे।

खेल ख़त्म होने पर पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"अमीलिया, अब तो उतना अच्छा नहीं खेलती, जैसा पहले खेलती थी। तुम्हारे खेलने की शक्ति में यह ह्रास क्यों ?"

डॉक्टर हुसैनभाई ने मुस्किराते हुए कहा—"आप ह्रास कहते हैं, लेकिन मुझे तो पुराने दिन याद आ गए, जब मैं इँगलैंड में टेनिस खेला करता था। मैंने बहुत कोशिश की, लेकिन मिस जैकब्स को हरा नहीं सका।"

पंडित मनमोहननाथ ने कहा—"डॉक्टर, अमीलिया आज तो अपने पुराने खेल का शतांश भी नहीं खेलती। आपको पहले खेल का अंदाज़ा नहीं। पाँच-छः साल हुए, जब अमीलिया ने सारे आस्ट्रेलिया की स्त्री-खिलाड़ियों को हराकर विजय का सेहरा अपने सिर पर बाँधा था। अब तो वह खेलना बिलकुल भूल गई। आपको शायद उस टेनिस-मैच की याद नहीं, जो न्यूज़ीलैंड और आस्ट्रेलिया में हुआ था। ठीक है, आपको कैसे याद रह सकता है। आप तो उस ज़माने में उत्तरीय भू-खंड में हमसे बहुत दूर रहते

होंगे। यह हमारा देश समस्त विश्व से न्यारा है, जिससे कोई संपर्क नहीं रक्खा जा सकता।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"ख़ैर, अब मुझे हारने का कुछ रंज नहीं रहा, क्योंकि मैं अगर हारा, तो एक पुरानी 'चैंपियन' से, जिससे हारने में भी जीत है।"

पंडित मनमोहननाथ हँसने लगे, और अमीलिया शरमा गई।

पंडित मनमोहननाथ ने स्वामी गिरिजानंद के साथ बँगले के अंदर जाते वक्त कहा—"आइए डॉक्टर, हम लोग रोगी के कमरे में चलें।"

यद्यपि डॉक्टर की इच्छा जाने की न थी, किंतु बाध्य होकर जाना पड़ा।

अमीलिया अकेली रह गई। एकांत पाकर उसके मन की भावनाएँ जाग्रत् होने लगीं। वह सोचने लगी—"पंडितजी कहते हैं, मेरा खेल बिगड़ गया, और मैं कहती हूँ, मेरा जीवन बिगड़ गया। उस समय खेलने की उमंग थी, लगन थी, उत्साह था, वह समय ही दूसरा था—उस वक्त तो मेरे मन में भी आशाओं के सुनहले महल बन रहे थे, मैं इच्छाओं के घोड़े पर सवार होकर बेलगाम दौड़ रही थी। किंतु अब क्या अवशेष रह गया है—उनकी राख भी तो बाक़ी नहीं। सब कुछ नष्ट हो गया है। आश्चर्य तो यही है कि मैं अभी तक जीवित हूँ।

"मैं क्या अभी सुखी नहीं हो सकती, वही पुराना उत्साह, वही साध, वे ही इच्छाएँ, वे ही उमंगें क्या फिर पैदा नहीं हो सकतीं? क्या प्रेम की सुमधुर वंशी का मतवाला करनेवाला गीत नहीं सुन सकती? क्या मैं इस मुरदापन को हटाकर जीवन की तरल तरंगों में स्नान नहीं कर सकती? क्या मेरे सुख-स्वप्न हमेशा के लिये नष्ट हो गए? मैं असमय वृद्ध क्यों हो गई? मैं प्रेम, प्रेम की लकीर पीटकर पागल हुई जा रही हूँ, और वह निर्दय आनंद की मल्लारें

गा रहा है। मैं अपना जीवन नष्ट कर रही हूँ, और वह विवाह के लिये तैयार हो रहा है! कितना विरोध है। हम दोनो उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव की भाँति विपरीत हैं।

"मैं अपने को इस तरह नष्ट नहीं करूँगी। इस पागलपन के भूत से, चाहे जैसे हो, अपना पिंड छुड़ाऊँगी। संसार में आई हूँ, तो संसार के सुखों का उपभोग करूँगी। किसके लिये इन सबको त्याग दूँ। इन्हें त्याग देने से मुझे कौन वाहवाही मिल जायगी। अपनी चिंताओं की चिता में व्यर्थ जलना होगा। मैं अब इस पथ का त्याग करूँगी। भारतेंदु को भूल जाऊँगी, और भूल जाऊँगी अपना दुःखमय अतीत। अतीत की विस्मृति और भविष्य की चिंता-त्याग में वर्तमान जीवन का आनंद है।

"संसार एक क्रीड़ास्थल है, जीवन एक खेल है, और हम खिलाड़ी हैं। हार और जीत के द्वंद्व का नाम खेल है। सफलता और विफलता प्रत्येक खेल के साथ सन्निहित है, अतएव जीवन में कभी सफलता मिलती है, तो कभी विफलता। विफलता साफल्य का प्रथम रूप है। जब विफलता मिली है, तो सफलता भी अवश्य मिलेगी। अपनी हार के गीत अविराम रूप से गाना मनुष्यत्व नहीं। यह तो निष्कर्म का लक्षण है। मैं तो सत्य ही निष्कर्म और कमज़ोर हो रही हूँ। अंत में सफल वही होता है, जो बार-बार गिरता है। मैं सफलता प्राप्त करूँगी।

"यह पुराना जामा त्यागकर कर्मिष्ठ का नया चोग़ा पहनूँगी। पंडितजी नया उपनिवेश बसा रहे हैं। उन्होंने मुझे एक पद पर प्रतिष्ठित करने का विचार किया है। मैं उसमें काम करूँगी। समता का रूप ही अनोखा होगा। वह एक आदर्श जीवन होगा— एक नया प्रवाह होगा। साम्य संसार का वह ढाँचा होगा, जिस पर भविष्य का साम्यवाद अपना असली रूप देखेगा। वह ईश्वर के

आशीर्वाद से अमर रहेगा, और उसे बनानेवाले भी अमर रहेंगे। उन्होंने बड़ी विशाल कार्य-प्रणाली बनाई है, जिसमें जीवन के प्रत्येक अंग का पूर्ण विकास देखने को मिलेगा, और सांसारिक जीवन के प्रत्येक पहलू का समीकरण होगा। बस, मेरे जीवन का यही कार्य-क्रम होगा। और, आज से भूल जाऊँगी अपना पुरातन बीभत्समय इतिहास।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने उसी समय वहाँ आकर उसके आवेश-पूर्ण अंतिम शब्द सुन लिए थे। उसके प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा—"ज़रूर, ज़रूर।"

अमीलिया भीत दृष्टि से उनकी ओर देखने लगी।

डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"आप घबराइए नहीं, मैंने आपके सारे उद्गार नहीं सुने, सिर्फ़ अख़ीर के शब्द सुने हैं। मैं आपका भेद जानने के लिये आकुल नहीं हूँ। मेरी अभिलाषा तो केवल आपको सुखी करने की है। जिस दिन आपके चेहरे पर हँसी के चिह्न देखूँगा, वही दिन मेरी ज़िंदगी में ईद का दिन होगा।"

अमीलिया ने मलिन स्वर से कहा—"आप ऐसा क्यों चाहते हैं?"

डॉक्टर हुसैनभाई ने कहा—"क्या कह ही दूँ। हाँ, कहने में ही मेरा कल्याण है। ज़रूर कहूँगा, यह मौक़ा केवल सौभाग्य से प्राप्त होता है। अमीलिया, मेरी प्यारी अमीलिया, मैं तुम्हें अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करता हूँ। मेरा प्रेम इतना ऊँचा है, जितना आकाश; इतना गंभीर है, जितना सागर; इतना विशाल है, जितना ब्रह्मांड; इतना बलवान् है, जितना पवन; इतना सहन-शक्तिवाला है, जितनी पृथ्वी; इतना प्रदीप्त है, जितना अनल। तुम विश्वास नहीं करोगी, देख लो, मेरा हृदय चीरकर देख लो। तुममें मैं एक आकर्षण पाता हूँ, जिससे निरंतर, अविराम रूप से,

खिंचता चला आता हूँ। मैंने क्या अपने से युद्ध नहीं किया, क्या अपनी भावनाओं को दबाने का प्रयत्न नहीं किया है, क्या अपने मन के उद्दाम प्रवाह को रोकने के लिये तर्कों और युक्तियों का बाँध नहीं बाँधा? किंतु सब निष्फल हुआ, सब बेकार हुआ। मैं उत्तरोत्तर तुम्हारी ओर खिंचता गया हूँ। यहाँ तक कि आज सचमुच भावों का सैलाब आ गया है, जिसमें विवेक के सब प्रति-बंध टूटकर गिर पड़े हैं, और मैं तुम्हारे सामने नत-जानु होकर प्रेम की भिक्षा माँगता हूँ।"

वह दूसरे क्षण अमीलिया के सामने नत-जानु हो गए। उन्होंने उसका हाथ पकड़कर उसे अपने प्रेम के उद्‌गार से अंकित करना चाहा, किंतु अमीलिया ने उसे सवेग छुड़ा लिया। वह थर-थर काँप रही थी, उसके मुख का रंग बार-बार बदल रहा था।

उसने काँपते हुए स्वर में कहा—"नहीं, नहीं, अब वह आग मत लगाओ, जिसमें अब तक जल रही हूँ। मुझे माफ़ करो। मैं उस प्रलोभन में अब न पड़ूँगी। जो कुछ हो गया है, वही बहुत है, वही मुझे जीवन-भर कुढ़ाने के लिये पर्याप्त है। डॉक्टर, आप मुझे भूल जायँ। इसी में आपका और मेरा कल्याण है।"

डॉक्टर हुसैनभाई ने उसकी ओर दीनता-पूर्वक देखते हुए कहा—"ऐसा साफ़ उत्तर मत दो। कम-से-कम थोड़ा-सा सहारा तो ज़रूर दो, जिसके अवलंब से मैं कुछ दिन तक, नहीं, जीवन की अंतिम घड़ी तक प्रतीक्षा तो कर सकूँ। यदि उस दिन भी मेरी आशा पूर्ण नहीं होगी, तो सुख से मर सकूँगा, क्योंकि महशर में मिलने की उम्मीद बँधी रहेगी। तुमको मुझे इतनी आशा तो ज़रूर देनी होगी।"

अमीलिया ने दोनो हाथों से अपना मुख छिपा लिया, और

कहा—"डॉक्टर, मुझे माफ़ करो, मेरी आशा मत करो। मैं प्रेम का राज्य हमेशा के लिये खो चुकी हूँ, अब उसमें प्रवेश करने का अधिकार नहीं। मुझे भूल जाओ, और किसी अन्य स्त्री से प्रेम कर अपना जीवन सफल करो।"

यह कहकर, वह तेज़ी से दौड़कर डॉक्टर हुसैनभाई की दृष्टि से ओट हो गई। वह हत-बुद्धि होकर श्यामली संध्या की ओर देखने लगे, जो संसार के साथ-साथ उनके हृदय में भी निराशांधकार ला रही थी।

---

(८)

मालती ने अपने पिता सर रामकृष्ण के कमरे में प्रवेश किया। उस वक्त वह ज़रूरी काग़ज़ात देखने में लीन थे। उसे सामने देखकर उन्होंने प्रश्न-सूचक दृष्टि से पूछा—"क्या काम है?"

मालती ने कुछ उत्तर न दिया।

सर रामकृष्ण ने काग़ज़ों की फ़ाइल एक ओर रख दी।

उन्होंने स्नेह के साथ पूछा—"क्या कहना चाहती है मालती! कहती क्यों नहीं? कहने के लिये तो यहाँ तक आई है, और कहती नहीं। क्या आज तुम्हारी मा से फिर कुछ कहा-सुनी हो गई?"

मालती ने उनकी ओर न देखकर कहा—"जी नहीं, मैं आज एक प्रार्थना करने के लिये आई हूँ।"

सर रामकृष्ण ने हँसकर कहा—"अच्छा, सुनूँ, तुम्हारी वह क्या प्रार्थना है?"

मालती ने उत्तर दिया—"मैं चुनाव में खड़ी होना चाहती हूँ।"

सर रामकृष्ण बड़े वेग से हँसने लगे।

मालती लज्जित हो गई।

सर रामकृष्ण ने हँसते हुए पूछा—"प्रांतीय कौंसिल के चुनाव में या एसेंबली में? कहाँ के लिये खड़ी होना चाहती हो?"

मालती ने उत्तर दिया—"एसेंबली के चुनाव में खड़ी होना चाहती हूँ।"

सर रामकृष्ण ने गंभीरता धारण करते हुए पूछा—"क्या सत्य ही तेरा इरादा एसेंबली के लिये चुनाव में खड़े होने का है?"

मालती ने सिर नत किए हुए उत्तर दिया—"जी हाँ, मेरी

इच्छा तो यही है, फिर अगर आपकी अनुमति न होगी, तो न खड़ी होऊँगी।"

सर रामकृष्ण ने सस्नेह उत्तर दिया—"मालती, मैं इससे बहुत प्रसन्न हूँ कि तुम्हारे मन में यह इच्छा जागरित हुई। मैं तुम्हारा उत्साह भंग नहीं करना चाहता। तुम अवश्य खड़ी हो, और मुझे आशा है, तुम्हें अवश्य सफलता मिलेगी। स्वदेश-सेवा के लिये प्रत्येक स्त्री-पुरुष को कटिबद्ध रहना चाहिए।"

मालती का मुख प्रसन्नता से प्रदीप्त हो गया। उसने धीमे स्वर में कहा—"अम्माजी को राज़ी कर लीजिएगा। वह ज़रूर आपत्ति करेंगी। मैंने अभी तक उनसे ज़िक्र नहीं किया।"

सर रामकृष्ण ने मुस्किराकर कहा—"यह मुझसे नहीं होने का। उन्हें तुम्हीं समझाना-बुझाना। हाँ, मैं दूसरी तरह से तुम्हारी सहायता ज़रूर करूँगा।"

मालती ने हँसते हुए कहा—"उन्हें यह सब कुछ पसंद नहीं। चुनाव में खड़े होने का सवाल उठाते ही वह उबल पड़ेंगी, और मेरा पूर्ण विरोध करेंगी। आप ही उनको समझा-बुझाकर राज़ी कर लीजिए। इस बार मैं ज़रूर एसेंबली में जाऊँगी।"

सर रामकृष्ण ने उत्साह-पूर्ण स्वर में कहा—"इससे मुझे हार्दिक प्रसन्नता होगी। मैंने तुम्हें पुत्र की भाँति शिक्षित किया है। तुममें प्रतिभा है, उसे विकसित होने का अवसर देना मेरा कर्तव्य है। तुम्हारी यशोवृद्धि से मेरा मुख भी उज्ज्वल होगा। अफ़सोस सिर्फ़ इतना है कि तुम्हारी मा जिहालत की मूर्ति हैं। वह ये बातें न तो ख़ुद समझती हैं, और न समझाने से मानती हैं। वह पुरानी रूढ़ियों की अंध-भक्त हैं।"

इसी समय लेडी चंद्रप्रभा ने उस कमरे में प्रवेश किया।

उनको देखकर सर रामकृष्ण ने मुस्किराते हुए कहा—"देखो, वह

स्वयं आ गईं। मेरे सामने ज़रा कहकर तमाशा देखो।" यह कहकर वह हँसने लगे। मालती भी हँसने लगी। लेडी चंद्रप्रभा कुछ विस्मित होकर पिता-पुत्री की हँसी देखने लगीं।

लेडी चंद्रप्रभा ने रुष्ट होकर कहा—"क्या बात है, जो बाप-बेटी इस क़दर हँस रहे हैं?"

सर रामकृष्ण ने हँसना बंद कर कहा—"हम लोग तुम्हारा गुण-गान कर रहे थे। हँसी इस बात को सोचकर आई कि जहाँ तुम्हारी चरचा छिड़ी कि तुम शैतान की तरह मौजूद हो जाती हो।" यह कहकर सर रामकृष्ण फिर हँसने लगे।

लेडी चंद्रप्रभा ने सक्रोध कहा—"यदि तुम बाप-बेटी को मन-चाहा करने दूँ, तो मैं शैतान न कहलाकर देवी कहलाऊँ! क्यों, यही बात है न? मेरी ज़िंदगी में यह नया चलन न चल सकेगा, मेरे मरने के बाद मन-चाहा करना, मैं मना करने न आऊँगी।"

सर रामकृष्ण ने कहा—"तारीफ़ तो यह है, जब तुम मरने के बाद भी भूत बनकर हम लोगों को मन-चाहा न करने दो।"

वह हँसने लगे, और लेडी चंद्रप्रभा बड़ी मुश्किल से अपनी हँसी रोक सकीं। मालती खिड़की के बाहर देखने लगी।

लेडी चंद्रप्रभा ने कहा—"भूत बनकर उस वक़्त ज़रूर लगती, जब तुम कभी मेरी सौत ले आते। उस वक़्त मज़ा मालूम होता।"

सर रामकृष्ण ने हँसकर कहा—"घबराइए नहीं, वह मौक़ा भी बहुत जल्द आ जायगा। हमारी मालती इस साल एसेंबली की सदस्या होगी, और हिंदू-समाज के लिये तलाक़ का बिल पास कराएगी; बस, उस वक़्त मैं तुमको तलाक़ देकर बड़ी धूमधाम से दूसरा विवाह इस बुढ़ापे में करूँगा।"

मालती सुनकर चौंक पड़ी। अपने मन का गुप्त भाव कहीं प्रकट न हो जाय, इस भय से वह कमरे के बाहर जाने लगी।

सर रामकृष्ण ने उसे जाते देखकर कहा—"मालती, कहाँ जाती है। अपनी अम्मा से एसेंबली में खड़े होने के लिये आशीर्वाद तो ले ले।"

मालती ने आदेश पालन किया।

लेडी चंद्रप्रभा ने व्यंग्य-पूर्ण स्वर में कहा—"अब एसेंबली का नाटक खेलने की तैयारी है। मालूम होता है, पिता-पुत्री मिलकर इसी बात के मंसूबे बाँध रहे थे। अब ठीक है, बाप सरकार का होम-मेंबर है, और बेटी क़ानून बनानेवाली समिति की सदस्या होगी। अब डर क्या है। दोनो मिलकर ख़ूब ग़रीबों का गला घोटो, और उन पर करों का बोझ लाद दो, जिससे उन्हें रोटी न मिल सके, जो अभी तक थोड़ी-बहुत मिलती है। तलाक़-बिल पास कराकर हिंदू-समाज का कलंक धो डालो, ताकि घर-घर में पति और पत्नी में विद्वेष की आग बल उठे, जिसमें दांपत्य जीवन का सुख भस्म हो जाय। अभी तक जो पति इस घृण्य प्रथा के प्रचलित न होने से, या अपना भाग्य-विधान समझकर मजबूरी के साथ पत्नी के प्रति सब्र कर लेता है, और गृहस्थ होकर जीवन व्यतीत करता है, अब इस बिल के पास होने से खुल्लम-खुल्ला ज़रा-सी बात पर रूठकर, ज़रा-सा दुर्व्यवहार होने पर, तलाक़ देकर अपनी निवृत्ति करा लेगा—और इस तरह समाज में वेश्या-वृत्ति की प्रथा अबाध गति से प्रचलित हो जायगी। विवाह की पवित्रता नष्ट हो जायगी, तथा मनुष्य-जीवन पशु-जीवन के समान हो जायगा। एक यही बाक़ी रहा है, अब उसको भी तुम लोग नष्ट कर डालो।"

सर रामकृष्ण ने गंभीरता के साथ कहा—"अभी स्त्री और पुरुष बड़े सुखी हैं न? आजकल देखो, कैसे-कैसे अनमेल-विवाह हो रहे हैं, लड़का तो शिक्षित है, और लड़की देखने और तमीज़ में बिलकुल

भैंस ! अब तुम्हीं कहो, यह बेमेल गाड़ी कब तक चल सकेगी। दूर क्यों जाओ, तुम अपना ही उदाहरण ले लो, कहाँ तुम दाक़ियानूसी और कहाँ मैं नई रोशनी का। हमारी-तुम्हारी क्या कभी पटी है ?"

लेडी चंद्रप्रभा ने जोश में आकर कहा—"ठीक है, यह मुझे अभी तक न मालूम था कि ऐसी सुंदर गाड़ी, नहीं-नहीं, लैंडो में मैं भैंस होकर जुती हुई हूँ, जिससे लैंडो या फ़िटन की सारी शान किरकिरी हो गई है। लेकिन यह भी याद रखिएगा कि गृहस्थी भैंसों के सहारे ही चलती है, अरबी घोड़ों से नहीं। वे तो सिर्फ़ बेलगाम भागने के अर्थ के हैं, जिनका बाह्य रूप तो सुंदर है, मगर ताक़त में, परिश्रम में सर्वथा पोच हैं। वे सिर्फ़ तीन-चार आदमियों को ही थोड़ी दूर ले जाकर पस्त हो जायँगे, मगर भैंसा २५-३० मन बोझ सुबह से शाम तक घसीटा करे, फिर भी न थकेगा।"

सर रामकृष्ण ने मुस्किराते हुए कहा—"लेकिन ज़माना यह तो नहीं कहता। समय कह रहा है, बदल जाओ। और, हमको पश्चिमीय आदर्श के सहारे बढ़ना पड़ेगा, यदि हम इस दुनिया में जीवित रहना चाहते हैं। गृहस्थी का बोझ सँभालना और उसका परिचालन ही सब कुछ नहीं, इसके अतिरिक्त भी तो हम कुछ चाहते हैं। उसकी पूर्ति न होने से जीवन का सौख्य तो नष्ट हो जाता है, फिर गृहस्थी सँभालकर ही क्या करना है ?"

लेडी चंद्रप्रभा ने कहा—"बहुत ठीक, गृहस्थी-परिचालन के अतिरिक्त जो वस्तु आप चाहते हैं, क्या उससे आपका पेट भर जायगा ? पेट की समस्या सबसे पहले है। ये रँगरेलियाँ उसी वक़्त सूझती हैं, जब पेट भरा होता है। स्त्री का प्रथम कर्तव्य है पति, पुत्र, सास और ससुर की क्षुधा तृप्त करना। जो स्त्री इससे वंचित है,

उसका नारी-जीवन निरर्थक है। उन दूसरी वस्तुओं की ख़्वाहिश आप पश्चिमीय शिक्षा के प्रभाव से करते हैं, किंतु क्या कभी आपने यह भी विचारा है कि आया वे हमारे समाज के लिये उपयुक्त हैं? उन्हीं का समाज देख लो, उसके दुष्परिणाम भी देख लो। मुझे कहते हुए शर्म आती है। उन लोगों ने पवित्रता को किस तरह नष्ट कर दिया है। अमेरिका और रूस तो सब में बाज़ी मार ले गए। एक जगह हर तीसरा विवाह तलाक़ में समाप्त होता है, और दूसरी जगह तो विवाह-बंधन को भी, जो नाम-मात्र था, बिलकुल उड़ा दिया गया है। अब ठीक है, पशुओं की श्रेणी में आ गए। क्या पश्चिमीय शिक्षा के इन्हीं पद-चिह्नों पर चलकर हिंदू-समाज की प्राचीनता का पाप धोया जायगा? क्या यही जीवन और शिक्षा के विकास का अर्थ है? क्या यही अतृप्ति, असंतोष, द्वेष और कलह जीवन को सुखमय बनाने के साधन हैं?"

उनके स्वर में तीव्र कटुता थी, जिसने सर रामकृष्ण को थोड़े समय के लिये स्तंभित कर दिया।

थोड़ी देर बाद उन्होंने हँसकर कहा—"अरे, तुमने कहना बंद क्यों कर दिया—तुममें व्याख्यान देने की अपूर्व क्षमता है, यह मुझे आज मालूम हुआ। अब ठीक रहेगा, मा-बेटी दोनो एसेंबली में निर्वाचित होकर जायँ। बेटी तो नई रोशनी के प्रभाव को, तलाक़-बिल प्रवेश करके प्रदर्शित करे, और मा उस बिल की धज्जियाँ उड़ाकर अपना दक़ियानूसीपन बखान करे, और मैं तुम दोनो की लड़ाई देखकर अपना दिल ख़ुश करूँ।"

लेडी चंद्रप्रभा ने हँसते हुए कहा—"अपने लिये क्या अच्छा काम निकाला! फ़ज़ीता तो हम लोगों का हो, और ख़ुद मलारें गावें।"

सर रामकृष्ण ने उत्तर दिया—"भई, क्या करूँ, दो बिल्लियों की लड़ाई में बंदर हमेशा फ़ायदे में रहता है।"

लेडी चंद्रप्रभा हँस पड़ीं। मालती भी हँसने लगी।

सर रामकृष्ण ने फिर कहा—"इसके अलावा न मुझमें इतनी हिम्मत है कि मैं तुम्हारा मुक़ाबला कर सकूँ, और मालती तो मेरी बेटी है, जिससे हमेशा ख़ूब पटती आई है, इसलिये बक़ौल श्रीकृष्ण भगवान्, समन्वय में मेरा कल्याण है।"

लेडी चंद्रप्रभा ने रुष्ट होकर कहा—"यह सब अकथ्य कहकर मेरे ऊपर अपराध लादते हो। अगर कोई सुन ले, तो क्या कहे?"

सर रामकृष्ण ने तुरंत कहा—"यही तो कहेगा कि होम-मेंबर के ऊपर भी कोई दबंग गवर्नर है। इसमें कुछ भी झूठ नहीं। बाहर नौकरी में भी है, और घर में भी।" यह कहकर वह हँस पड़े। लेडी चंद्रप्रभा भी अपनी हँसी न रोक सकीं।

लेडी चंद्रप्रभा ने गंभीर होते हुए कहा—"जब बात आज चल पड़ी है, तो कह डालना ठीक है। मैं आजकल की बातें देखकर कह सकती हूँ कि अगर ये विदेशी भाव न रोके जायँगे, या विदेशी शिक्षा को जब तक भारतीय ढाँचे में न ढाला जायगा, तब तक हिंदू-समाज का कल्याण नहीं हो सकता। वह रसातल की ओर जा रहा है, और उस गर्त में गिरकर अपनी असलियत खो बैठेगा।"

सर रामकृष्ण ने कहा—"अरे, तुम तो दौड़कर उसे रसातल में जाते हुए रोको!"

लेडी चंद्रप्रभा ने गंभीरता से कहा—"मैं परिहास नहीं करती, सत्य कहती हूँ। अनतिदूर में हिंदू-समाज नष्ट हो जायगा, कम-से-कम अपनी संस्कृति का निजत्व तो ज़रूर खो बैठेगा।"

सर रामकृष्ण ने कहा—"कैसे ? अगर देश-काल के अनुसार समाज को अपने काम लायक़ व्यावहारिक बनाना या उसे नष्ट करना है, तो अवश्य हिंदू-समाज नष्ट होगा, और उसके नष्ट होने में ही कल्याण है।"

उनके स्वर में विरोध का तीव्र भाव था।

लेडी चंद्रप्रभा ने शांत स्वर में कहा—"मैं मानती हूँ, परिवर्तन केवल जीवन के विकास का दूसरा नाम है। परंतु परिवर्तन कैसा ? जैसे हम कपड़े बदलते हैं, लेकिन शरीर वैसे ही रहता है। आप तो हमेशा विदेशी काट-छाँट के कपड़े पहनते हैं। यह तो कहिए कि वे क्या आपके शरीर को सुख देते हैं ? उनकी ज़रूरत वहीं है, जहाँ के लिये वह काट-छाँट आविष्कृत हुई है। इसी प्रकार हमारे समाज के लिये विदेशी पायजामा ज़ेबा न देगा, उसकी रूप-श्री उसी प्रकार विकसित होगी, जैसे हाथी के ऊपर ऊँट की काठी।"

सर रामकृष्ण हँसने लगे।

लेडी चंद्रप्रभा ने उनके हँसने की परवा न की, और कहने लगीं—"हरएक समाज में केवल दो व्यक्ति हैं—एक स्त्री और दूसरा पुरुष। इन्हीं दोनो के युग्म का नाम समाज है। इन दोनो के संबंध की जटिलता ही समाज की जटिलताएँ हैं—उसके विचारने और निर्णय करने के प्रश्न हैं। आज भी उसी प्रश्न को हल करने के लिये आप लोग व्याकुल हैं। किस प्रकार इन दोनो के संबंध और व्यवहार का समीकरण हो, बस, यही प्रश्न प्रत्येक काल और प्रत्येक देश में रहा है।"

सर रामकृष्ण ने कहा—"हाँ, मालूम तो ऐसा ही होता है। ईश्वर की सृष्टि में यही दो प्रकार के जीव हैं। इनके पारस्परिक संबंध का निर्णय करना हमारी समस्या रही है। चलिए, मैं मानता हूँ।"

लेडी चंद्रप्रभा कहने लगीं—"इस प्रश्न को हमारे हिंदू-समाज

में बड़े सुचारु रूप से हल किया गया है। एक वस्तु जब दो झगड़ते हुए मनुष्यों को बराबर बाँट दी जाती है, तब कोई झगड़ा नहीं रहता। जब तक किसी के पास कमोबेश है, तब तक विग्रह, युद्ध और कलह न मिटेगा। एक घर में दो भाई, जब तक एक दूसरे के अधिकार पर हावी न होंगे, उनमें कोई झगड़ा न होगा। उसी प्रकार हमारे हिंदू-समाज में अधिकारों का समन्वय हो गया है। पति का स्थान और उसका अधिकार-क्षेत्र अलग है, जहाँ वह एक सीमा तक स्वतंत्र है। पत्नी का अधिकार-क्षेत्र भी स्वतंत्र है। परंतु दोनो एक हैं, दोनो एक दूसरे पर निर्भर हैं, और एक दूसरे के वशीभूत। अपनी-अपनी सीमा के अंतर्गत रहकर दोनो एक दूसरे पर शासन करते हैं। उस शासन का सूत्र दंड, घृणा, वैमनस्य, भय, क्रोध और विद्वेष पर अवलंबित नहीं, वह तो प्रेम, स्नेह, अनुराग, भक्ति, क्षमा, दया, त्याग और शांति में निहित है। पति यदि अपराध करता है, तो पत्नी क्षमा करती है, और अगर पत्नी अपराधिनी होती है, तो पति उसे भूल जाता है। दोनो को एक दूसरे के प्रति सहानुभूति होती है, एक दूसरे के प्रति संतोष और साधना होती है। पहले दो व्यक्ति बिलकुल अनजान होकर मिलते हैं, दोनो में नव-मिलन की आकांक्षा होती है, नव-उमंगों से खेलने की इच्छा होती है। दोनो दो चुंबक पत्थर की भाँति एक दूसरे के प्रति आकर्षित होकर एक हो जाते हैं, फिर दोनो उस मुग्धावस्था को त्यागकर कर्मिष्ठ संसार में प्रवेश करते हैं, जहाँ दोनो के लिये अलग-अलग कर्म उपस्थित हैं। वे अपने पार्थक्य को समझने लगते हैं, लेकिन उस मुग्धावस्था में जिन सुनहली ज़ंजीरों से बँध गए थे, वे धीरे-धीरे दृढ़ होती जाती हैं, और उस पार्थक्य भाव को मिटाकर पुनः एक हो जाते हैं। यही हिंदू-समाज का व्यावहारिक

और वास्तविक रूप है, जिसके प्रभाव से वह अभी तक जीवित है, और जब तक एक भी नारी और पुरुष रहेगा, जीवित रहेगा।"

सर रामकृष्ण ने प्रसन्न होकर कहा—"वाह पंडितानीजी! इतने दिनों बाद तुम्हारा मूल्य खुला है। मुझे तो तुम्हारी हाँ में हाँ मिलानी ही पड़ेगी, मगर मालती इससे सहमत होगी, यह कठिन ही नहीं, बल्कि असंभव है।"

लेडी चंद्रप्रभा ने सरोष कहा—"इसका उत्तरदायित्व तो तुम्हारे ऊपर है। तुमने उसके दिमाग़ में पश्चिमीय विचार भर दिए हैं, जिनका विषमय प्रभाव उस समय नष्ट होगा, जब उसके कोई ठोकर लगेगी।"

मालती सिहर उठी, और सर रामकृष्ण भी विराग-पूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे। लेडी चंद्रप्रभा ने कहा—"मैं कोई शाप नहीं देती, सिर्फ़ इसका फल बतलाती हूँ।"

सर रामकृष्ण ने कहा—"नहीं, तुम्हें यह न कहना चाहिए। अब अगर उसका कल्याण हृदय से चाहती हो, तो उसे एसेंबली के लिये खड़े होने की अनुमति दो, और मा की तरह आशीर्वाद दो कि वह सफल होकर हमारा मुख उज्ज्वल करे। क्या स्त्रियों को शासन-प्रबंध में हाथ बटाने का अधिकार नहीं?"

लेडी चंद्रप्रभा ने कहा—"अवश्य है। मैं इसका विरोध नहीं करती। जब पिता की अनुमति हो गई, तब मा की तो पहले मिल गई समझना चाहिए। मैं आशीर्वाद देती हूँ कि वह सफल हो, और उसकी प्रतिभा का विकास हो।"

सर रामकृष्ण ने प्रसन्नता-भरी दृष्टि से मालती की ओर देखा। पिता-पुत्री दोनों मुस्किराने लगे।

लेडी चंद्रप्रभा दूसरे कमरे में चली गईं, और उनके पीछे-पीछे मालती भी प्रहृष्ट मन से चली गई।

---

(६)

आभा ने सवेग मालती के कमरे में प्रवेश करते हुए कहा—"बधाई है, मुबारक हो !"

मालती ने मुस्किराते हुए पूछा—"आखिर बात क्या है, जो इस क़दर दानी कर्ण की तरह मुबारकबाद लुटा रही हो ? अभी भारतेंदु बाबू से विवाह तो नहीं हुआ, मालूम होता है, सब कुछ तय हो गया है। इसी वजह से इतनी ख़ुश हो रही हो।"

आभा ने हर्ष से उसके गले से लिपटते हुए कहा—"मेरे विवाह की बात छोड़ो।"

मालती ने बीच ही में बात काटकर कहा—"क्योंकि तुम्हारा तो आध्यात्मिक विवाह है, पूर्व-जन्म का संसर्ग है ?"

आभा ने लजाकर कहा—"उस दिन से तो तुमने मेरी बात गिरह बाँधकर पकड़ ली। यों टालने की कोशिश मत करो। आज तो मैं भर पेट मिठाई खाऊँगी—ब्राह्मण की लड़की हूँ, आर्शीवाद भी दूँगी।"

मालती और आभा दोनो हँसने लगीं।

आभा फिर कहने लगी—"आज मैंने पहले ही तुम्हारा ख़त खोलकर पढ़ लिया है, तुम्हारे पूछने की ज़रूरत नहीं रक्खी।"

मालती ने अपने मन का भाव दबाते हुए कहा—"पढ़ लिया, अच्छा किया। अपने-अपने प्रेमी का पत्र सब कोई पढ़ता है, इसमें कहने की कौन बात है ?"

आभा ने शरमाकर कहा—"तुम कैसी अकथ्य बात कहती हो ! वह मेरे पूजनीय हैं।"

मालती ने हँसकर कहा—"तुम्हारे लिये भले ही पूजनीय हों, लेकिन मेरी दृष्टि में तो वह बहुत नीचे हैं।"

आभा ने उत्तर दिया—"ऐसा ही होता है। 'घर की मुरगी दाल-बराबर।' मालती, तुम क्या सचमुच उनकी क़द्र नहीं करतीं, या सिर्फ़ मुझे चिढ़ाने के लिये कहती हो?"

उसके स्वर से वेदना झाँक रही थी।

उसका प्रश्न सुनकर मालती का मुख विवर्ण हो गया।

आभा ने उसे लक्ष्य कर कहा—"सत्य क्यों नहीं कहतीं, मुझसे भी अपना भेद छिपाती हो!"

मालती ने नत दृष्टि से कहा—"तुमसे क्या छिपाऊँगी?" फिर मलिन हँसी के साथ कहा—"कुछ नहीं।"

आभा ने गंभीर होकर कहा—"मालती, कहो, क्या बात है? मैं आज कई दिनों से देख रही हूँ कि तुम हँसती हो, लेकिन दिल खोलकर नहीं; बोलती हो, लेकिन प्रसन्न मन से नहीं। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि तुम मुझसे, अपने बंधुओं, अपने आत्मीयों और शायद स्वयं अपने से कपट कर रही हो। इसका कारण कुछ समझ में नहीं आता। यह दोमुहाँ जीवन क्यों व्यतीत कर रही हो? इसका रहस्य तुम्हें आज खोलना होगा।"

मालती ने हँसने की चेष्टा करते हुए कहा—"कुछ नहीं, यह सब तुम्हारा भ्रम है। आजकल तुम्हारे बजाय दो के चार आँखें हो रही हैं, इसलिये ज़्यादा दिखाई पड़ता है।"

आभा ने कहा—"मेरे अभी तो दो ही आँखें हैं, चार जब होंगी, तब देखा जायगा। परंतु तुम्हारे तो अभी, इसी समय, चार हैं, जिन्हें हुए क़रीब आठ या नौ महीने बीत गए।"

मालती ने तुरंत जवाब दिया—"मेरे तो सिर्फ़ दो ही आँखें हैं, दो तो फूट गई हैं।"

आभा ने सप्रेम एक हल्की चपत लगाते हुए कहा—"चुप रहो, क्या बकती हो, कैसी अशुभ बात अपने मुँह से निकालती हो!"

मालती ने शरमाए हुए स्वर में उत्तर दिया—"आँख फूटने से कोई मेरा अशुभ तात्पर्य नहीं। आँख फूटने से अर्थ है—दृष्टि-विहीन। मैं सचमुच उनकी ओर से दृष्टि-विहीन हूँ।"

आभा ने तिरस्कार-पूर्ण स्वर में कहा—"मालती, क्यों ग़ज़ब करती हो। भगवान् की देन पर लात न मारो। उनका-जैसा प्रेम करनेवाला इस जगत् में ढूँढ़ने से मिलेगा। उस दिन मैंने उनका पत्र पढ़ा था, और आज अभी पढ़ा है। उसे पढ़ने से पत्थर का कलेजा भी एक बार हिल जायगा। उनका एक-एक शब्द प्रेम से प्लावित है, उनका प्रेम निःसीम है, अनंत और अगाध है। ऐसा प्रेम करनेवाला व्यक्ति क्या संसार में है? बार-बार यही प्रश्न उठता है। मालती, तुम उनकी क़द्र नहीं करतीं, यह तुम्हारी भूल है, शायद जीवन की सबसे बड़ी भूल होगी।"

मालती ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह चुप रहकर आभा की ओर देखने लगी।

आभा कहने लगी—"मेरी ओर क्या देखती हो? मैं झूठ नहीं कहती। आज का पत्र तो ऐसा ही है, जिससे रोना आ जायगा। दुष्ट, तुमने अभी तक उस पहले पत्र का उत्तर भी नहीं दिया! उफ़्! मालती, तुम कितनी निष्ठुर हो, तुम पहले तो ऐसी हृदय-हीन नहीं थीं। यह परिवर्तन कैसे घटित हुआ। तुम पशु कब से बन गईं। वाह री मालतीदेवी, कोई तो कुढ़-कुढ़कर मरे, और कोई परवा भी न करे!"

मालती ने मलिन हँसी के साथ कहा—"यह तुम्हारा झूठा इल-ज़ाम है, आभा।"

आभा ने सरोष कहा—"झूठा इलज़ाम! क्या तुम अपने हृदय

पर हाथ रखकर कह सकती हो कि मेरा कथन मिथ्या है। ज़रा कहो, तो देखूँ।"

मालती मलिनता के साथ मुस्किराने लगी।

आभा ने दुःखित स्वर में कहा—"मुझे शोक है, तुम एक देवता की इतनी अवहेलना करती हो। देखो, वह तुम्हें क्या लिखते हैं।"

यह कहकर वह कुँवर कामेश्वरप्रसादसिंह का दूसरा पत्र पढ़ने लगी। मालती ने कोई आपत्ति नहीं की। वह सुनने लगी—

"प्राणोपम प्रियतमे,

प्रतीक्षा करते-करते लगभग एक महीना बीत गया, किंतु तुम्हारा पत्र मिलने का सौभाग्य मुझे नहीं प्राप्त हुआ। मैं कभी-कभी, नहीं, रोज़ यह सोचता हूँ कि इसमें अपराध किसका है? तो मुझे अपना ही मालूम होता है, और फिर सब्र कर लेता हूँ। अपने अपराध का यदि दंड मिले, तो शिकायत किससे और क्यों की जाय। उसकी बाबत किसी अन्य को दोष देना नितांत अन्याय है। मैं जानता हूँ, मैं कैसा अपराधी हूँ, किंतु क्या किया जाय, मेरा मन अपने आपे में नहीं रहता। रह-रहकर यह इच्छा जाग उठती है कि मैं तुमसे कहूँ कि मेरा अपराध क्षमा करो। अपनी कुशलता की केवल दो पंक्तियाँ लिख देने से मेरा ऐसा कल्याण होगा, जैसा स्वाती के जल से चातक का होता है। मुझे यह भी अवगत है कि वामन आकाश छूने का अगर प्रयत्न करेगा, तो संसार आकाश को तो नहीं, बल्कि उस मूर्ख को अवश्य हँसेगा।

"क्या तुम इतनी कठोर-हृदया हो सकती हो? मन को विश्वास तो नहीं होता। जो इतना सुंदर, भव्य, कोमल, मनोहर और अभिराम है, वह कभी हृदय-हीन नहीं हो सकता। यह मेरा भ्रम है, जो मैं ऐसा विचार करूँ। सौंदर्य में कुरूपता हो नहीं सकती, प्रकाश

में अंधकार और अमृत में विष हो नहीं सकता, इसलिये तुममें कठोरता हो नहीं सकती। स्वीकार करना पड़ता है, यह भी मेरा अपराध है।

"तुमसे क्षमा-प्रार्थना करना अपने अपराध की गुरुता बढ़ाना है, सूखे घाव को कुरेदकर हरा करना है, और शायद तुम्हारा उपहास करना है। इसलिये मैं क्षमा-प्रार्थना भी नहीं कर सकता।

"मेरे जीवन की रानी, तुम्हीं मेरे जीवन का उपाय बताओ। मेरा आश्रय, मेरा आधार तुम हो। मैं इससे अधिक कुछ माँग नहीं सकता कि एक मित्र के नाते तो कभी-कभी याद कर लिया करो। मुझे इसी में संतोष मिल जायगा। और क्या लिखूँ ?

तुम्हारा ही

कामेश्वर"

पत्र समाप्त कर आभा ने कहा—"सुना निष्ठुर ! अब कहो, तुम्हारी हृदय-हीनता का कुछ ठिकाना हो सकता है। अब क्या मेरा इलज़ाम झूठा है ?"

मालती ने कोई उत्तर नहीं दिया।

आभा ने कहा—"लिखो, अभी-अभी इसका उत्तर लिखो। कल या परसों उन्हें मिल जाय। उनका हृदय दुखाकर क्या तुम सुखी होने की आशा कर सकती हो ?"

मालती ने धीमे स्वर में कहा—"आभा, मेरे भाग्य में सुख नहीं।"

उसका कंठ-स्वर विषाद से पूर्ण था। आभा सिहरकर उसकी ओर देखने लगी। उसने व्याकुलता से पूछा—"क्यों, तुम्हारे भाग्य में सुख नहीं ?"

मालती अपने हृदय की वेदना दबा रखने में सफल नहीं हुई। उसकी आँखों से उसके हृदय का आवेग निकलने लगा। उपाधान

में मुँह छिपाकर वह रोने लगी। आभा बड़ी व्याकुलता से उसकी ओर देखने लगी। उसने उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—"मेरी प्यारी मालती, तुम इतनी दुखी क्यों हो? अपने दुःख का कारण मुझसे बतलाना ही होगा।"

उसके स्वर में विनय थी, और प्रेम का दबाव था।

मालती ने सिसकते हुए कहा—"आभा, मैं तुम्हें नहीं बतला सकती, प्रतिज्ञा-बद्ध हूँ।"

आभा ने साश्चर्य कहा—"प्रतिज्ञा-बद्ध कैसे? मेरी समझ में कुछ नहीं आता।"

मालती ने उत्तर दिया—"तुम इस भेद को नहीं समझ सकतीं; और इसे न जानने में ही तुम्हारा कल्याण है।"

आभा ने विस्मय के साथ कहा—"मालती, तुम एक कठिन पहेली की भाँति मुझे मालूम होती हो। आज तक ऐसा परिवर्तन तो तुममें नहीं देखा।"

मालती ने अपने आँसुओं को रोककर कहा—"क्या कहूँ, आभा! जो सर्वदा भार होकर मेरे उर पर रहता है, उसे मैं अपने अंतरंग मित्र, माता-पिता से भी कहने योग्य नहीं हूँ। एक आततायी ने, जिसने मेरा सर्वनाश किया है, उसने, इस भेद को छिपा रखने की प्रतिज्ञा करा ली है, और यह भी धमकी दी है कि भेद खुलने पर वह मेरा प्राणांत करेगा। धमकी की तो मुझे परवा नहीं, किंतु अपनी प्रतिज्ञा का मुझे ख़याल है। मैं अवश हूँ आभा, नहीं तो..."

आभा की उत्सुकता चरम सीमा को पहुँच गई थी। उसने कहा—"तुम्हारी सब बातें किसी प्रहेलिका से कम नहीं। अच्छा, अगर सब बातें साफ़-साफ़ नहीं कह सकतीं, तो क्या कुछ संकेत भी नहीं कर सकतीं?"

मालती ने मलीन हँसी के साथ कहा—"वह भी तो कहने के बराबर है।"

आभा ने पूछा—"क्या इस भेद को वह जानते हैं?"

मालती ने उत्तर दिया—"हाँ, उनके सामने मुझसे प्रतिज्ञा कराई गई थी। इसमें उनकी अनुमति थी या नहीं, यह मैं नहीं जानती।"

आभा ने पूछा—"अच्छा, यह प्रतिज्ञा किसने कराई थी?"

मालती ने कहा—"मेरे ससुरजी ने।"

आभा ने पूछा—"क्यों?"

मालती ने उत्तर दिया—"जिसमें यह भेद तीसरे के कान में न जाय, चाहे वह मेरे कितने ही निकट क्यों न हो।"

आभा ने कहा—"क्या वह ऐसा गुप्त भेद है?"

मालती ने कहा—"दरअसल भेद-जैसी कोई बात तो नहीं है, मगर राजा-महाराजों की बहँक तो मशहूर ही है—ऐसी एक बहँक यह भी है।"

आभा ने पूछा—"अच्छा, इस भेद से किसका संबंध है?"

मालती ने कहा—"उनसे, और किससे।"

आभा विचार में पड़ गई।

मालती ने कहा—"इस क़िस्से को अब जाने दो। इसे जानने से तुम्हें भी दुख होगा, और मेरे ऊपर तुम्हारी दया जागरित होगी। मैं किसी की दया की भिखारिन नहीं होना चाहती।"

आभा और अधिक विचार में पड़ गई।

मालती ने फिर कहा—"संसार का कोई मनुष्य सब प्रकार से सुखी नहीं हो सकता, आभा। सुख की हीनता ही मनुष्य में ज्ञान-संचार करती है, और एक दूसरे के प्रति सहानुभूति। मेरे हृदय में एक

भीषण तूफ़ान उठा हुआ है, जिसे शांत करना असंभव है। तुम कहती हो, मैं उन्हें कुढ़ा रही हूँ, और अगर मैं यह कहूँ कि उन्होंने मुझे जन्म-भर कुढ़ाने के लिये मेरे साथ विवाह किया, तो तुम क्या कहोगी ?"

मालती प्रश्न-भरी दृष्टि से आभा की ओर देखने लगी।

वह फिर जोश के साथ कहने लगी—"आभा, अभी तक तुम कल्पना के सुंदर संसार में भ्रमण करती हो, पूर्व-जन्म के प्रेम का सुख-स्वप्न कल्पना के अंतर्गत देखकर उसी की सुनहली प्रभा में भूली हुई मुग्ध होकर देख रही हो। जब संसार में प्रवेश करोगी, तब तुम्हें मालूम होगा कि पुरुष-जाति कितनी हृदय-हीन है। वह हमारी जाति को केवल अपनी इच्छा-तरंगों का अनुगामी समझकर उन्हें किसी रूप में, अपने सुख के लिये, इस्तेमाल करने का अधिकारी समझता है। वह हमको अपनी ज़रा-सी बात के लिये बलिदान पर चढ़ाने में तिल-मात्र संकोच न करेगा। आभा, मैं तुमसे क्या कहूँ ? तुम मुझे ही दोष देती हो, लेकिन उन लोगों ने जो मेरे साथ दग़ा और छल किया है, उसे जानकर क्या उन्हें दोष न दोगी ! यदि मैं कह दूँ, तो तुम घृणा से प्लावित होकर उन्हें सहस्रों दुर्वचन कहोगी, जिन्हें सुनने से मेरी मर्यादा नष्ट होगी।"

आभा के विस्मय का अंत न रहा। उसने कहा—"भगवान् जाने, वह कौन-सा भेद है।"

मालती ने खीझकर कहा—"हाय मूर्ख, तू अब भी नहीं समझी !"

उसका स्वर करुणा से पूर्ण था।

आभा ने विमुग्ध भाव से कहा—"नहीं, मैं अब भी नहीं समझी।"

मालती ने सिर नत कर कहा—"मैं अभी तक वैसी ही पवित्र हूँ, जैसी तुम।"

आभा ने उत्तर दिया—"क्या मैंने कभी तुम्हारे चरित्र पर अविश्वास किया है? नहीं, तुम्हें अच्छी तरह जानती हूँ कि तुम्हारे प्रति कोई भी उँगली उठाने का साहस स्वप्न में भी नहीं कर सकता।"

मालती ने अधीरता के साथ कहा—"मूर्ख, तू अब भी नहीं समझी, या जान-बूझकर मेरा उपहास करती है। प्रतिज्ञा की मैं अब क्या परवा करूँ? उसे भाड़ में झोंक दो। मैं अभी तक कुमारी हूँ, और कुमारी-जैसा जीवन व्यतीत किया है—केवल विवाह का स्वाँग रचा गया है। जिनकी तुम तारीफ़ करती हो, और प्रेम की प्रशंसा में गीत गाती हो, उन्होंने ही मेरा सर्वनाश किया है। वह एक स्त्री से भी गए-बीते हैं, और पुरुष कहलाने योग्य नहीं!"

आभा की आँखें विस्मय से कपाल पर चढ़ गईं। वह हत-बुद्धि होकर मालती की ओर देखने लगी। मालती अपना शरम छिपाने के लिये तकिए में मुँह छिपाए हुए थी। उस कमरे में भयानक निस्तब्धता छाई हुई थी। मालती की सिसक ने आभा की विमुग्धता को भंग किया। किंतु वह अपने दुख को रोक न सकी, और मालती के गले से लिपटकर रोने लगी। वेदना और सहानुभूति का वह निर्मल रूप था।

थोड़ी देर बाद आभा ने कहा—"मालती, मैं नहीं जानती कि कैसे तुम्हें सांत्वना दूँ। केवल इतना कह सकती हूँ कि धैर्य रक्खो, भगवान् सब कल्याण करेंगे, भयानक-से-भयानक रोग भी औषध से आराम होते हैं। भगवान् पर विश्वास रक्खो, वह कभी अपने भक्त को निराश नहीं करते।"

मालती ने शुष्क हँसी हँसकर कहा—"हिंदू-समाज में किसी भी

अन्याय से त्राण पाने का यही अंतिम अवलंब है—जो उसकी असमता का ज्वलंत उदाहरण है। किंतु मैंने इसके विरोध का पूर्ण विचार कर लिया है। मैं पुरुष-जाति से लड़ूँगी, और अपने अधिकार प्राप्त करूँगी। तुम मुझको पत्रोत्तर न देने के लिये मेरी भर्त्सना करती हो, किंतु अब क्या तुम कह सकती हो कि मैंने अन्याय किया है। मेरे मन की उमंगें तो सब नष्ट हो गई हैं, उनको अपना पति स्वीकार करते लज्जा लगती है, फिर कैसे प्रेम से ओत-प्रोत पत्र लिखूँ। जब हृदय में ही प्रेम नहीं, विद्वेष है, तब कैसे प्रेम का नाटक रचने में सफल हो सकती हूँ।" यह कहकर मालती आभा की ओर देखने लगी।

आभा ने सहज कोमल स्वर में कहा—"यह ठीक है, ऐसी दशा में कोई भी स्त्री ऐसा ही करेगी। किंतु तुमको धैर्य के साथ उस दिन की प्रतीक्षा करनी चाहिए, जब वह अच्छे हो जायँगे। इन पत्रों को देखने से मैं यह कह सकती हूँ कि उनके हृदय में अगाध प्रेम का समुद्र लहरें मार रहा है। वह तुमको प्राणों से भी अधिक चाहते हैं, और शायद इसमें उनका दोष नहीं, बल्कि उनके पिता का है। तुम्हारा जीवन नष्ट किया है, तो उन्होंने! इसलिये इसमें उनका कुछ दोष नहीं।"

मालती ने चिढ़कर कहा—"वह अगर विवाह न करते, तो कैसे हो जाता। जानते-बूझते हुए उन्होंने मुझे विवाहा है। यह मैं जानती हूँ कि उनका प्रेम अनंत है, अगाध है, निष्कपट है, परंतु मेरे मन में तो उनके प्रति वे भाव जागरित नहीं होते!"

आभा ने कुछ सोचते हुए कहा—"मेरे मन में यह कोई बार-बार कहता है कि तुम्हारा सुहाग तुमको फिर मिलेगा, इसमें ज़रा भी झूठ न समझो।"

मालती अविश्वास की हँसी हँसने लगी। फिर कहा—"यह

कल्पना का प्रासाद तुम्हीं को मुबारक हो ! बालू से तेल निकलना असंभव है। हाँ, इसका एक उपाय है, वह है तलाक़ या डाइवोर्स।"

आभा ने कहा—"किंतु हिंदू-समाज में तो उसका चलन नहीं।"

मालती ने आवेश के साथ कहा—"उसका चलन नहीं, तो क्या हुआ? उसे मैं क़ानून द्वारा विहित बनाऊँगी, और हिंदू-समाज पर लादूँगी। देखूँ, वह कैसे इसे अस्वीकार करता है। मैं लेजिस्लेटिव एसेंबली के चुनाव में इस वर्ष खड़ी होऊँगी। पिताजी ने सब तरह से मेरी सहायता करने का वचन दिया है। सदस्य होते ही, एसेंबली के प्रथम अधिवेशन में, डाइवोर्स तथा अन्य स्त्री-जाति के अधिकारों की प्राप्ति का 'बिल' रक्खूँगी। सुशिक्षित जनता मेरा साथ देगी, और देश में ऐसी जागृति पैदा करूँगी कि बिल सर्व-सम्मति से पास हो जाय। मुट्ठी-भर दक़ियानूसी जाहिलों की बात कौन सुनेगा? बस, तभी मेरा कल्याण है; और इस देश की अभागिनी स्त्री-जाति की पुरुषों के अत्याचार से रक्षा होगी।"

आभा ने मंत्र-मुग्ध की भाँति उसकी ओर देखते हुए कहा—"क्या सत्य ही तुम एसेंबली के लिये खड़ी हो रही हो?"

मालती ने उत्तर दिया—"इसमें भी क्या कोई शक है। कल के अख़बार में यह समाचार प्रकाशित हो जायगा, और पिताजी बड़ी तत्परता से इसमें मेरी सहायता करेंगे। मेरे खड़े होने से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई है।"

आभा ने गंभीर होकर कहा—"चाहे जो कुछ हो, अभी यह बिल पास नहीं हो सकता।"

फिर सँभलकर कहा—"इसका यह तात्पर्य न समझना कि मेरी इससे सहानुभूति नहीं।"

मालती ने रुष्ट होकर कहा—"पास होगा, अवश्य होगा.।"

इसी समय उस कमरे में मालती की छोटी बहन कामिनी आ गई।

मालती उसे देखकर चुप हो गई। आभा उससे बातें करने लगी।

उस दिन से भारतेंदु की अवस्था एक अद्भुत कशमकश की थी। उनके जीवन का सारा उत्साह फीका पड़ गया था। इधर कई दिनों से डॉक्टर नीलकंठ ने उन्हें नहीं देखा था। आज वह उनसे मिलने के लिये अकस्मात् आ गए। भारतेंदु अपने कमरे में बैठे हुए विचार में मग्न थे। उनको आया देखकर वह चकित होकर उनकी ओर देखने लगे।

डॉक्टर नीलकंठ ने मृदु हास्य के साथ पूछा—"कैसी तबियत है?"

भारतेंदु ने होश में आकर उनको प्रणाम किया, और विनम्र कंठ से कहा—"जी हाँ, सब ठीक है।"

डॉक्टर नीलकंठ ने आशीर्वाद देते हुए कहा—"इधर कई दिनों से तुम्हें देखा नहीं था, इसलिये यह अंदेशा पैदा हुआ कि कहीं तुम्हारी तबियत ख़राब तो नहीं हो गई। तुम्हारे न आने का क्या कारण है?"

भारतेंदु ने सिर खुजलाते हुए कहा—"यों ही, एक पुस्तक लिखता हूँ। वह अब लगभग पूर्ण हो गई है।"

डॉक्टर नीलकंठ ने उत्फुल्ल होकर कहा—"पूर्ण हो गई, अच्छा हुआ। देखूँ।"

भारतेंदु ने अपनी अपूर्ण पांडुलिपि उनके सामने रख दी। वह उसे देखने लगे। थोड़ी देर तक उसे देखने के बाद उन्होंने कहा—"मुझे जैसी आशा तुमसे थी, वैसी ही यह पुस्तक मालूम होती है। सरसरी दृष्टि से देखने से मालूम होता है कि यह

अच्छी होगी। तुम इसे ख़त्म कर लो, पीछे मैं भी एक बार इसे पढ़ जाऊँगा।"

भारतेंदु ने उत्तर में कहा—"जी हाँ, समाप्त होने पर मैं आपको देखने के लिये ज़रूर देता।"

डॉक्टर नीलकंठ ने पूछा—"पंडितजी का कोई पत्र इधर नहीं आया, तुम्हारे पास क्या कोई पत्र आया है?"

भारतेंदु ने उत्तर दिया—"जी नहीं। इस हफ़्ते में कोई पत्र नहीं आया। आजकल में शायद आ जाय। वह फ़िज़ी पहुँच गए, और दक्षिणी अमेरिका जाने का विचार कर रहे हैं। पिछले पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था कि मैं शीघ्र ही स्वामी गिरिजानंद के साथ जानेवाला हूँ। शायद यह तो आपको मालूम है कि वह उग्र साम्य-वादी विचार के हैं। दक्षिणी अमेरिका के चाइल प्रदेश में, जहाँ हमारी खानें हैं, वह एक उपनिवेश तमाम कुलियों और खानों में काम करनेवालों से बसाना चाहते हैं, जिसमें साम्यवाद के समग्र सिद्धांतों का पालन होगा। दूसरे शब्दों में, वह अपनी सब संपत्ति सम भाग में सब मज़दूरों और कुलियों को बाँट देंगे, और पूँजी का नाम न रक्खेंगे।"

डॉक्टर नीलकंठ ने चकित होकर पूछा—"क्या वह तुम्हें पथ का भिखारी बनाना चाहते हैं?"

भारतेंदु ने हँसकर कहा—"पथ का भिखारी क्यों, मेरा भी तो उसमें सम भाग रहेगा। मैं उससे अपना जीवन बड़े सुख से व्यतीत कर सकता हूँ। अलबत्ता मैं किसी विशाल पूँजी का मालिक न होऊँगा।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कुछ सोचते हुए पूछा—"तो इसमें तुम्हारी क्या सम्मति है?"

भारतेंदु ने कहा—"मेरी सम्मति क्या हो सकती है। उन्होंने

इसका आभास मुझे पहले दे दिया था, और कह दिया था, 'तुम कभी यह विचार न करना कि मेरा पिता किसी विशाल संपत्ति का मालिक है, और वह मुझे मिलेगी। जो संपत्ति मेरे पास है, वह उन ग़रीबों की है, जिन्हें मैंने उनके अधिकारों से वंचित कर लूट लिया है। यह अत्याचार मैंने बहुत दिनों तक किया है, किंतु अब इसके होने का द्वार बंद कर दूँगा। तुम्हें समझना चाहिए, मैं एक ग़रीब बाप का बेटा हूँ, और मेरा बाप भारतवर्ष से मोल लिया हुआ ग़ुलाम है, जो समय के प्रभाव से कुली होकर स्वतंत्र नागरिक हुआ।' इसके आगे उन्होंने कभी मुझे यह आशा नहीं बँधाई, और न मैंने एक दिन भी यह सोचा कि मैं किसी संपत्ति का मालिक हूँ। इससे अगर वह अपनी संपत्ति ग़रीबों या श्रम-जीवियों में समरूपेण वितरण कर देंगे, तो मुझे कुछ कष्ट न होगा, बल्कि इस व्यर्थ के जंजाल से अनायास मुक्ति मिल जाने पर मुझे प्रसन्नता होगी।"

डॉक्टर नीलकंठ आश्चर्य से उनकी ओर देखने लगे। कमरे में निस्तब्धता छा गई।

थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा—"समष्टिवाद के सिद्धांतों की ओर उनका झुकाव पहले से था, और एक दिन इस विषय में उन्होंने अपने विचार भी प्रकट किए थे, किंतु मेरा यह ख़याल था कि यह केवल आजकल के विचारों की एक झलक-मात्र है। वह इतनी जल्दी अपने विचारों को कार्य-रूप में परिणत कर देंगे, यह स्वप्न में भी आशा न थी।"

भारतेंदु ने हँसकर उत्तर दिया—"आप उनके स्वभाव से परिचित नहीं। वह कभी किसी काम को कल के लिये उठा नहीं रखते। विचारों का उठना आरंभ होते ही वह उन्हें कार्य में परिवर्तित करने लगते हैं। जब वह जा रहे थे, इसका आभास मुझे दे

गए थे, और अवकाश मिलने पर आप लोगों पर भी प्रकट कर देने का आदेश दे गए थे।"

डॉक्टर नीलकंठ 'आप लोगों' का अर्थ समझ गए।

उन्होंने व्यग्र कंठ से पूछा—"क्या इसमें तुम्हारी सम्मति है?"

भारतेंदु ने उत्तर दिया—"जी हाँ, मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं उनका विरोध कर सकूँ। यदि विरोध भी करूँ, तो वह मेरी बात कभी न मानेंगे, जो विचार लिया है, उसे अवश्य करेंगे। इसके अतिरिक्त क़ानूनी तौर पर भी मैं उन पर कोई दबाव नहीं डाल सकता, क्योंकि यह सब संपत्ति उन्हीं की उपार्जित है, अतएव वह अपने इच्छानुसार व्यय कर सकते हैं। मैं ख़ुद भी पूँजीपति होना नहीं चाहता, तथा उनके विचारों से मेरा पूर्ण सादृश्य और सहानुभूति है।"

डॉक्टर नीलकंठ पुनः कुछ सोच में पड़ गए।

भारतेंदु कहने लगे—"हम लोग कोई उच्च वंश के नहीं और न संकुचित हिंदू-समाज के अंतर्गत हैं—एक प्रकार से समाज-च्युत हैं। ग़ुलाम बनाकर मेरे पिताजी बेचे गए थे, और उन्होंने एक-एक दाने को तरसकर अपने दिन काटे हैं। मुझे तो इसका गर्व है, अभिमान है, लेकिन किसी अन्य को हो सकता है या नहीं, यह विचारणीय है।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया। वह अपनी उधेड़-बुन में लगे थे।

भारतेंदु फिर कहने लगे—"मैं आज कई दिनों से अथवा यों कहिए, महीनों से सोच रहा था कि कम-से-कम आप पर अपने तथा पिताजी के विचारों को प्रकट कर दूँ, किंतु साहस न होता था। जब सौभाग्य-वश आज वह सुअवसर प्राप्त हो गया, तो साफ़-साफ़ कहना उचित है। मेरे पास सिवा मेरी विद्या अथवा बुद्धि-बल

के दूसरा कोई सहारा नहीं, और न कोई संपत्ति है। मैं पथ का भिखारी पहले था, और इस समय हूँ। अतएव जो कुछ काम किया जाय, उसका अंत सोच लेना वाजिब होगा, जिससे आगे चलकर कोई दुष्परिणाम घटित न हो।"

डॉक्टर नीलकंठ ने भारतेंदु का संकेत समझकर कहा—"यह तुम सत्य कहते हो भारतेंदु। तुम्हारी स्पष्टवादिता से मैं विशेष रूप से प्रसन्न हुआ हूँ। इस विषय में मैं भली भाँति विचारकर तुम्हें उत्तर दूँगा।"

भारतेंदु सिर झुकाकर सामने खुली हुई पुस्तक देखने का बहाना करने लगे। उनके हृदय में एक तूफ़ान उठा हुआ था, जिसे वह छिपाए रखना चाहते थे। उन्हें अब विस्मय हो रहा था कि कैसे उन्होंने ये बातें उनसे कह डालीं। उनमें इतना साहस न था कि वह अपनी दृष्टि उनसे मिला सकते।

डॉक्टर नीलकंठ कहने लगे—"ख़ैर, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। तुमने मुझे सावधान कर दिया, और सूचित भी कर दिया, इसके लिये मैं तुम्हारा विशेष रूप से आभारी हूँ। मैं पंडित मनमोहननाथ से इस विषय में कुछ बातें करना चाहता हूँ, और एक बार प्रयत्न करना चाहता हूँ कि वह तुम्हें पथ का भिखारी न बनावें। उनके पास करोड़ों की संपत्ति है, तब उसमें से कई लाख तुम्हारे लिये निकाल देने से उनकी कोई विशेष क्षति न होगी, और न किसी भाँति की रुकावट ही पड़ेगी।"

भारतेंदु ने उत्तर दिया—"मुझे तो कोई आशा नहीं कि वह किसी प्रकार का समझौता करेंगे। इसका 'नोटिस' तो वह एक प्रकार से मुझे दे गए हैं, और बातचीत होने पर शायद यही उत्तर देंगे।"

भारतेंदु उठकर जाने लगे, और बोले—"माफ़ कीजिएगा, आपके लिये कुछ फल ले आऊँ।"

डॉक्टर नीलकंठ ने मलिन हँसी के साथ कहा—"इस सरदी में फल खाने की इच्छा नहीं होती। तकल्लुफ़ की कोई ज़रूरत नहीं।"

उनके स्वर में वेदना की गहरी छाप और व्यंग्य की कर्कशता थी।

भारतेंदु लज्जित होकर बैठ गए।

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"सत्य है, संसार के बड़े आदमी कुछ सनकी तबियत के हुआ करते हैं।"

भारतेंदु ने कुछ उत्तर नहीं दिया, और सहज भाव से मुस्किरा दिया।

डॉक्टर नीलकंठ कहने लगे—"पंडितजी को मैं एक अद्भुत क्षमता-शील व्यक्ति मानता हूँ, और उसी प्रकार उनकी इज़्ज़त करता हूँ। किन्हीं विशेष कारणों अथवा समय के प्रभाव से ऐसे महान् व्यक्ति प्रकट होते हैं, लेकिन उनमें भी कुछ-न-कुछ हीनता अवश्य होती है।"

भारतेंदु ने हँसकर कहा—"इसी हीनता के कारण वे मनुष्य कहलाते हैं।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कुछ ध्यान नहीं दिया, वह कहते ही रहे—"क्या उन्हें मालूम नहीं कि यह संसार अभी तक साम्यवाद के सिद्धांतों को ग्रहण करने के लिये तैयार नहीं। यदि साम्यवाद कहीं स्थापित हो सकता है, तो वह एक देश में और एक शासक शक्ति से। रूस में वह ख़ून की नींव पर स्थापित हुआ, और तलवार के बल पर जीवित है। समत्व तो योग का सिद्धांत है, वेदांत की अंतिम सीढ़ी है। मनुष्य-हृदय में यह भाव बड़ी उग्र तपस्या, यम, नियम के पालन के पश्चात् उदय होता है। जो इतने परिश्रम के बाद मिलता है, क्या वह एक तुच्छ प्रयत्न से इतनी जल्दी प्राप्त हो जायगा? मेरे विचार में तो नहीं आता। यह अवश्य सत्य है कि इस

विफलता का दृश्य सर्वस्व स्वाहा कर देने के पश्चात् देखने को मिलेगा। मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है। साम्यवाद के लिये ज़रूरी है कि वह इस स्वार्थी तत्त्व का नाश करे। किंतु जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह तत्त्व मनुष्य नाम के साथ निहित है, अतएव इसका नाश नहीं। जब तक इसका नाश नहीं, तब तक साम्यवाद का स्थायी रूप हमें प्राप्त नहीं हो सकता।"

भारतेंदु ने कोई उत्तर नहीं दिया।

डॉक्टर नीलकंठ कहने लगे—"इस विषय में पंडितजी से बात-चीत करूँगा। क्या यह मुझे बता सकते हो कि वह कब तक फ़िजी में ठहरेंगे?"

भारतेंदु ने कुछ सोचते हुए कहा—"मैं ठीक नहीं कह सकता। उनका दूसरा पत्र आने पर ही प्रकट होगा।"

डॉक्टर नीलकंठ ने कहा—"मैं उनसे मिलने के लिये फ़िजी जाऊँगा। आजकल वहाँ ग्रीष्म-ऋतु का सुहावना समय होगा। कल ही मैं छुट्टी के लिये प्रार्थना-पत्र दूँगा। कई सालों से एक दिन की छुट्टी नहीं ली, अब एक साथ लूँगा।"

भारतेंदु ने कहा—"अच्छा तो है। मेरी भी पुस्तक उस वक्त तक तैयार हो जायगी, फिर मैं भी साथ चलकर आपको दक्षिणी भू-भाग दिखा सकूँगा।"

डॉक्टर नीलकंठ ने उठते हुए कहा—"अच्छा, मैं अब जाता हूँ।"

भारतेंदु ने बैठने के लिये बहुत कुछ आग्रह किया, किंतु वह चले गए, और साथ में एक भार भी लेते गए।